ISSN : 2321-6581
जुलाई - दिसम्बर - 2019
वर्ष : VII, अङ्क - II
कुल अङ्क - XIII

शोध नवनीत
SHODH NAVNEET

(षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध–पत्रिका)

The Half Yearly International Peer-Reviewed Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी, नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन

"Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge"

Impact Factor : 3.082
Reg. No. 1137/2013-2014

स्तुति प्राच्यविद्या समिति, गोण्डा (उ.प्र.)
STUTI PRACHYAVIDYA SAMITI, GONDA (U.P.)
अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com
अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com
चलभाष (contact us) : +91-7800193920

जुलाई - दिसम्बर - 2019 ISSN : 2321-6581

वर्ष : VII, अङ्क - II, कुल अङ्क - XIII

Impact Factor : 3.082

शोध नवनीत

SHODH NAVNEET

(षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका)

The Half Yearly International Peer-Reviewed (Refereed) Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी, नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन

Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge.

प्रधान सम्पादक :

डॉ. अवधेश प्रताप सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादक :

डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस-बस्ती (उ.प्र.)

डॉ. आशुतोष पारीख

असिस्टेंट प्रोफेसर, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय अजमेर, राजस्थान

सह-सम्पादक :

डॉ. सुनील कुमार शर्मा

सहायक आचार्य (सं. अ.), शिक्षाशास्त्र विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), भोपाल परिसर, भोपाल (म.प्र.)

स्तुति प्राच्यविद्या समिति

51- जबर नगर, पो. परास,

जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - **271403**

अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com

अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com

चलभाष (contact us) : +91-7800193920

- **प्रबन्ध सम्पादक**
  डॉ. अनुराधा शुक्ला
  पूर्व-शोधार्थी, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **विधिक सलाहकार**
  श्री सतीश कुमार मिश्र
  एडवोकेट, चैम्बर नम्बर 18 ए, हाईकोर्ट, प्रयागराज - 211 002
- **शोध नवनीत** (प्रथम संस्करण 2013)
- **Shodh Navneet (International Refereed Research Journal)**
- **ISSN : 2321-6581**
- **Impact Factor : 3.082**
- **वर्ष : VII, अङ्क : II, कुल अङ्क : XIII, - जुलाई - दिसम्बर 2019**

© प्रकाशक द्वारा सभी अधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक
  स्तुति प्राच्यविद्या समिति (Reg. No. - 1137/2013-14)
  म० सं० 51, जबर नगर, पो० परास
  जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - 271403
- सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920
- अणु-सङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**
- बेबसाइट : **www.shodhnavneet.com**
- सहयोग राशि (Subscription) :

व्यक्तिगत (Individual)	:	प्रति अङ्क **₹ 800,** वार्षिक **₹ 1500,** पञ्च वार्षिक **₹ 6000**
संस्थागत (Institution)	:	प्रति अङ्क **₹ 800,** वार्षिक **₹ 1500,** पञ्च वार्षिक **₹ 6500**
विदेशी (Foreign)	:	Annual **₹ 2000, Five Year ₹ 12,000**

Soft Copy : Free by E-mail or Free Download from- www.shodhnavneet.com

- **D.D. 'Stuti Prachyavidya Samiti' Payable at 'Gonda'** के पक्ष में होना चाहिए।
- मुद्रित :
  प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स
  30/21, यूनिवर्सिटी रोड, प्रयागराज - 211 002

नोट : शोधपत्र/शोधलेख के प्रति सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसके आलेखकों का होगा तथा लेखकों के मत से सम्पादक, सम्पादक मण्डल आदि का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति आदि द्वारा चयनित शोधपत्रों को नि:शुल्क प्रकाशित किया जाएगा। शोध नवनीत से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद होगा।

मुख्य संरक्षक (Chief Patrons)

- **प्रो. परमेश्वर नारायाण शास्त्री**
  कुलपति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली
- **प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय**
  कुलपति, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- **प्रो. के. रविशङ्कर मेनोन**
  पूर्व-कुलसचिव एवं संकायप्रमुख शिक्षाविभाग, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मा. वि.), तिरुपति (आ.प्र.)
- **प्रो. चाँद किरण शलूजा**
  निदेशक, संस्कृत संवर्धन प्रतिष्ठानम्, नई दिल्ली
- **प्रो. हरेकृष्ण शतपथी**
  कुलपति, किश विश्वविद्यालय भुवनेश्वर, ओडीसा
- **प्रो. राम किशोर शास्त्री**
  पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. सत्यप्रकाश दुबे**
  आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर, राजस्थान

सम्पादक मण्डल (Editorial Board)

- **प्रो. राम सेवक दुबे**
  संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **प्रो. उमेश प्रसाद सिंह**
  संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **डॉ. रंजन त्रिपाठी**
  एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विजय कुमार शर्मा**
  सामवेद प्राध्यापक, श्री पट्टाभिराम शास्त्री वेद मीमांसा अनुसन्धान केन्द्र, वाराणसी
- **डॉ. आशीष सक्सेना**
  एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
- **डॉ. सत्यपाल तिवारी**
  एसो. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, एच०एन०बी०पी०जी० कॉलेज, लालगंज, प्रतापगढ़
- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. अमित कुमार मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ एडवरटाइजिंग मैनेजमेंट, सच्चिदानंद सिन्हा महाविद्यालय (मगध विश्वविद्यालय), औरंगाबाद, बिहार
- **श्री आदित्य प्रताप सिंह**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, शारीरिक शिक्षा विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)
- **डॉ. राजीव रंजन**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विवेक शर्मा**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश
- **डॉ. विशाल श्रीवास्तव**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)

- **डॉ. रजनीश शर्मा**
  प्राचार्य, कंचन देवी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय एवं कंचन देवी कॉलेज ऑफ कम्प्यूटर साइंस भीलवाड़ा, राजस्थान
- **डॉ. आशुतोष पारीक**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, सम्राट् पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय अजमेर, राजस्थान
- **डॉ. परमेश कुमार शर्मा**
  सहायक आचार्य–शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली
- **डॉ. बि. कामाक्षी**
  सहायक आचार्या–साहित्य विभाग, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली

समीक्षक समिति / निर्णायक मण्डल
(Review Committee/Referees Board)

- **प्रो. पी. के. साहू**
  शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. सुदेश कुमार शर्मा**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), क. जे. सोमैया संस्कृत विद्यापीठम्, मुम्बई परिसर, मुम्बई
- **प्रो. ई. एम. राजन**
  विभागाध्यक्ष–साहित्य विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), के. जे. सोमैया संस्कृत विद्यापीठम्, मुम्बई
- **प्रो. रमाकान्त पाण्डेय**
  निदेशक, मुक्तस्वाध्यायपीठ, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नई दिल्ली
- **प्रो. सुशील कुमार शर्मा**
  अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. उमाकान्त यादव**
  संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. धनञ्जय यादव**
  शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. आमोदवर्धन कौण्डिन्यायन**
  वेद विभाग, वाल्मीकि विद्यापीठ, काठमाण्डू, नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. पी. के. मिश्र**
  एसो. प्रोफेसर, कोर्डीनेटर ऑफ सेन्टर (COG), सेन्टर फॉर अर्थशास्त्र अध्ययन स्कूल ऑफ एवं सामाजिक विज्ञान, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पंजाब
- **डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी**
  एसो. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, देश बन्धु डिग्री कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. प्रदीप कुमार दीक्षित**
  एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभागाध्यक्ष, अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर, कानपुर देहात (उ.प्र.)
- **डॉ. अमूल्य कुमार सिंह**
  एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, का. सु. साकेत महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)
- **डॉ. राघवेन्द्र मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, जन संचार विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम
- **डॉ. अनुपम पाण्डेय**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

- **डॉ. उमाकान्त प्रसाद**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल
- **श्री सुजीत कुमार**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, कर्मक्षेत्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इटावा (उ.प्र.)

परामर्शदात्री समिति (Advisory Committee)

- **डॉ. जी. गङ्गाधरन नायर**
  पूर्व डीन एवं प्रोफेसर, संस्कृत व्याकरण विभाग, श्री शङ्कराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी केरल
- **प्रो. ए. पी. सच्चिदानन्द**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), राजीव गाँधी परिसर शृङ्गेरी , कर्नाटक
- **सी. एच. एल. एन. शर्मा**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), गुरुवायूर परिसर त्रिश्शूर, केरल
- **प्रो. एम. चन्द्रशेखर**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), भोपाल परिसर, भोपाल (म. प्र.)
- **प्रो. लक्ष्मीनिवास पाण्डेय**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), वेदव्यास परिसर बलहार, हिमाचल प्रदेश
- **प्रो. सुकान्त सेनापति**
  परीक्षा नियन्त्रक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. भगीरथ नन्दा**
  सङ्काय प्रमुख साहित्य विभाग, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली
- **प्रो. के. भारत भूषण**
  सङ्काय प्रमुख शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली
- **प्रो. मनोज मिश्र**
  विभागाध्यक्ष, वेद विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. सुरेश चन्द्र दुबे**
  अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **श्रीमती प्रियंवदा काफ्ले**
  एसो. प्रोफेसर, इतिहास पुराण विभाग (वाल्मीकि विद्यापीठ), नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. विजय शङ्कर द्विवेदी**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. शिव कुमार मिश्र**
  प्रवक्ता संस्कृत, देव विद्यालय इण्टर कॉलेज तरौली, अयोध्या (उ.प्र.)

नोट : शोधपत्र/शोधलेख का प्रकृति के अनुसार सम्पादक मण्डल एवं समीक्षक समिति में अन्य विषय विशेषज्ञों का सहयोग लिया जा सकता है। शोधपत्र दो या दो से अधिक विशेषज्ञों की समीक्षा के अनन्तर ही प्रकाशित किया जाएगा।

प्रो. के. रविशंकर मेनोन्
पूर्व-कुलसचिव एवं
शिक्षासंकाय प्रमुख

राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, (मा.वि.)
तिरुपति, (आ. प्र.)
अणु-सङ्केत : menon.ravisankar@gmail.com

शुभकामना संन्देश

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि स्तुति प्राच्यविद्या समिति गोण्डा (उ. प्र.) द्वारा **शोध नवनीत** (ISSN: 2321-6581) अन्ताराष्ट्रिया शोधपत्रिका का विगत कई वर्षों से निरन्तर प्रकाशन किया जा रहा है। वर्तमान में शोध की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शोध नवनीत पत्रिका प्राच्यज्ञान एवं मानविकी विषयों पर आधारित शोधकार्य में संलग्न है। एतदर्थ इस पत्रिका के समस्त सदस्यों (सम्पादक, सम्पादकमण्डल, समीक्षक समिति आदि) को शुभाषीश देते हुए पत्रिका निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त हो ऐसी कामना करता हूँ।

प्रो. (के. रविशंकर मेनोन्)
पूर्वकुलसचिव एवं शिक्षासंकाय प्रमुख

सम्पादकीय (Editorial)

भारत का प्राचीन साहित्य सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शक रहा है, यहाँ विश्व के अनेक देशों से लोग आकर ज्ञान प्राप्त करते। विश्वगुरु की महिमा से मड़ित भारत आज भी शोध क्षेत्र में दिनों–दिन उन्नति कर रहा है। चाहे वह शोध विज्ञान के क्षेत्र में हो या फिर प्राच्यज्ञान (संस्कृत आदि) के क्षेत्र में या फिर अन्य क्षेत्र में जिनके फलस्वरूप नवीन ज्ञान की संकल्पना हो रही है। भारत में ऐसी बहुत सी संस्थाएं हैं जिसमें सरकारी और गैर सरकारी संस्थाएं सम्मिलित होती हैं, जो कि शोध के क्षेत्र में सतत् प्रयासरत हैं। जिनमें से स्तुति प्राच्यविद्या समिति प्राच्य ज्ञान और मानविकी विषयों पर शोध क्षेत्र में निरन्तर अपना योगदान दे रही है।

'शोध नवनीत' अन्ताराष्ट्रिया षाण्मासिका शोधपत्रिका का यह 13 वाँ अंक (जुलाई–दिसम्बर 2019) है। इसमें संस्कृत एवं मानविकी के शोधपत्र संकलित हैं। इस अङ्क में गवेषकों के श्रमसाध्य लेखों का संयोजन है। अत: स्तुति प्राच्यविद्या समिति सभी गवेषकों का साधुवाद देती है। यह नूतन शोधलेख पाठकों और हमारी संस्था को पल्लवित करेंगे एवं इसी क्रम में पत्रिका के समस्त सदस्यों एवं पदाकारियों का आभार प्रकट करता हूँ कि वे पत्रिका के लिए यथोचित समय–समय पर दिशा निर्देश प्रदान करते रहते हैं।

हम आशा करते हैं कि यह अंक नूतन ज्ञान से युक्त होगा। संस्कृत एवं शिक्षा के क्षेत्र मर्मज्ञ आचार्य प्रो. के रविशंकर मेनोन् महोदय जी जिन्होंने 13वें अंक के लिए शुभकामना सन्देश प्रेषित किया है इसके लिए हम आभार प्रकट करते हैं। हम आशा करते हैं कि 'शोध नवनीत' शोध पत्रिका मार्गदर्शकों, गवेषकों, पाठकों का निरन्तर मार्गदर्शन कर शोध की नई धारा को प्रवाहित करेगी।

।। पठतु संस्कृतम्, जयतु संस्कृतम्, जयतु भारतम्।।

प्रधान सम्पादक/सम्पादक

विषयानुक्रमणिका
(CONTENTS)

- जैमिनीयधर्ममीमांसान्यायदृष्ट्या श्रौताग्निहोत्रस्य समीक्षणम् 1
  प्रमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः
- रोगविनिश्चये कामला – आयुर्वेदोक्तदिशा चिकित्सातत्त्वविमर्शः 12
  श्रीमान् गोपाल आचार्यः
- व्याकरणदर्शने मोक्षवाक्तत्त्वयोः स्वरूपविवेचनम् 19
  पिण्टु राउल
- तत्सम शब्दों के अर्थपरिवर्तन का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन 25
  डॉ. जयदेव
- शांकरवेदान्त एवं रामानुजवेदान्त में जीवनमूल्य 32
  डॉ. अवधेश प्रताप सिंह
- निरुक्त में भाषावैज्ञानिक तत्त्व : एक अध्ययन 38
  डॉ. डॉली जैन
- मातृभाषा शिक्षा का माध्यम है 45
  डॉ. पूनम गुप्ता
- संस्कृतभाषा के वर्तमान शिक्षण में श्रवण और भाषण कौशलों की दशा एवं दिशा 48
  डॉ. आशुतोष पारीक
- जैनमत में नय प्रमाणत्व विचार 55
  प्रीति यादव
- संस्कृतस्य परिरक्षणाय परिशोधनाय च संस्कृत-अकादम्याः योगदानम् 60
  डॉ. एस.टी.पी. कनकवल्ली
- न्यायनये प्रयोजनपदार्थस्य तात्पर्यम् 64
  पौषाली मण्डल

- **मिश्रोऽभिराजराजेन्द्र : प्रणीत 'चित्रपर्णी' कथा-संग्रहे जीवनमूल्यानि** 68
  डॉ. शोभा भारद्वाज
- **हेत्वाभासभेदप्रदर्शनम्** 76
  सुरजित् मण्डलः
- **कविचन्द्रभुवनेश्वररथशर्मणः संस्कृतसाहित्यं प्रति योगदानम्** 82
  वीणापाणि दास
- **महाभारते सांख्यदर्शनस्य प्रभावः** 87
  पार्थः कर्मकारः
- **भागवते स्मरणभक्त्या जीवस्य मुक्तेः अवधाारणा** 92
  तरणीकुमारपण्डा
- **भागवत महापुराण में लीलानायक भगवान् श्रीकृष्ण** 101
  डॉ. विवेक शर्मा
- **काव्यप्रकाश में प्रस्तुत 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्ववलीयस्त्वम्' की समीक्षा** 107
  डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र
- **नागार्जुन के स्त्री पात्रों का समकालीन परिवेश और यथार्थ** 111
  डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल
- **महिला सशक्तीकरण और महिला उपन्यासकार** 117
  मनीषा पाण्डेय
- **आदिवासी साहित्य का अनहद नाद : महादेव टोप्पो की कविता** 123
  श्रीलेखा के. एन.
- **मीराबाई की स्त्री चेतना** 128
  सलिल तिवारी
- **भारतीय संकल्पना में मनोविज्ञान** 133
  अनुराधा
- **बौद्ध धर्म में मानवीय मूल्य** 138
  डॉ. प्रदीप कुमार दीक्षित

- प्राचीन भारतीय सेना के सहायक सेनांगों का सामरिक उपयोग 143
  डॉ. सुरेन्द्र कुमार पाण्डेय
- वेदों में पर्यावरण की अवधारणा 150
  डॉ. मोना बाला
- पारस्करगृह्यसूत्रोक्त संस्कार-एक विवेचनात्मक अध्ययन 155
  श्री गोविन्द सरकार
- ऐतरेयब्राह्मण में शुनःशेपाख्यान 161
  डॉ. सुमित कुमार
- डिजिटल पैडागॉजी : आधुनिक युग की आवश्यकता 168
  नेहा
- वैदिक-साहित्य में पर्यावरणीय सन्दर्भ का संक्षिप्त अनुशीलन 173
  डॉ. अनुराधा शुक्ला
- **The importance of the Paippalāda recension (Odisha) of the Atharvaveda** 177
  Piyali Biswas
- **Rudra's physician characters as delineated in the Vedic Saṁhitās** 183
  Dr. Maumita Bhattacharjee
- **Relevance of Swami Vivekananda's views in the 21st Century** 189
  Dr. Annapurna Ghosh

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

जैमिनीयधर्ममीमांसान्यायदृष्ट्या श्रौताग्निहोत्रस्य समीक्षणम्

प्रमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः*

निबन्धसारः (Abstract)

वेदोपाङ्गशास्त्रेष्वन्यतमे मीमांसाशास्त्रेऽग्न्याधानाग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यादि-श्रौतयज्ञविधानमधिकृत्य विचारः प्रसरति। श्रौतकर्मविषये मीमांसाशास्त्रदृष्ट्या विश्लेषणात्मको विचारः कृतः प्रायो नोपलभ्यते। श्रौताग्निहोत्रस्य मीमांसान्यायदृष्ट्या विचारणमावश्यकं वर्तते।

मीमांसाशास्त्रे सप्तहविर्यज्ञसंस्थान्तर्गतद्वितीयसंस्थारूपस्याग्निहोत्रस्य सञ्ज्ञा-द्रव्य-देवतादिविविधपक्षाणां विषये सन्दर्भानुसारं विचारं कृत्वा सन्देहापाकरणं कृतमस्ति। विधित्सितगुण-प्रापकस्य शास्त्रान्तरस्य विद्यमानत्वादग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति निर्णयो मीमांसान्यायेन क्रियते। अनुष्ठाने प्रथमं सायमग्निहोत्रहोमः कर्तव्यस्ततः प्रातरग्निहोत्रहोमः कर्तव्यः। कर्मनामत्वे यस्मिन्कस्मिन्वा होमारम्भो भवितुं शक्नोतीति कथनं तु समुचितं नास्ति। अग्निहोत्रपदस्य नामत्वेऽपि वाचनिकेऽनुष्ठानक्रमे कोऽपि प्रभावो न भवति। नित्यकर्मत्वेन विहितमग्निहोत्रम्। अत्राग्निः, सूर्यः, प्रजापतिश्चेति देवता भवन्ति। नानावेदशाखाध्यायिनां मतभेदेन उदितानुदितसमयाध्युषितहोमो भवति। गार्हत्यादाहवनीयाग्नेरुद्धरणे कृते यजमानेन सन्ध्योपासनं कार्यम्। अत्र क्रमकोपो न भवति। इष्ट्यन्तरानुष्ठाने प्रक्रान्ते सायंकाले जाते इष्टिमध्येऽप्यग्निहोत्रं स्वकालेऽनुष्ठाय पश्चादिष्टिशेषः समापनीयः। अग्निहोत्रप्रकरणे श्रुतं साप्तदश्यमग्निहोत्रप्रकरणादुत्कृष्यते। मासाग्निहोत्रं प्रकरणान्तरप्रमाणात् कर्मान्तरम्।

अग्निहोत्रस्य विविधानि फलानि शास्त्रादवगम्यन्ते। ब्रह्मज्ञानसाधनत्वमपि नित्याग्निहोत्रस्य पुरुषसंस्कारद्वाराऽऽत्मगुणसम्पादनेन भवतीत्यवगम्यते। अग्निः प्रत्यगात्मरूपेण गृह्यते, अग्निहोत्रस्य द्वे आहुती मनश्च वाक्च स्त इत्यादयः साङ्केतिका विषया वेदे लभ्यन्ते। एतादृशस्याऽऽध्यात्मिकपक्षस्य विचारस्य पद्धतेरपि धर्ममीमांसा-शास्त्रीय-नव्यधारायां समावेशः उचितः। अग्निहोत्राद् मनसि, शरीरे, पर्यावरणे मानवानां सम्बन्धेषु च सुप्रभावो भवतीति वेदवचनेभ्योऽवगम्यते, आधुनिकेनानुसन्धानेन च प्रमाणितमस्ति।

१. प्रस्तावना

वेदोपाङ्गशास्त्रेषु मीमांसाशास्त्रस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। मीमांसाशास्त्रे अग्न्याधानम्, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सोमयागः, आग्रयणम्, कुण्डपायिनामयनम् इत्यादिश्रौतयज्ञविधानमधिकृत्य विचारः प्रसरति। अत एवास्यापरं नामाध्वरमीमांसा इत्यप्यस्ति।

यज्ञशब्दो यजधातोर्निष्पादितोऽस्ति पाणिनिना। यजधातोर्देवपूजादिकास्त्रयोऽर्थाः पाणिनीयधातुपाठेन

* सहप्राध्यापकः (Associate Professor), नेपाल-संस्कृत-विश्वविद्यालयान्तर्गतस्य वाल्मीकिविद्यापीठस्य काठमाण्डुनगरस्थस्य।

सूचिताः सन्ति– *यजदेवपूजा–सङ्गतिकरण–दानेषु*[1] इति। यजधातोः *यज–याच–यत–विच्छ–प्रच्छ–रक्षोनङ्*[2] इति सूत्रेण नङ्प्रत्ययेन यज्ञशब्दोऽन्वाख्यायते। यास्कीयनिरुक्ते यज्ञशब्दविषये *यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः, याच्ञो भवतीति वा, यजुरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः, यजूंष्येनं नयन्तीति वा*[3] इत्युक्तम्। कात्यायनश्रौतसूत्रे देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य त्यागो याग इति प्रतिपादितम्[4]।

यज्ञः श्रौत–स्मार्तभेदेन द्विविधः। शुक्लयजुर्वेदे मन्त्रसंहितायां श्रौतयज्ञानां मन्त्राः क्रमेण पठिताः। ब्राह्मणग्रन्थे श्रौतयज्ञानां फलं, द्रव्यं, देवता इत्यादिकं विधाय स्वरूपं प्रदर्शितम्। इत्थं यजुर्वेदे श्रौतयज्ञानां विस्तृतं विधानमस्ति।

श्रौतसूत्रेषु ब्राह्मणविहिता यज्ञा एव निरूपिताः सन्ति। मीमांसाशास्त्रेऽपि श्रौतयज्ञ–सम्बद्धसन्दिग्ध–विषयाणां विषये विचारः कृतो वर्तते।

२. श्रौतकर्माणि

गृह्याग्न्याधानं कृत्वा तत्र कर्तव्यानां नित्यपाकयज्ञानामनुष्ठानं कृतवद्भिस्त्रैवर्णिकैः श्रौताग्न्याधानं कर्तव्यं भवति। स्वशाखावेद–वेदाङ्गादिशास्त्राणां यथाविध्यध्ययनं कृतवन्तो वृत्त्यर्थमक्लिश्यन्तः समृद्धा द्विजाः श्रौताग्न्याधानेऽधिकारिणो भवन्ति। गौतमधर्मसूत्रे श्रौतस्मार्तकर्मणां सप्त पाकयज्ञसंस्थाः, सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः, सप्त सोमसंस्था इति विभागः कृतो वर्तते। तत्र हविर्यज्ञसंस्थात्वेन[5] प्रसिद्धानि कर्माणीमानि सन्ति–

१. अग्न्याधानम्	२. अग्निहोत्रम्
३. दर्शपूर्णमासयागः	४. आग्रयणम्
५. चातुर्मास्ययागः	६. निरूढपशुबन्धः
७. सौत्रामणी चेति।	

३. अग्निहोत्रम्

श्रौताग्न्याधानं कृतवता जनेन यथाविधि सायम्प्रातः कर्तव्यो होमविशेषोऽग्निहोत्रमित्युच्यते[6]। हविर्यज्ञसंस्थासु मध्येऽग्निहोत्रं द्वितीया संस्था वर्तते।

३.१ अग्निहोत्रशब्दव्युत्पत्तिः

पाणिनीयव्याकरणपरिशिष्टस्योणादिसूत्रस्य *हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन्*[7] इति सूत्रेण हुधातोस्त्रन्प्रत्ययेन होत्रशब्दो व्युत्पाद्यते–हूयत इति होत्रम्। शाबरभाष्ये *यस्मिन्नग्नये होत्रं होमो भवति तदग्निहोत्रम्* इत्युक्त्वा बहुव्रीह्याश्रयेण अग्निहोत्रशब्दव्युत्पत्तिः प्रदर्शिता प्राप्यते[8]। नव्यैस्तु *अग्निहोत्रं जुहोति*[9] इत्यादौ अग्निहोत्रशब्दोऽन्तोदात्तः श्रूयते, अन्तोदात्तत्वं च तत्पुरुषसमास एव सङ्गच्छत इत्युक्त्वा तत्पुरुष–समासाश्रयेणाग्निहोत्रशब्दव्युत्पत्तिः प्रदर्शिता–*अग्नये होत्रमग्निहोत्रमिति*।[10]

३.२ अग्निहोत्रशब्दस्य यागनामता

अग्निहोत्रशब्दस्य नामधेयत्वं सिद्धं भवति। विधित्सितगुणप्रापकस्य शास्त्रान्तरस्य विद्यमानत्वादग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयं भवति[11]। अस्य गुणविधित्वं तु स्वीकर्तुमशक्यम्। यदि *अग्नौ होत्रमस्मिन् इति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयस्तदा यदाहवनीये जुहोति*[12] इत्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात् तद्विधानानर्थक्यम्। *अग्नयेहोत्रम्* इति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपो गुणोऽनेन विधीयत इति वक्तुमपि न शक्यते, तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्। अग्निदेवताप्रापकशास्त्रान्तरविषये मतभेदो वर्तते। *यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति*[13] इति

तच्छास्त्रान्तरमिति न्यायसुधाकारभट्टसोमेश्वरमतम्। शास्त्रदीपिकाकारपार्थसारथिमिश्रस्य तु *अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा*[१४] इति मन्त्रवर्ण एवाग्निरूपदेवताप्रापक इति मतम्। अग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्[१५] प्रजापतिदेवतया बाधः स्यादिति शङ्कायामुच्यते- *यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति* इत्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चित-प्रजापतेर्विधानम्। एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात्। अत्र समुच्चितोभयविधानं तु न, समुच्चितोभयविधानापेक्षयान्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चित-प्रजापतिविधाने लाघवात्[१६]। सूत्रकारेण जैमिनिमुनिना *तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्* इति सूत्रेण एतादृशानां शब्दानां नामधेयत्वं सिद्धान्तितम्[१७]।

अग्निहोत्रानुष्ठाने प्रथमं सायमग्निहोत्रहोमः कर्तव्यस्ततः प्रातरग्निहोत्रहोमः कर्तव्य इति विधिर्वर्तते। मीमांसकमते अग्निहोत्रमिति कर्मनाम वर्तते, तेषां मते यस्मिन्कस्मिन्वा होमारम्भो भवितुं शक्नोतीत्यापस्तम्बश्रौतसूत्रस्य भाष्यकारस्य धूर्तस्वामिनः कथनं प्राप्यते[१८]। किन्तु मीमांसाशास्त्रे कृतेनाग्निहोत्रपदस्य नामत्वस्य निर्णयेनानुष्ठानक्रमस्य निर्धारणं न, क्रमस्य वाचनिकत्वात्। अतोऽत्र मीमांसकानां कल्पसूत्रकारैर्मतभेदोऽस्तीति न वक्तव्यम्। मीमांसाशास्त्रेऽग्निहोत्रक्रमविचारस्यापि समावेशस्याऽऽवश्यकताऽनेन प्रकटीभूतेति मन्तुं शक्यते।

३.३ नित्यकर्मत्वम्

जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रशाबरभाष्ये *यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति इति वचनं समुद्धृतं प्राप्यते*[१९]। अनेनाग्निहोत्रस्य नित्यकर्मत्वमवगतं भवति। अग्निहोत्रशब्दवाच्यं प्रधानं कर्म। तस्य च स्ववाक्यगत-जीवननिमित्तेनान्वयात् सति जीवने प्रधानं कर्म त्यक्तुमशक्यम्। ततो वाक्यान्तरोपात्तेष्वङ्गेष्वशक्यं किञ्चिदङ्गं परित्यज्यापि शक्यैरङ्गैरुपेतं प्रधानं कर्मानुष्ठेयम्[२०]। वेदोक्तेन देवऋणसिद्धान्तेन समर्थस्य द्विजस्य कृते सोमयागानुष्ठानस्याप्यनिवार्यता गम्यत इति धर्ममीमांसासूत्रकारेण सिद्धान्तितम्- *ब्राह्मणस्य तु सोम- विद्या-प्रजमृणवाक्येन संयोगात्*[२१] इति। अत्र सोमस्योल्लेखेन नित्येष्वग्निहोत्रादिषु श्रौतकर्मसु सोमस्य मुख्यता जैमिनिमुनिना सूचिता न तु सोमस्यैव नित्यता नाग्निहोत्रादीनामिति जैमिनिमुनेराशयोऽस्तीति मदीयो विचारो वर्तते। एतेनाग्निहोत्रादीनां तु स्वत एवानिवार्यता प्रमाणीकृता। नित्यत्वमपि सामर्थ्यापेक्षमेवेति मीमांसासिद्धान्तोऽत्रापि प्रयुक्तो भवति। धनसत्त्व एव तस्य विभागः सम्भवति। व्यक्तेः पार्श्वे स्थितस्य धनस्य यज्ञद्वारा समाजे वितरणं कार्यमिति सिद्धान्तो वर्तते[२२]। अग्निहोत्रादि-नित्यकर्मणो यावच्छक्त्यनुष्ठानं कर्तुं शक्यत इति हेतोः कदाचित् सामर्थ्याभावादङ्गवैकल्यं भवति तर्ह्यप्यनुष्ठानं कार्यम्। अग्निहोत्रं यावज्जीवं कार्यमित्यन्यैर्बहुभिरुक्तम्। तत्र विरामपक्षः समाविष्टो नास्ति। *एतद् वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्, जरया ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा*[२३] इति वेदवचनानुसारं यावज्जीवपक्षस्य जरया विराम इत्यनेन पक्षेण विकल्पो भवतीति सिद्धं भवति।

३.४ अग्निहोत्राधिकारः

श्रौतकर्मसु त्रैवर्णिकानामधिकारः श्रौतसूत्रे प्रतिपादितो वर्तते[२४]। एतस्मिन्विषये मीमांसाशास्त्रेऽपि विचारः कृतः[२५]। श्रौताग्न्याधानं कृतवद्भिस्त्रैवर्णिकैरेव नियमेनाग्निहोत्रमनुष्ठेयं भवति। सपत्नीकस्यैवाग्निहोत्रादावधिकारो भवति[२६]। एष सिद्धान्तो वैदिकस्य गृहस्थधर्मस्य नितरामनुकूलो वर्तते।

३.५ अग्निहोत्रस्य रूपम्

मीमांसाशास्त्रानुसारं यागस्य रूपद्वयं भवति-द्रव्यं देवता चेति। यद्यपि *अग्निहोत्रं जुहोति* इत्यत्र रूपोपलब्धिर्नास्ति, तथाप्यस्यैवोत्पत्तिविधित्वं स्वीक्रियते[२७]। अग्निहोत्रस्य द्रव्यदेवतयोरुपलब्धिस्तु

वाक्यान्तरेषु भवति।

३.५.१ द्रव्यम्

अग्निहोत्रे पयो मुख्यं द्रव्यं क्रत्वङ्गतयाऽऽम्नातम्। इतराणि च यवागू-तण्डुल-दधि-घृतरूपाणि काम्यानि द्रव्याणि श्रौतसूत्रे विहितानि-*पयसा स्वर्गकामः पशुकामो वा, यवाग्वा ग्रामकामः, तण्डुलैर्बलकामः, दध्नेन्द्रियकामः, अनधिश्रयणं च श्रुतिसामर्थ्यात्, घृतेन तेजस्कामः, संवत्सरं जुहुयादेतेषामेकैकेन कामसंयोगे, सायंप्रातर्वा इति।*[२८]

मीमांसाशास्त्रे *दध्ना जुहोतीत्यत्र पयसा जुहोतीत्यत्र* च कर्मान्तरविधानं निराकृत्यैतेषां गुणविधित्वं निर्णीतम्[२९]। *दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्*[३०] इत्यत्रापि दधीन्द्रियफलाय कर्मान्तरं न कल्पयति[३१]। आर्थक्रमनिरूपणप्रसङ्गे भाष्यकारेण शबरस्वामिना *अग्निहोत्रं जुहोतीति पूर्वमाम्नातम्, ओदनं पचतीति पश्चात्, असम्भवात् पूर्वमोदनः पक्तव्यः इत्युक्तम्*[३२]। अत्र पयोदध्यादीनां सर्वेषां हविषामुत्पन्नशिष्टतया समबलत्वादेकैकेन द्रव्येणाग्निहोत्रनिष्पत्तेश्च व्रीहियववद् विकल्पो भवति।[३३]

३.५.२ हविःश्रपणे नियमः

अग्निहोत्रहविषो गार्हपत्ये श्रपणं विहितमस्ति। यदा चाऽऽहवनीयो गार्हपत्यतां प्राप्नोति तदा हविषः कुत्र श्रपणमिति सन्देहो भवति। शालामुखीयोऽग्निः पूर्वमाहवनीयोऽपि सोमे गार्हपत्यतां प्राप्नोति[३४]। अग्निहोत्रहविषो न शालामुखीये श्रपणम्, तस्य गौणगार्हपत्यत्वात्, मुख्यगार्हपत्ये प्राजहित एव श्रपणं कार्यम्, मुख्यत्वादेवेति निर्णयो भवति।[३५]

३.५.३ देवता

अग्निहोत्रेऽग्निर्मुख्या देवता, प्रजापतिरङ्गदेवता स्विष्टकृत्स्थानीया सायङ्काले, प्रातःकाले तु सूर्यो मुख्या देवता, प्रजापतिरङ्गदेवता।[३६]

३.६ अनुष्ठानक्रमः

अग्निहोत्रानुष्ठाने प्रथमं सायमग्निहोत्रहोमः कर्तव्यस्ततः प्रातरग्निहोत्रहोमः कर्तव्य इति विधिर्वर्तते। अग्निहोत्रे सर्वप्रथमं गार्हपत्याग्नित आहवनीयाग्नेरुद्धरणं क्रियते। उदितहोमिभिरनुदितहोमिभिश्च प्रतिदिनं सूर्यस्योदयादस्तमयाच्च पूर्वमेवाग्न्युद्धरणं कार्यम्।[३७]

३.६.१ उदितानुदितहोमपक्षः

वेदशाखाध्यायिनां मतभेदेन उदितानुदितसमयाध्युषितहोमो भवति। तथा चोक्तं मनुस्मृतौ-*उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः*[३८] इति। वैदिकेषु *बह्वृचाश्छन्दोगाः कातीयाश्च अनुदितहोमिनः, कठास्तैत्तिरीया मैत्रायणीयाश्चोदितहोमिन* इति चिन्नस्वामिशास्त्रिमहोदयेनोक्तम्[३९]। एतादृश्येव व्यवस्थाऽन्यैरपि प्रतिपादिता[४०]। वस्तुतो बह्वृचेषु छन्दोगेषु चापि शाखासम्प्रदायभेदेन केचन उदितहोमिनः केचनानुदितहोमिन इति व्यवस्था भवितुं शक्नोति। यतो हि बह्वृचब्राह्मणेषु मध्ये शाकलचरणान्तर्गत ऐतरेयिब्राह्मणेऽपि तैत्तिरीयब्राह्मण[४१] इव *उदिते होतव्यम्*[४२] इति श्रूयते।

३.६.२ पदार्थक्रमः

अग्निहोत्रेऽग्न्युद्धरणादनन्तरम् अग्निपरिस्तरणम् (अग्निं परितः कुशैः स्तरणम्) कार्यं भवति। ततश्च पर्युक्षणम्, गोदोहनम्, पयःश्रपणम्, उद्वासनम् इति कर्माणि क्रियन्ते। तदनन्तरं स्रुक्स्रुवप्रतपनमार्जने, पय-उन्नयनम् (उपरिधारणम्), आहवनीयाग्नौ समिदाधानम्, पयोहोमः, स्रुक्पयःप्राशनम्, निर्लेहनम्, उत्सेचनम्,

निषेचनम्, स्रुक्स्रुवप्रतपनम्, समिदाधानम्, पर्युक्षणमिति कर्माणि भवन्ति।[४३]

३.६.२.१ अग्न्युद्धरणम्

अग्न्युद्धरणप्रैषप्रदानानन्तरमनस्तमिते गार्हत्यादाहवनीयाग्नेरुद्धरणं कार्यम्[४४]। अस्मिन्नवसरे यजमानेन सन्ध्योपासनं कार्यम्। यथा श्रुत्युक्ता अनुष्ठेयाः पदार्था भवन्ति तथैव स्मृत्युक्ता अपि अनुष्ठेयाः पदार्था भवन्ति। क्रमस्त्वनुष्ठेयपदार्थस्य धर्मविशेषोऽस्ति। धर्मः पदार्थमुपजीवति। पदार्थस्तूपजीव्योऽस्ति। उपजीव्यपदार्थविरोधादुपजीवकस्य क्रमस्य बाधो युक्तो भवति। अतोऽग्निहोत्रेऽग्न्युद्धरणानन्तरं यजमानेन सन्ध्योपासनं कार्यमिति स्मृत्या श्रुत्युक्ताग्निहोत्रान्तर्गतपदार्थक्रमकोपो न भवतीत्यवगम्यते।[४५]

३.६.२.२ अवदाननियमः

स्थाल्याः सकाशाच्चतुरः स्रुवान् स्रुच्युन्नयेदिति नियमः कात्यायनश्रौतसूत्रे वर्तते[४६]। एष चतुरवत्तिनां नियमः। पञ्चावत्तिनां तु पञ्च स्रुवा उन्नेयाः। ततः स्रुवः पयःस्थाल्यामेव निधीयते। अस्मिन्विषये *स्रुवेण स्रुचि स्रुवचतुष्टयपरिमितं पयो गृह्णीयात्, यजमानस्य पञ्चप्रवरकत्वे तु स्रुवपञ्चकपरिमितं हविर्द्रव्यं स्रुच्यवधेयम्*[४७] इति कथनमवदाननिर्धारणे यजमानप्रवरसयाया अप्रयोजकत्वादसङ्गतं दृश्यते।

३.७ मासाग्निहोत्रम्

कुण्डपायिनामयने *उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वति*[४८] इति विहितमग्निहोत्रं मासाग्निहोत्रम्। तच्च प्रकरणभेदात् कर्मान्तरमिति मीमांसाशास्त्रे निर्णीतम्[४९]। मासाग्निहोत्रेऽग्निहोत्रनाम्ना धर्मातिदेशस्तु भवत्येव। तदुक्तं जैमिनिमुनिना– *उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात्*[५०] इति।

३.८ उत्कर्षानुत्कर्षविचारः

मीमांसाशास्त्रे श्रौतयज्ञानुष्ठानसम्बद्धविविधविषयविचारप्रसङ्ग उत्कर्षानुत्कर्षविचारोऽपि विहितः। तत्राग्निहोत्रविषयेऽप्ययं विचारः कृतः समुपलभ्यते।

३.८.१ अग्निहोत्रस्योत्कर्षाभावः

इष्ट्यन्तरानुष्ठाने प्रक्रान्ते सायंकालपर्यन्तमसमाप्तायामिष्टावग्निहोत्रस्योत्कर्षस्त्वन्याय्य इति मीमांसाशास्त्रसिद्धान्तः। तदनुसारं चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि सान्तपनेष्टेरनुष्ठाने विलम्बो जायते चेदिष्टिमध्येऽप्यग्निहोत्रं स्वकालेऽनुष्ठाय पश्चादिष्टिशेषः समापनीयः। यतो हि प्रयोगभेदात्सान्तपनेष्टेरग्निहोत्रस्य च मध्ये शास्त्रीयः कोऽपि क्रमो नास्ति।[५१]

३.८.२ अग्निहोत्रप्रकरणपठितार्थविशेषस्योत्कर्षः

अग्निहोत्रप्रकरणे *सप्तदशान्याज्यानि पशुकामस्य गृह्णीयात्*[५२] इति श्रूयते। अयं समस्यवादोऽग्निहोत्रप्रकरणे निरालम्बो भवति। अतस्तत उत्कृष्य दर्शपूर्णमासयोर्निविशत इति मीमांसासङ्कर्षकाण्डे निर्णीतम्।[५३]

३.९ अग्निहोत्रफलविमर्शः

अग्निहोत्रस्यानेकप्रकारकाणि फलानि भवन्ति। अग्निहोत्रविषयकं ज्ञानमपि फलप्रदमित्यवगम्यते। आध्यात्मिकं फलमन्यान्यवान्तरफलानि चाग्निहोत्रस्य शास्त्रेषूक्तानि सन्ति।

३.९.१ ज्ञानफलम्

अग्निहोत्रविषयकं ज्ञानमपि फलप्रदमिति श्रुत्यादिभ्योऽवगम्यते। वैदिकयज्ञविषयकस्य ज्ञानस्य महत्त्वं वेदादिशास्त्रेषु बहुधा प्रतिपादितं लभ्यते। तैत्तिरीयसंहितायां श्रूयते–

य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति यावदग्निष्टोमेनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजते

यावदुक्थ्येनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति य एवं विद्वानमावास्यां यजते यावदतिरात्रेणोपाप्नोति तावदुपाप्नोति[५४] इति।

सायणाचार्य इदं वेदनस्य सर्वत्र स्वतन्त्रफलत्वे लिङ्गमित्युक्त्वा तत्तद्विधिसमीपे य एवं वेद इत्येवंरूपाणि श्रुतिवचनानि वेदनादेव फलं ब्रुवत इत्युक्तवान्[५५]। एतेषां विधेयार्थप्रशंसापरत्वादर्थवादत्वेन महातात्पर्यस्य विधेयविषयत्वेऽप्यवान्तरतात्पर्यस्य स्वार्थविषयत्वानिवारणाद् वेदनफलकथनं नानुपपन्नमिति तदीयं मतम्। अतो वेदनमात्रादपूर्वं विद्यत एवेत्यवगम्यते। *यदि उ वा अविद्वानहुतमेव तै*[५६] इति श्रुत्या च ज्ञानस्य महत्त्वं स्पष्टं भवति। सामवेदिनां छान्दोग्योपनिषद्यज्ञानपूर्वककर्मकरणस्य निन्दा श्रूयते–*स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात्*।[५७] इति। तत्रैव पुनः श्रूयते–*अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं* भवति।[५८] इति। अत्र श्रुतया ज्ञानिनः प्रशंसयाऽपि वैदिककर्मकाण्डज्ञानस्यापि फलं भवतीति ज्ञायते।

३.९.२ अग्निहोत्राङ्गानां सरहस्यं प्रयोजनम्

अग्निहोत्रे बहून्यङ्गानि श्रुतिविहितानि सन्ति। तेषां प्रयोजनं रहस्यं च किमिति विषये शतपथश्रुतावुल्लेखो लभ्यते। प्रसङ्गेऽस्मिन्नग्निहोत्राङ्गविशेषानुष्ठानाद् ओषधिवनस्पतीनां पशूनां गन्धर्वाप्सरसां चापि प्रीणनं भवति, स्वर्गद्वारोद्घाटनं भवति, अस्य लोकस्य कृते वृष्टिरपि भवतीत्यादिका विषया व्याख्याता लभ्यन्ते[५९]।

३.९.३ आध्यात्मिकं फलम्

अग्निहोत्रस्य स्वर्गफलकता वेद उक्ता–*अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः*[६०] इति, *स्वर्यं वाऽ एतद् यदग्निहोत्रम्*[६१] इति च। मीमांसाशास्त्रे स्वर्गस्य सर्वाभिलषणीयत्वं प्रतिपादितं विश्वजिदधिकरणे–*स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्*[६२] इति। *न वा इह तर्हि किञ्चनाऽऽसीदथैतदहूयतैव सत्यं श्रद्धायाम्*[६३] इति श्रुत्याऽग्निहोत्रस्याऽऽध्यात्मिकः पक्षः स्पष्टीकृतः समुपलभ्यते। ब्राह्मणग्रन्थानुसारमग्निहोत्रस्याऽऽहुती मनश्च वाक्च स्तः। उक्तं च–*मनश्च ह वै वाक् चैते आहुती तद् मनश्चैतद् वाचं च व्यावर्तयति, तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव*।[६४] इति। नित्याग्निहोत्रादीनां ब्रह्मज्ञानसाधनत्वमपि श्रूयते–*तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन*[६५] इति। गौतमधर्मसूत्रेऽग्निहोत्रस्यापि पुरुषसंस्कारत्वेनोल्लेखः कृतोऽस्ति[६६]। संस्कारफलं च तत्राष्टावात्मगुणा उक्ताः–दया, क्षमा, अनसूया, शौचम्, आयासवर्जनम्, सदाचारः, अकार्पण्यम्, अस्पृहा चेति[६७]। इत्थं धर्मसूत्रकारेण गौतमेनाग्निहोत्रस्याऽऽत्मगुणसम्पादने भूमिका स्पष्टीकृता। एतादृशाध्यात्मिकपक्षविचारपद्धतेरपि धर्ममीमांसाशास्त्रस्य नव्यधारायां समावेश उचितोऽस्तीति मदीयो विचारो वर्तते।

३.९.४ अवान्तरफलानि

अग्निहोत्रस्यान्यान्यवान्तरफलान्यपि भवन्ति। अग्नावाहुतिहवनस्य वृष्ट्यादिकं फलमपि शास्त्र उक्तम्[६८]। अग्निहोत्राद् मनसि, शरीरे, पर्यावरणे मानवानां सम्बन्धेषु च सुप्रभावो भवतीति वेदादिशास्त्रेभ्योऽवगम्यते[६९]। अयं विषय आधुनिकेनानुसन्धानेनापि प्रमाणितः[७०]। अवान्तरफलस्य विषये आपस्तम्बधर्मसूत्रे उक्तम्–*तद् यथाऽम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते*[७१] इति।

४. निष्कर्षः

अग्निहोत्रस्य वैदिकयज्ञेषु महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। मीमांसाशास्त्रे चाग्निहोत्रस्य सञ्ज्ञा–द्रव्य–

देवताऽनुष्ठानक्रमादिविविधपक्षाणां विषये सन्दर्भानुसारं विचारः कृतोऽस्ति। अग्निहोत्रसम्बद्धानां वेद-वेदाङ्गकल्पशास्त्रोक्तानामनुष्ठेयविविधपक्षाणां न्याय्यत्वं मीमांसाशास्त्रादेव बोद्धुं शक्यते। अग्निहोत्रस्य विविधानि फलानि सन्तीति शास्त्रादवगम्यते। अग्निहोत्रविषयकस्य शोधाध्ययनस्य केचन महत्त्वपूर्णा निष्कर्षा इमे सन्ति-

१. अग्निहोत्रस्य नित्यत्वं सामर्थ्यापेक्षं भवतीति मीमांसान्यायपर्यालोचनेनावगम्यते। अग्निहोत्रादि-नित्यकर्मणां यावच्छक्त्यनुष्ठानं कर्तुं शक्यत इति हेतोरङ्गवैकल्येप्यनुष्ठानं कार्यम्।

२. अनस्तमित एवाहवनीयाग्नेरुद्धरणे कृते सन्ध्योपासनं कार्यम्। सन्ध्योपासनस्य स्मार्तत्वेऽपि पदार्थ-प्राबल्य-नियमात् क्रमकोपो न भवतीति मीमांसान्यायानुकूलः स्मार्तविधिमहत्त्वावबोधको निष्कर्षो वर्तते।

३. यजमानप्रवरसङ्ख्याया आधारेऽवदानसङ्ख्यानिर्धारणं कार्यमिति मतमवदाननिर्धारणे यजमानप्रवरसङ्ख्याया अप्रयोजकत्वादसङ्गतं प्रमाणितं भवति।

४. गार्हपत्याग्निरविच्छेदेन यावज्जीवं धार्यः, अग्निहोत्रं च यावज्जीवं कार्यमिति यदन्यैर्बहुभिरुक्तं तत्र विरामपक्षो न समाविष्टः। वेदवचनानुसारं यावज्जीवपक्षविरामपक्षयोर्वैकल्पिकत्वं सिद्धं भवति।

५. अग्निहोत्रमिति कर्मनाम वर्तत इति धर्ममीमांसाशास्त्रमते सायंकाले प्रातःकाले वा होमस्य आरम्भो भवितुं शक्नोतीति कथनमयुक्तम्। धर्ममीमांसायां नामत्वनिर्धारणस्य क्रमनिर्धारणे तात्पर्यं नेत्यवगन्तव्यम्।

६. ब्रह्मज्ञानसाधनत्वमपि नित्याग्निहोत्रस्य पुरुषसंस्कारद्वाराऽऽत्मगुणसम्पादनेन भवतीत्यवगम्यते। एतादृशाध्यात्मिकपक्ष-विचारपद्धतेरपि धर्ममीमांसाशास्त्रीयनव्यधारायां समावेश उचितः।

७. अग्निः प्रत्यगात्मरूपेण गृह्यते, अग्निहोत्रस्य द्वे आहुती मनश्च वाक्च स्त इत्यादयः साङ्केतिका विषया वेदे लभ्यन्ते। एतेषां विषयाणां विचारोऽपि धर्ममीमांसानव्यधारायां समावेष्टव्यम्।

८. वैदिकयज्ञानुष्ठानान्मानवस्य स्वास्थ्यलाभो भवति, मनसि, शरीरे, पर्यावरणे मानवानां सम्बन्धेषु च सुप्रभावो भवतीत्याधुनिकेन वैज्ञानिकशोधेन यत्प्रमाणितं तदग्निहोत्रावान्तरफलप्रतिपादकैः यजुर्वेदसंहितादिवचनैः प्रतिपादितैः शास्त्रीयफलैः संवदति।

श्रौताग्न्याधानाग्निहोत्रयोर्धर्ममीमांसान्यायदृष्ट्या कृतेन समीक्षणेन प्राप्तानां निष्कर्षाणामुपलब्धीनां मीमांसाशास्त्रीयनव्यधारानिर्मितिदृष्ट्या संस्कृतपाठ्यक्रमपरिष्कारदृष्ट्या श्रौताग्न्याधानाग्नि-होत्रानुष्ठानदृष्ट्याज्ञानयज्ञ-सम्पादनदृष्ट्या चेति बह्वीभिदृष्टिभिर्बहुविधा साम्प्रतिकी सान्दर्भिकता वर्तते।

टिप्पण्यः

१. पाणिनिः, **धातुपाठे,** भ्वादिगणे धातुसङ्ख्या ७२४

२. पाणिनिः, **अष्टाध्याय्याम्** ३।३।९०

३. यास्कः, **निरुक्ते** ३।१९

४. यज्ञं व्याख्यास्यामः, द्रव्यं देवता त्यागः। कात्यायनः, **कात्यायनश्रौतसूत्रे** १।२।१-२

५. गौतमः, **गौतमधर्मसूत्रे** १।८।२०

६. अग्निहोत्रं तु वैतानेऽग्नौ सायंप्रातराहुतिः। शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः, **वेदभाषानिघण्टौ,** ब्रह्मवर्गे, श्लो. ३१६

७. पाणिनिः, **उणादिसूत्रे** ४।१६९
८. शबरस्वामी, **शाबरभाष्ये** १।१४।४
९. **तैत्तिरीयसंहितायाम्** १।५।९।१
१०. चिन्नस्वामीशास्त्री, **तन्त्रसिद्धान्तरत्नावल्याम्,** पृ. १८-१९
११. विधित्सितगुणप्रापि शास्त्रमन्यद् यतस्त्विह।
तस्मात् तत्प्रापणं व्यर्थमिति नामत्वमिष्यते।। कुमारिलभट्टपादः, **तन्त्रवार्तिके** १।४।४
१२. **तैत्तिरीयब्राह्मणे** १।१२।१०।१५
१३. **मैत्रायणीयसंहितायाम्** १।८।७
१४. **मा. शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम्** ३।९, **तैत्तिरीयब्राह्मणे** २।१।९।२
१५. तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परंपरम्।। कुमारिलभट्टपादः, **तन्त्रवार्तिके** २।२।९
१६. लौगाक्षिभास्करः, **अर्थसङ्ग्रहे,** पृ. १७२-१७३
१७. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रे** १।४।४
१८. आपस्तम्बः, **आपस्तम्बश्रौतसूत्रे** ६।१४।२६, **भाष्ये** पृ. ६६-६७
१९. शबरस्वामी, **धर्ममीमांसाशाबरभाष्ये** २।४।१, ६।२।२३, ६।२।३१, ६।३।१, ६।५।३८
२०. माधवाचार्यः, **जैमिनीयन्यायमालायाम्** ६।१।१
२१. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रे** ६।२।३१
२२. बादरायणः व्यासः, **महाभारते** १०।१०।६
२३. **मा. शतपथब्राह्मणे** १२।४।१।१
२४. कात्यायनः, **कात्यायनश्रौतसूत्रे** १।१।६
२५. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रे** ६।१।२५-३८
२६. पूर्ववत् ६।१।१७-१८
२७. आपदेवः, **मीमांसान्यायप्रकाशे,** पृ. ६४
२८. कात्यायनः, **कात्यायनश्रौतसूत्रे** १५।२०-२५
२९. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रे** २।२।२४
३०. **तैत्तिरीयब्राह्मणे** २।१।५।६
३१. कर्मान्तरे न समवैति दधीन्द्रियार्थम्। मण्डनमिश्रः, **मीमांसानुक्रमणिकायाम्** २।२।११
३२. शबरस्वामी, **शाबरभाष्ये** ५।१।२
३३. माधवाचार्यः, **जैमिनीयन्यायमालाविस्तरे** २।२।१०, द्र.-जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्र**सङ्कर्षकाण्डम्** ३।१।२६
३४. प्राकृताहवनीयोऽग्निः सम्प्राप्तो गार्हपत्यताम्।
शालामुखीयः स्याच्शालाद्वार्यश्चाप्यज एकपात्।।
शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः, वेदभाषानिघण्टौ, ब्रह्मवर्गे, श्लो. ४३९-४४०
३५. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रे** १२।१।१३
३६. विद्याधरगौडः, **कात्यायनश्रौतसूत्रभूमिकायाम्,** पृ. ३३
३७. कात्यायनः, **कात्यायनश्रौतसूत्रे** १।८।१६-१९
३८. ब्रह्मा भृगुः मनुः, **मनुस्मृतौ** २।१५

३९. चिन्नस्वामी शास्त्री, **यज्ञतत्त्वप्रकाशे,** पृ. १०
४०. युधिष्ठिर मीमांसक तथा विजयपाल विद्यावारिधि, **श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय,** पृ. २५
४१. **तैत्तिरीयब्राह्मणे** २।१।२।७–८
४२. **ऐतरेयिब्राह्मणे** २५।४–६
४३. प्रमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः, **कतिपयवैदिकयज्ञपरिचये,** पृ. २६
४४. चिन्नस्वामी शास्त्री, **यज्ञतत्त्वप्रकाशे,** पृ. १०
४५. शिष्टक्रमस्याऽऽचमनात्र कोपः। मण्डनमिश्रः, **मीमांसानुक्रमणिकायाम्** १।३।४
४६. कात्यायनः, **कात्यायनश्रौतसूत्रे** ४।१३।१०
४७. स्रुवा से स्रुची में चार स्रुवा दूध ले। यजमान के पाँच प्रवर हो तो पाँच स्रुवा हविर्द्रव्य स्रुचि में ले।– मनोहरलाल द्विवेदी, **कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श,** पृ. ८०
४८. **ताण्डिब्राह्मणे** २५।४।१।२
४९. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रे** २।२।२४
५०. पूर्ववत् ७।३।१
५१. माधवाचार्यः, **जैमिनीयन्यायमालायाम्** ५।१।१७
५२. भास्करराय:, **सङ्कर्षकाण्डभाट्टचन्द्रिकायाम्** २।२।१३ (उद्धृतं वचनम्)।
५३. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रसङ्कर्षकाण्डे** २।२।३१–३२
५४. **तैत्तिरीयसंहितायाम्** १।६।९
५५. सायणाचार्यः, भाष्योपोद्घाते, **तैत्तिरीयसंहितायाम्,** पृ. ५
५६. **मा. शतपथब्राह्मणे** ११।५।३।४
५७. **छान्दोग्योपनिषदि** । ५।२४।१
५८. पूर्ववत् ५।२४।२
५९. **मा. शतपथब्राह्मणे** ११।५।३।१–७
६०. शबरस्वामी, **शाबरभाष्ये** १।४।४ (उद्धृतं वचनम्)।
६१. **मा. शतपथब्राह्मणे** १२।४।२।७
६२. जैमिनिः, **धर्ममीमांसासूत्रे** ४।३।१५
६३. **मा. शतपथब्राह्मणे** ११।३।३।४
६४. पूर्ववत् ११।३।१।३–४
६५. पूर्ववत् १४।७।२।२५
६६. गौतमः, **गौतमधर्मसूत्रे** १।८।१४।२२
६७. पूर्ववत् १।८।२३।२६
६८. ब्रह्मा भृगुः मनुः, **मनुस्मृतौ** ३।६७
६९. **मा. शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम्** ३।४१–४३
७०. M.S. Alias Baburao Parkhe, **Agnihotra : The Vedic Solution of Present Day Problems,** pp. 82-98.
७१. आपस्तम्बः, **आपस्तम्बधर्मसूत्रे** १।७।१।३ (१।२०।३)

सन्दर्भग्रन्थाः

- **ऐतरेयि (य) ब्राह्मणम्,** सायणभाष्ययुतम् (द्वौ भागौ) पुणेः : आनन्दाश्रमः ई. सं. १९७९

- **ताण्डि (ताण्ड्य) ब्राह्मणम्,** सायणभाष्ययुक्तम्, सम्पा.-चिन्नस्वामी शास्त्री पट्टाभिरामशास्त्री च, वाराणसी : चौखम्बा-संस्कृत-संस्थानम्, द्वि.सं., ई.सं. १९८७
- **तैत्तिरीयब्राह्मणम्,** सायणभाष्ययुतम् (त्रयो भागाः),पुणेः : आनन्दाश्रमः, ई.सं. १८९८
- **तैत्तिरीयसंहिता,** सायणभाष्ययुता (नव भागाः),पुणेः : आनन्दाश्रमः, ई. सं. १९०८-१९५१
- **मा. (माध्यन्दिनीयवाजसनेयि-) शतपथब्राह्मणम्,** यथोपलब्धहरिस्वामि-सायण-वासुदेवभाष्यसहितम् (पञ्च भागाः), पुनर्मु. दिल्ली : नागप्रकाशकः, ई.सं. १९९०
- **मा. (माध्यन्दिनीयवाजसनेयि-) शुक्लयजुर्वेदसंहिता,** महीधरकृतवेददीपसमेता, सम्पा.-जीवानन्दविद्यासागरः, कालिकाता, तृ.सं., ई.सं. १९०९
- **मैत्रायणी (य) संहिता,** सम्पा.-श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकरः (प्र.सं., औन्धनगरम्, ई.सं. १९४२), चतुर्थं संस्करणम् पारडीनगरम् : स्वाध्यायमण्डलम्।
- आपदेवः, **मीमांसान्यायप्रकाशः,** वेङ्कटसुब्रह्मण्यापरनामधेयेन पं.अ. चिन्नस्वामिशास्त्रिणा कृतया सारविवेचिन्याख्यया व्याख्यया संवलितः, वाराणसी : चौखम्भा-संस्कृत-संस्थानम्, तृ.सं., वि.सं. २०३७
- आपस्तम्बः, **आपस्तम्बधर्मसूत्रम्,** अनुवादक-देवराज पौडेल, काठमाण्डौ : नेपाल प्रज्ञाप्रतिष्ठान, वि.सं. २०५८
- कात्यायनः, **कात्यायनश्रौतसूत्रम्,** विद्याधरशर्मगौडविरचितया सरलाख्यया वृत्त्या सहितम्, काशी (वाराणसी), वि.सं. १९८७, पुनर्मु. दिल्ली : चौखम्बा-संस्कृतप्रतिष्ठानम्, ई.सं. १९९०
- गौतमः, **गौतमधर्मसूत्रम्,** हिन्दीव्याख्यासहितम्, व्याख्याकारः-प्रमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः, वाराणसी : चैखम्बाविद्याभवनम्, ई.सं. २०१५
- पं. चिन्नस्वामी शास्त्री, **तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलिः** (पूर्वमीमांसाप्रकरणग्रन्थः),सम्पा.-पं.पट्टाभिराम-शास्त्री, वाराणसी, वि.सं. २००१
- **यज्ञतत्त्वप्रकाशः,** सम्पा.-पं. रामनाथदीक्षितः, मद्रास, वि.सं. २०१०
- जैमिनिः, **मीमांसादर्शनम् (जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रम्),** शाबरभाष्य-तन्त्रवार्तिक-टुप्टीकासहितम् (सप्त भागाः), सम्पा.-सुब्बाशास्त्री, काशीनाथवासुदेवशास्त्री अभ्यङ्करः, गणेशशास्त्री जोशी, पुणेः : आनन्दाश्रमः, प्र.सं., १९३४
- **सङ्कर्षकाण्डम्,** देवस्वामिविरचितभाष्यसंवलितम्, सम्पा.-एस्. सुब्रह्मण्यशास्त्री, चेन्नई : मद्रपुरीयविश्वविद्यालयः, ई.सं. १९६५
- **सङ्कर्षकाण्डम्,** श्रीभास्करप्रणीतभाट्टचन्द्रिकया संवलितम्, सम्पा.-समुद्रालवेङ्कटरङ्गरामानुजाचार्यः, तिरुपतिः : श्रीवेङ्कटेश्वर-वैदिक-विश्वविद्यालयः, ई.सं. २००९
- पाणिनिः, **अष्टाध्यायी,** सम्पा.-गोपालशास्त्री 'दर्शनकेसरी', वाराणसी : चौखम्बासुरभारती प्रकाशनम्, ई.सं. १९७६
- **उणादिसूत्रम्** उज्ज्वलदत्तवृत्तिसहितम्, सम्पा.-जीवानन्दविद्यासागरः, कलिकाता, ई.सं. १८७३
- **धातुपाठः** (माधवीयवृत्तिसहितः), सम्पा.-द्वारिकादासशास्त्री, वाराणसी : प्राच्यभारतीप्रकाशनम्, ई.सं. १९६४
- प्रमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः, **कतिपयवैदिकयज्ञपरिचयः**, काष्ठमण्डपजनपदः स्वाद्ध्यायशाला,

वि.सं. २०६७

- ब्रह्मा मनुः भृगुश्च, **मनुस्मृतिः**, कुल्लूक-भट्टविरचितया मन्वर्थमुक्तावल्याख्यया व्याख्यया सहिता, सम्पा.-नारायणराम आचार्यः काव्यतीर्थः, मुम्बयी : निर्णयसागरमुद्रणालयः, दशम संस्करणम्, ई.सं. १९४६
- माधवाचार्यः, **जैमिनीयन्यायमाला**, विस्तरसहिता, सम्पा.-जीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यः, कालिकाता, ई.सं. १८८३
- यास्काचार्यः, **निरुक्तम्,** दुर्गवृत्तिसहितम्, पुणे : आनन्दाश्रमः ई.सं. १९२१, १९२६
- युधिष्ठिर मीमांसक तथा विजयपाल विद्यावारिधि, (अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त) **श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय** (प्रथम तथा द्वितीय भाग सम्मिलित), बहालगढ, सोनीपत, हरियाणा : रामलाल कपूर ट्रष्ट, वि.सं. २०४१ (ई.सं. १९८४)।
- लौगाक्षिः भास्करः, **अर्थसंग्रहः**, पट्टाभिरामशास्त्रिकृतार्थालोकटीकासहितः, वाराणसी : चौखम्भा ओरियण्टालिया, तृतीयं संस्करणम्, ई.सं. १९९०
- शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः, **वेदभाषानिघण्टुः,** काठमाण्डु : स्वाद्ध्यायशाला, वि.सं. २०५०
- M.S. Alias Baburao Parkhe, Agnihotra : **The Vedic Solution of Present Day Problems,** Poona Vaidika Samshodhana Mandala, 1982.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

रोगविनिश्चये कामला - आयुर्वेदोक्तदिशा चिकित्सातत्त्वविमर्शः

श्रीमान् गोपाल आचार्यः*

सारसंक्षेपः

भारतवर्षस्य चिकित्साविज्ञानं प्राचीनकालादारभ्य समुन्नतिशिखरं समाकर्षति। अत्रकृते चिकित्साविज्ञाने आयुर्वेदोऽवदानं स्थापयति। रोगविनिश्चयं रोगचिकित्सानिर्धारणमेवायुर्वेदशिक्षाया मुख्योद्देश्यरूपेण भाति। रोगप्रशान्तिरेवास्य मुख्यप्रयोजनम् । अतो भारतवर्षस्य सर्वोत्कृष्टसम्पद् भेषजविद्या तथायुर्वेदशास्त्रम्। आधिव्याधिप्रपीडिते असारे संसारेऽस्मिन् विशेषतया कामला-व्याधिना प्रपीडितानां मानवानां संख्याधिकत्वमुत्तरं वृद्धिं प्राप्नोति । साम्प्रतं प्रायशः प्रत्येकं मानवाः स्वरोगस्य मूलतः उपशमनाय 'एलोप्याथी'-औषधादिकं परित्यज्यायुर्वेदोक्तदिशा तत्तद्रोगस्य चिकित्सायै 'होमिओप्याथी' औषधीनां सेवनमेव कुर्वन्ति पार्श्वप्रतिक्रियाया मुक्तेरिति हेतोर्बाहुल्येन। अत्र आयुर्वेदस्य श्रेयस्करत्वं प्रतिपादितमेव। केवलमायुर्वेदीयमूलकभेषजौषधसेवनेन पथ्यादिप्रयोगेन अस्मात् रोगात् चिरं निर्मूलता सुस्थतरजीवनं च लभ्येते। अतः आयुर्वेदशास्त्रस्य विविधेषु कायचिकित्साप्रधानेषु ग्रन्थेषु स्थाने स्थाने प्राप्यमानेन 'कामला'-व्याधेः चिकित्साविषयकतत्त्वपर्यालोचनेन रोगादस्मात् आयुर्वेदप्राणातुराणां चिकित्सासिद्धये सहायतां सम्पादयिष्यति। इति शिवम् ।

संकेतशब्दाः -

१. उपोत्घातः
२. रोगाणां समुत्पत्तिः
३. रोगविनिश्चये कामला
४. आयुर्वेदीयचिकित्सायाः प्रासङ्गिकत्वम्

उपक्रमणिका

भारतवर्षस्य चिकित्साविज्ञानं प्राचीनकालादारभ्य समुन्नतिशिखरं समाकर्षति। अत्रकृते चिकित्साविज्ञाने आयुर्वेदोऽवदानं स्थापयति। पञ्चसहस्राधिकवत्सरात् पूर्वं भारतवर्षे आयुर्वेदचिकित्साविज्ञानस्य बीजं परिव्याप्तम्। वैज्ञानिकगतदिशा वैदिकयुगादारभ्यायुर्वेदचिकित्साशास्त्रं परवर्तिनि कालेऽवैदिकयुगे तथा बौद्धिक-जैनिकयुगेऽपि तस्य चिकित्साधारणकौशलपद्धतिः समौज्ज्वलस्य शिखरमावहति। किं नामायुर्वेद इति प्रश्नस्य निरसने उच्यते - हितायुरहितायुर्सुखायुर्दुःखायुश्चेत्येतेषां चतुर्विधानामायूषां सम्यक् परिचयेण सह तेषां हिताहितविषयः परिमाणं स्वरूपञ्च यस्मिन् शास्त्रे कथितमस्ति तदेव शास्त्रमायुर्वेद इत्युच्यते ।

* सहकारी अध्यापकः, संस्कृतविभागः, सुभाषचन्द्र-वोस-सेन्टेनारी-महाविद्यालयः मुर्शिदावादः, पश्चिमवङ्गः, भारतवर्षम्

तदुक्तम्-

'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।

मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ।।'[1] इति ।

पुनश्चापि उच्यते यस्मात् शास्त्रेऽस्मिन् आयुर्विद्यमानोऽस्ति, शास्त्रेनानेन वा आयुर्विषयकज्ञानं सम्भवति तस्मादेतद् ज्ञानमायुर्वेद इत्युच्यते।

'आयुरस्मिन् विद्यते अनेन वा

आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।'[2] इति ।

आयुषो हिताय एव चिकित्सात्र विधीयते। अतो दीर्घायुलाभाय नीरोगशरीरकामनार्थञ्च सर्वलोकहितकरमायुर्वृद्धिकारकमायुर्वेदशास्त्रमेव सततं काङ्क्षितमिति।

शरीरं सत्त्वञ्चेति व्याधीनामारोग्यानाञ्चाश्रयस्थानं कथ्यते । तथोक्तम्-

'शरीरं सत्त्वसंज्ञञ्च व्याधीनामाश्रयो मतः।'[3] इति।

शरीरं सत्त्वञ्च समाश्रित्य विविधानां रोगाणां समुत्पत्तिः । तत्र कालवुद्धीन्द्रियार्थानामयोगः, मिथ्यायोगोऽतियोगश्च व्याधीनां मूलमुत्तमं कारणम्। रोगस्तु दोषाणां वैषम्यावस्था। दोषसाम्यन्तु आरोग्यमित्युच्यते।[4] के च ते दोषाः? कुपितवायुपित्तश्लेष्माणश्च शारीरदोषा इति कथ्यन्ते। ते एव देहसम्भवहेतवः। तेषां स्वयमेव परिमाणं गुणं कार्यञ्च वर्तन्ते। तेषामविकृतत्वे दैहिककार्याणां यथायथसिद्धिः समाप्नति, साम्यावस्था च विधीयते। परन्तु परिमाणगुणकर्माणां वा वृद्धिक्षयमात्रेण विकृतमयावस्थां ते सृजन्ति। तेषां विकृतत्वेन धातोरावासस्थानं दूषयन्ति इति दोषाः कथ्यन्ते।

'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।

विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्तिा।[5] इति।

रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्तिमज्ज-शुक्रानि धातव इति प्रथन्ते। एते सप्त धातवः स्वयं स्थित्वा मनुष्याणां देहं धारयति। अतो धातुरित्युच्यते। दोषत्रयेण दूषितत्वात् एते धातवः 'सप्त दुष्या' इत्यपि कथ्यन्ते। कफः पित्तं मूत्रं मलः प्रस्वेदः नखलोमश्च रसरक्तादिसप्तधातूनां मला इति कथ्यन्ते। किञ्च कार्यम् मलानां, उच्यते- दैहिकशक्तिरक्षणमेव प्रधानं कार्यं मलानां, दैहिकाद्रताया अपणयं मूत्राणां, स्वेदस्य च दैहिकाद्रताया धारणम्। दोषधातुमलाः सदा मूलं देहस्य। एतेषां दोषधातुमलानामसाम्यावस्था देहे मनसि च रोगान् सृजति।

दोषाणामसाम्यनिदानम्

अत्यधिकपरिश्रमं ,रतिक्रियाधिकम्, अत्यध्ययनम्, अविरतभ्रमणं, रात्रिजागरणं, रुधिरक्षरणम्, अतिभयम्, अतिशोकम्, आघातोऽधिकतया, कटु-तिक्त-कषाय-रसयुक्तद्रव्यभक्षणं, शुष्कमांसभक्षणम्, अतीवमात्रयान्न - मुग - मसुर - मटर - शिम-भक्षणमुपवासानियतखाद्यग्रहणं, मलमूत्रवेगधारणं चेत्यवशाद्वायुः प्रकुपितः स्यात् क्रोध- शोक-भयात्यधिकपरिश्रमसाध्यकार्योपवासाधिकमैथुनैः अत्यधिककट्वम्ललवणरसयुक्त-खाद्यग्रहणोष्णद्रव्य - मत्स्य - दध्यम्लफलभक्षणैः च पित्तस्य दूषणं भवेत्। दिवानिद्र - श्रमाभाव - गुरुपाकभोजन - पायसगुडजातद्रव्यभक्षणैः जलजप्राणीनां मांसभक्षणतालनारिकेलादि-मधुरफलभक्षणाच्च कफस्य प्रकुपितत्वं जातं भवेत्। तेषां प्रकुपितत्रिदोषाणां लक्षणप्रकाशनमेव 'रोग'-नाम्ना प्रथते। आयुर्वेदशास्त्रे तेषां व्याधीनां कथं संप्राप्तिर्भवेत्, किं तावत् लक्षणं व्याधीनां, कथं वा तेषां साधारणचिकित्साविधिरनुस्मृता, तदुपशमनाय औषध-पथ्यादिप्रयोगविधिरिति

विधृताः । आधिव्याधिप्रपीडिते असारे संसारेऽस्मिन् प्रमेहव्याधिना प्रपीडितानां मानवानां संख्याधिकत्वमुत्तरं वृद्धिं प्राप्नोति। केवलमायुर्वेदीयमूलकभेषजौषधसेवनेन पथ्यादिप्रयोगेन अस्मात् रोगात् चिरं निर्मूलता सुस्थजीवनं च लभ्येते।[६] तेषु विविधेषु व्याधिषु आयुर्वेदशास्त्रानुसारेण प्रमेहव्याधेः भेषजालोचना सन्दर्भेऽस्मिन् विध्रीयते सुललितभाषया यथार्थतया च आयुर्वेदशास्त्रचिकित्सापद्धत्यनुसारम्।

रोगविनिश्चये पाण्डुः

पाण्डुरोगसंप्राप्तिः–क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यद्रव्यभोजनात्, शिममाषकलायतिलतैलसेवनात्, दिवानिद्राव्यायाममैथुनात्, पञ्चकर्मर्तुवैषम्यात् तथा वेगधारणात् , कामचिन्ताभयक्रोधशोकैः मनोविघाताच्च प्रकुपितं पित्तं हृदये समवस्थितं भवति। प्रकुपितवायुना विक्षिप्तपित्तमिदं हृदयसंस्थितधमण्या समग्रशरीरे प्रसृतं सन् त्वक्-मांससंश्रितं भवेत्। कफः पुनः वायुरक्तत्वक्मांसान् प्रदूष्य हरितहारिद्रान् वर्णसंयुक्तान् पाण्डुन् विसृजति।

पाण्डुस्थानम्–त्रिदोषेषु पित्तप्रधानात् त्वचि एवास्य पाण्डुरोगस्यावस्थितिः।

पाण्डुनिदानम्–वातज–पित्तज–कफज–सन्निपातज–मृद्भक्षणजभेदात् पञ्चधा विभज्यते पाण्डुरोगः।

वातजपाण्डुनिदानम्–वायुप्रकोपाहारविहाराभ्यां प्रकुपिते सत्यनिले रुक्ष्मारुणसंयुक्तो वातजपाण्डुः सञ्जातः।

वातजपाण्डुलक्षणम्–वातजपाण्डुरोगे ज्वर–कम्प–पार्श्ववेदना–शिरवेदना–मलशोष–मुखवैरस्य–शोथ–वलक्षयादिविविधोपशमाः परिलक्ष्यन्ते।

पित्तजपाण्डुनिदानम्–पित्तप्रकोपाहारविहाराभ्यां प्रकुपिते सति पित्ते रक्तरसादिधातून् प्रदूष्य पित्तजपाण्डुरोगः सञ्जातो भवति। रोगेऽस्मिन् पीताभ्यो हरिताभो भवति शरीरो मलमूत्रमपि भवति हरिताभगुणसंयुतम्।

पित्तजपाण्डुलक्षणम्–पित्तजपाण्डुरोगे ज्वर–प्रदाह–छर्दि–मौर्च्छा–पिपासा–स्वेद–शीतद्रव्याकाङ्क्षा–अनन्नाभिलाष–कट्वाम्लभावोदगारविदाह–गात्रदौर्गन्ध्यादिविविधानि लक्षणानि प्रकटितानि भवन्ति।

'पित्तालस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपनैः।
दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्प्यते।।'[७] इति।

श्लेष्मजपाण्डुनिदानम्–श्लेष्मप्रकोपकाहारविहाराभ्यां श्लेष्मवृद्धिवशात् श्लेष्मजपाण्डुरोगाय कल्प्यते। रोगेऽस्मिन् शुक्लवर्णसंयुतं भवति शरीरम्, अक्षि–मल–मूत्रादयरपि भवन्ति श्वेतवर्णवत् ।

श्लेष्मजपाण्डुलक्षणम्–तन्द्रा–छर्दि–लोमसर्षावसन्नवोध– मूर्च्छा–भ्रम–क्लान्ति–श्वास–कासाकस्य वोधारुचि–वाक्यग्रह–स्वरभेद–शोथ–रुक्ष्मोष्णकट्वाम्लस्वादादयो विविधोपशमाः श्लेष्मजपाण्डुरोगे परिलक्ष्यन्ते।

सन्निपातजपाण्डुनिदानम्–वातादित्रिदोषप्रकोपहारविहाराभ्यां त्रिदोषवृद्धिवशात् सुदुःसहाय सान्निपातिकपाण्डुरोगाय कल्प्यते।

'सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्ट दोषास्त्रिदोषजम्।
त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्।।'[८] इति।

सन्निपातजपाण्डुलक्षणम्–वातजपित्तजश्लेष्मजपाण्डुरोगाणां साधारणलक्षणान्येव

सन्निपातजपाण्डुरोगे प्रकटितानि भवन्ति।

मृद्भक्षणजपाण्डुनिदानम्–कषाय–लवण–मधुररसैर्वायोः पित्तस्य कफस्य च प्रकुपितत्वेन यथाक्रमं वातादित्रिदोषाणां प्रकुपितादिन्द्रियाणां वलं तेजो वीर्य्यौजसी तथा च हत्वा वलवर्णाग्निनाशकस्य मृद्भक्षणजपाण्डुरोगस्योत्पत्तिः।

कामलासंप्राप्तिः–वातजादिपञ्चविधेषु पाण्डुरोगेषु पित्तजपाण्डुरोगे एव कामलारोगस्यान्तर्भावः। पित्तोद्दीपकद्रव्यसेवनात् प्रकुपिते पित्ते रक्तमांसञ्च प्रदूष्य कामलारोगाय कल्प्यते।

कामलोपशमविधिः–नेत्रं त्वक् नखो मुखञ्च हरिद्रावर्णसंयुता भवेयुः, मलमूत्रञ्च भवेत् पीतवर्णसंयुतं भेकवर्णो भवेच्च इन्द्रियः कामलारोगे। दाहापरिपाक–दौर्वल्यावसादारुचिश्चेत्युपशमाः समुदिता भवन्ति कामलारोगिणः।

कामलाचिकित्सा–कामलोपशमनाय आयुर्वेदः प्राकृतिकभेषजं चिकित्साविधानाय प्रददाति। प्राकृतिकभेषजां विविधानि गुणानि क्रियामत्र कुर्वन्ति। कामलोपशमनार्थं तेषां भेषजगुणानि निम्ने प्रदत्तानि– कल्याणकं पञ्चगव्यं महातिक्तकञ्च घृतं स्नेहनार्थं दद्यात् कामलारोगिणे। पित्तहरणार्थं तिक्तद्रव्यसाधितविरेचनेन संशोधनं साध्य दोषाणुसारं भेषजं प्रयोजयेत्।

कामलायाः प्रशमनोपायाः–आयुर्वेदशास्त्रं कामलारोगप्रशमनार्थं कतिपयं भेषजमुपदिशति। तद्यथा–

दाडिमाद्यघृतम्–दाडिम–धान्य–चित्रक–शृङ्गवेर–पिप्पल्यष्टमिकाणां कल्कयोगः सलिलाढकघृतेण सह पानात् कामलारोगः प्रशमितो भवेत्।

पथ्यघृतम्–हरितकी–हरितकीवृन्ताणां घृतेण सहितपानात् कामलारोगस्योपशमत्वं भजते।

गुडचीपत्रम्–तक्रेण सह गुडचीपत्रभक्षणेन कामला प्रशमिता जाता। गवां पयः शृङ्गवेरेण सह पानात् कामला विनष्टा भवेत्। लौहचूर्णं हरिद्राचूर्णं त्रिफलां वा मधुसर्पिभ्यां प्रलिह्य सेवनात् कामलार्त्तः सुखी भवति। दध्ना सहितं प्रातः हरिद्राचूर्णानां संसेवनं कुर्याच्चेत् कामलानाशं भवेत्।

हरिद्राघृतम्

- कामलाहराय हरिद्रा–त्रिफला–निम्व–मधुकसहितं सक्षीरमाहिष–सर्पि–सेवनं यथाविधि काङ्क्षितम्।
- द्रोणपुष्पीरसेन मधुसम्पृक्तहरिद्रामलकीचूर्णेन वाञ्जनलेपनेन कामलारोगिणो कामला निवारिता भवेत्।
- घृतकुमारीरसस्य पानमपि कामलाहरायोपदिष्टमायुर्वेदशास्त्रे।
- कामलाप्रशमनाय लौहचूर्ण–हरितकीचूर्ण–हरिद्राचूर्ण–मधु–घृतादिविविधानां भेषजां गुरुत्वमधिकं वर्तते।
- त्रिफला–हरिद्रा–दारुहरिद्रा–कटुलौह–चूर्णानां समभागं क्षौद्रसर्पिषाभ्यां विलिह्य प्रत्यहं सेवनेन कामलापगता भवेत्।
- लौहचूर्ण–हरितकी–हरिद्राचूर्णानां मधुसर्पिभ्यां सह गुडक्षौद्रेण सह वा लेहनेन कामलारोगप्रशान्तिः जातो भवेत्।
- तुल्यतपक्षे शर्करा तेउडीचूर्णं निशाविशाला गुडाशुठचूर्णं वा कामलायां हितदायका भवन्ति।
- त्रिफला–गुलञ्च–दारुहरिद्रा–निम्वप्रभृतीनां भेषजां रसानां मधुना सह कषाययोगेन प्रातः

सेवनात् कामला विनष्टा सञ्जाता।

गोमूत्रम्

- गवां महिषाणां वा क्षीरं मूत्रञ्च कामलाविनाशे उपदायकौ भवतः। तयोः पानात् पक्षं कामलारोगाय कल्प्यते।
- त्रिफलारसेन सह गोमूत्रसेवनं सप्ताहमपि कामलाप्रशमने सहायकं भवति। यथाविधि गोमूत्रेण सहितं हरितकीसेवनेनापि कामलारोगस्तथा पाण्डुरोगः प्रशमितो भवेत्।
- गवां मूत्रे सप्तरात्रं व्याप्य भावनया दुग्धेन सहितं लौहभस्मानां सेवनेन कामलापगता भवेत्।

रुक्षशीतगुरुपाकमधुरद्रव्यभोजनात् , व्यायाम-मलमूत्रवेगधारणैः कफेन सहितं मेलनेन वलवान् वायुः स्वस्थानात् पित्तमुत्क्षिपति। अस्मात्विक्षिप्तपित्त-रक्त-रसादिधातून् समाश्रित्य प्रकुपितो वायुः त्वक्-मूत्र-नेत्रानां हरिद्रावर्णं मलानाञ्च श्वेतवर्णं साधयति। अतः दोषवलानां साम्यं साध्य मयूर-तित्तिरि-कुक्कुटादिजाङ्गलजां पशूनां रसैः, कट्वाम्लतीक्ष्णद्रव्यभक्षणैश्च कामलातुराणां विक्षिप्तपित्तानां स्वस्थानमागमनं काङ्क्षितम्। स्वस्थानमागते पित्ते, रञ्जिते मलपित्तेषु, निवृत्तोपद्रवात् परं भेषजपथ्यादिप्रदानेन भिषक्वरैः यथाविधि चिकित्सा करणीया।

कामलायां पथ्यापथ्यविधयः

कामलायां पथ्यविधयः-वमनविरेचनं जीर्णयवगोधूमशालितण्डुलाः, मुगाडहरमसूराणां यूषा, जाङ्गलजा रसाः, पटोलं, पक्वकुष्माण्डं, तरुणकदलीफलं, जीवन्तीशाकं, गोक्षुरं, हेलेञ्चाशाकं, गुडूची, द्रोणपुष्पी, वार्ताकुलरशुनद्वयं, पक्वाम्रहरितकी-विम्वीशृङ्गीमत्स्याः, गोमूत्रम्, आमलकी, तक्र-घृत-तिल-तैलानि, यवक्षारः, लौहभस्मकषायाणि कुङ्कमञ्चेति पथ्यतया प्रयोज्यानि।

कामलायां अपथ्यविधयः-रक्तमोक्षणं, धूम्रपानं, वमनवेगधारं, स्वेदं, मैथुनं, शिम्वीपत्रशाकमाषादिभक्षणम्, अधिकजलपानं, ताम्वुल-सर्षपसुरामृद्भक्षणं, दिवानिद्राग्रहणं, लवणभक्षणं, सह्यविन्ध्याद्रिजातानां नदीनां सलिलानि भक्षणं, सर्वाण्यम्लद्रव्यानि भक्षणं, दुष्टाम्वुविरुद्धभोजन-गुरुद्रव्यभक्षणञ्चेति कामलोपशमनार्थं सर्वतः परित्यजनीयम्।

रसरक्तादिधातून् समाश्रित्य द्विविधा कामला समुत्पन्ना भवति। कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रसाध्या कामला कुम्भकामलया परिणतिं लभते। यदा पाण्डुरोगिणः हरितवर्णसंयुक्ताः पीता वा भवेयुः, वलोत्साहक्षय-तन्द्रा-मन्दाग्नित्वं-मृदुज्वराश्चेति उपशमाः परिलक्षिता भवन्ति तेषां, रतिक्रियायामनिच्छाङ्गवेदनातृष्णारुचिभ्रमाद्युपद्रवाः समुदिता भवन्ति , तदा पाण्डुरोगः हमीलकसंज्ञां लभते । वातपित्ताभ्यां सञ्जाता भवत्येषा।

साम्प्रतं प्रायशः प्रत्येकं मानवाः स्वरोगस्य मूलतः समुपशमनाय 'एलोप्याथी'-औषधादिकं परित्यज्यायुर्वेदोक्तदिशा तत्तद्रोगस्य चिकित्सायै 'होमिओप्याथी' औषधीनां सेवनमेव कुर्वन्ति पार्श्वप्रतिक्रियाया मुक्तेरिति हेतोर्बाहुल्येन। अत्र आयुर्वेदस्य श्रेयस्करत्वं प्रतिपादितमेव। अद्यतनचिकित्साविज्ञाने शुश्रूषागारनिर्माणकथा, भिषक्-द्रव्य-रोगी-उपस्थाता-भेषजपादचतुष्टयकल्पना, औषधागारपरिकल्पना इत्यादीनि विविधानि कार्याणि प्राचीनायुर्वेदचिकित्साविज्ञानमपेक्षन्ते। प्रत्येकं चिकित्सापद्धत्यामायुर्वेदस्य प्रभावोऽनस्वीकरणीयः। सुस्वास्थ्यविधानार्थं स्वस्वास्थ्यविधेः प्रयोजनं वर्तते। तत्प्रयोजनसिद्धये आयुर्वेदोपदेशा अवश्यमेव स्मरणीयाः। आयुर्वेदीयदीनचर्चा मनुष्याणां जीवने प्रशान्तिमानयति। शारीरिक-मानसिकगतदिशा जनानां सुस्वास्थ्यस्य परिणमत्वं भवेदनया

आयुर्वेदीयदीनचर्चया। चित्तस्य प्रशान्तये तथेन्द्रियाणां संयमनाय चायुर्वेदशास्त्रं सततमेव सात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-सत्कर्मणां सम्यक् प्रयत्नमुपदिशति। एतेनारोग्यविधानं सत्वरं सम्भवेत्। आयुर्वेदीयोपदेशोऽयमाधुनिकजीवने मानवैरेकान्ततया सदाचारनियमपालनपूर्वकं पालनीयः। तेन तेषामेव सुस्वास्थ्यसम्भावना समधिकतया वर्धत इत्यत्र किं चित्रम् ? अतस्तैः शास्त्रोदिरितसदाचारनियमाः सदैव पालनीयाः स्वेषां हिताय। 'मङ्गलाचारशीलः',…………'सर्वप्राणिषु वन्धुभूतः स्यात्।' 'क्रुद्धानामनुमेता भीतानामाश्वासयिता।' 'दीनानामभ्युपपत्ता।'. ……….. 'नानृतंब्रूयात्।' 'नान्यस्वमादद्यात्।'…… 'नान्यदोषान्ब्रुयात्।' 'नान्यरहस्यमागमयेत्।'[९] –इत्यादि-वचनान्युपदेशतया जीवने पालनियावश्यकत्वेन भजन्ते। नेदं साम्प्रतिकं किमपि नूतनं तत्त्वमपि तु अद्यतः प्रायः द्विसहस्रवर्षेभ्यः प्राक् चरकाचार्येण रुजः औषधत्वेन संयमिता जीवनचर्या एवोपदिष्टेति तदीयं वैशिष्ट्यम्। कामलारोगस्य समूलं विनाशाय मधुकर्कटीत्यादीनां फलानां ग्रहणमेवाद्यतनीयैः चिकित्सकैरुपदिश्यते। एतदपि चरकसंहिताया द्रव्यगुणव्याख्यानावसरे सम्यक्तया प्रकाशितम्। अतः आयुर्वेदशास्त्रस्य प्रासङ्गिकताद्यत्वेऽपि नूनमेव वर्धितेति नास्ति संशयावकाशः कश्चितित्यलमतिपल्लवितेनेति शिवम्।

तथ्यसूत्राणि

१. चरकसंहिता, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, सूत्रस्थानम् , प्रथमोऽध्यायः , पृष्ठे ३९

२. सुश्रुतसंहिता (महर्षिसुश्रुतविरचिता), (अनूदितम्) यशोदानन्दनसरकारः, सूत्रस्थानम्, प्रथमोऽध्यायः, पृष्ठे ३९

३. चरकसंहिता, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, सूत्रस्थानम् , प्रथमोऽध्यायः, पृष्ठे ५३

४. 'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।' चरकसंहिता, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, सूत्रस्थानम्, नवमोऽध्यायः, पृष्ठे ८९

पुनश्च, 'रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यमरोगता' अष्टाङ्गहृदयम् (वाग्भटप्रणीतम्), (अनूदितम्) के.आर. श्रीकान्त-मूर्तिः, प्रथमखण्डम् , सूत्रस्थानम् , प्रथमोऽध्यायः ।

५. तत्रैव ।

६. न केवलमौषधसेवनेन, न वा भिषक्-गुणेनैव व्याधीनां प्रशमनं सम्भवेत्। चतुर्णां विषयाणां समन्वयसाधनेनैव व्याधीनामारोग्यविधानं सम्भवति। अत आयुर्वेदशास्त्रे चिकित्सायाः पादचतुष्ठयं कल्पितम्। ते च पादा भिषक् द्रव्यमुपस्थाता रोगी चेति। एतेषां चतुष्ठयानां पादानां यथायथगुणेनैव विविधानां रोगाणां प्रशमनं भवति।

'भिषग्-द्रव्यमुपस्थाता रोगीपादचतुष्ठयम्।
गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारस्योपशान्तये।।'

चरकसंहिता, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, सूत्रस्थानम्, नवमोऽध्यायः , पृष्ठे ८९

७. चरकसंहिता, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, चिकित्सास्थानम्, षोडशोऽध्यायः १७

८. चरकसंहिता, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, चिकित्सास्थानम्, षोडशोऽध्यायः २२

९. चरकसंहिता, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, सूत्रस्थानम्, अष्टमोऽध्यायः , पृष्ठे ८०-८१

परिशीलिता ग्रन्थानुक्रमणी

(क) संस्कृतभाषानिबद्धा आकरग्रन्थततयः-

- अष्टाङ्गहृदयम्- (वाग्भटप्रणीतम्)- प्रथमखण्डम्, (अनूदितम्) के.आर. श्रीकान्त-मूर्तिः, चौखम्बा-कृष्णदास- एकाडमी, वाराणसी, २००७ (आङ्गलाब्दः), पुनःमुद्रितम्।

- चरकसंहिता-(सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्रनागः, नवपत्रप्रकाशनम्, कलिकाता, १९८४ (आङ्गलाब्दः), प्रथमप्रकाशनम्।
- निदानम्- (माधव-कर-विरचितम्), (अनूदितम्) उपेन्द्रनाथः सेनगुप्तो देवेन्द्रनाथः सेनगुप्तश्च, दीपायनप्रकाशनी , १३०० (वङ्गाद्वः), प्रथमप्रकाशनम्।
- सुश्रुतसंहिता-(महर्षिसुश्रुतविरचिता)- (अनूदितम्) यशोदानन्दनसरकारः, कलिकाता, १३१८(वङ्गाब्दः), द्वितीयसंस्करणम्।

(ख) संस्कृतभाषानिबद्धाः सहायकग्रन्थाः

- सेनगुप्तः देवेन्द्रनाथः सेनगुप्तः उपेन्द्रनाथश्च, आयुर्वेदसंग्रहः, (सम्पा.) कालीकिङ्कर-सेनशर्मा सत्यशेखर-भट्टाचार्यश्च , दीपायनप्रकाशनम्, कलिकाता, १९९९ (आङ्गलाब्दः), प्रथमप्रकाशनम्।

(ग) वङ्गभाषानिबद्धाः सहायकग्रन्थाः-

- पाल, अमल कुमार-संकट चिकित्सा ओ पुनरुज्जीवन, पश्चिमवङ्ग राज्य पुस्तक पर्षद्, १९८८(ख्री.)।
- सेनगुप्त देवेन्द्रनाथ, सेनगुप्त उपेन्द्रनाथ, आयुर्वेद-प्रदीप, (सम्पा.) व्रजेन्द्रचन्द्र नाग, नवपत्रप्रकाशन, कलिकाता, १९८० (आङ्गलाब्द), प्रथमप्रकाश।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

व्याकरणदर्शने मोक्षवाक्तत्त्वयोः स्वरूपविवेचनम्

पिण्टु राउल*

उपोद्घातः

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्।।[१] इति।

एवं व्याकरणेन संस्कृतशब्दानां प्रकृतिप्रत्ययस्वरवर्णमात्रादिज्ञानपूर्वकं साधुत्वं ज्ञायते। ततः तेषां साधुशब्दानां लोके भाष्यायाम् अस्माभिः प्रयोगः क्रियते। भाषा इत्युक्ते मनुष्यस्य सामाजिकः धर्मः। भाषया एव मनुष्यः स्वीयं निखिलं सामाजिकं संश्लेषम् आविष्कोरति। वक्ता स्वकीयान् भावानर्थांश्च प्रकटयितुं वाक्यानि निर्माति। तत्र वाक्यनिर्माणे वक्तुः स्वातत्यम् अस्ति, परन्तु वाक्ये प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वनिर्णये स्वातन्त्रयं नास्ति, तत्र तु साधुत्वनियामकं व्याकरणमेव प्रमाणम्।

दर्शनप्रधानेऽस्मिन् भारतवर्षे बहूनि दर्शनानि सन्ति। दर्शनशब्दः दृशिर्-प्रेक्षणे इति धातोः ल्युटि, अनादेशे निष्पद्यते, अतः दृश्यते साक्षात्क्रियते परमतत्त्वं येन, तत् दर्शनम् इति व्युत्पत्त्या तत्त्वज्ञानसाधनं शास्त्रं दर्शनमित्युच्यते। व्यवहारे तु ईश्वरजीवजगतां तत्त्वान्वेषणपूर्वकं विवेचकं शास्त्रं दर्शनपदेन अभिधीयते। सामान्यतः दर्शनपदं हि न्यायवैशेषिकसाङ्ख्ययोगपूर्वोत्तरमीमांसादिषु रूढ़मेव। परन्तु व्याकरणमपि तत्तल्लक्षणोपेतत्वाद्दर्शनत्वेन व्यवह्रियते। व्याकरणदर्शनेऽस्मिन् मोक्षवाक्तत्त्वयोः स्वरूपविवेचनम् उपस्थाप्यते।

व्याकरणदर्शने मोक्षतत्त्वविचारः

मोक्षः इत्युक्ते ब्रह्मप्राप्तिः। उपनिषदि द्वैतलेशहीनं सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म। ब्रह्मसूत्रे ब्रह्मणः स्वरूपं वर्णयितुं सूत्रमाह- ''**जन्माद्यस्य यतः**''[२] इति। अर्थात् अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्याचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं, यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणात् भवति तद् ब्रह्म। अत्र श्रुतिप्रमाणानि सन्ति- ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तत् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म''[३] इति, ''**अयमात्मा ब्रह्म**''[४] इति, ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च''[५] इति, ''स पर्यगाच्छुक्रमकायमब्रह्मणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्''[६] इति। अतः ब्रह्मणः लक्षणम् एवं वक्तुं शक्यते यत्, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमत्त्वम् इति। व्याकरणशास्त्रे तु शब्दब्रह्म प्रतिपाद्यते। अस्य शब्दब्रह्मणः स्वरूपं तावत् अद्वैतवादी वैयाकरणः भर्त्तृहरिः वदति-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[७] इति।

---

* शोधछात्र (पी-एच.डी.), संस्कृत विभाग, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता (प.बं.) भारत

अर्थात् यत् उत्पादविनाशरहितं नित्यं, पूर्वापरीभावरूपम् उपसंहृतक्रमञ्च, यत् ककारादिरूपवर्णानां कारणं, तथापि बाह्यार्थवासनया अविद्यारूपया घटपटाद्यर्थरूपेण भासते, किञ्च शब्दार्थोभयरूपं, यस्मात् जगतः विकाराणाम् उत्पत्तिर्व्यवहारः वा प्रचलति तत् पश्यन्ती वाक्–रूपी शब्दतत्त्वमेव ब्रह्म।

इदं ब्रह्म एकं, पुनः शक्तिव्यपाश्रयात् भिन्नम् अस्ति। शब्दब्रह्मणः अपृथक्त्वम् अस्ति, पुनश्च शक्तिभ्यः पृथक्त्वं दृश्यते। अत्र अयं भावः वर्तते यत्, आवर्तबुद्बुदतरङ्गाख्या जलविकाराः परस्परं भिन्नाः अपि जलमेव न ततः व्यतिरिक्ताः, तथा घटपटादयो विकाराः परस्परं भिन्नाः अपि पृथिव्येव न व्यतिरिक्ताः। अतः घटादिरूपेण भिन्नत्वेऽपि पृथिव्याः स्वतोऽभिन्नवत् शक्तिरूपेण ब्रह्मणो भिन्नत्वेऽपि स्वतोऽभिन्नत्वम् इति ब्रह्मणि नानात्वं काल्पनिकम्, एकत्वञ्च वास्तवम् इति तयोः न विरोधः।

मोक्षप्राप्तेः ब्रह्मप्राप्तेः वा सरलः मार्गः व्याकरणेन निश्चीयते। तत्तु उक्तं भर्तृहरिणा– "इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः"[८] इति। परन्तु कया शैल्या व्याकरणेन मोक्षप्राप्तिः भवति इति तु चिन्तनीयम् अस्ति। महर्षिना पतञ्जलिना प्रोक्तं– **"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोकेय कामधुक् भवति"**[९] इति। अर्थात् साधुशब्दप्रयोगे सति कामपूर्त्तिः जायते। अपि च महाभाष्यकारेण चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव इत्यादिश्रुतिभिः मोक्षस्वरूपं प्रदर्शितम्। तच्च एकैकमालोच्यते–

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यांमाविवेश।।[१०] इति।

भाष्यकारेण अस्य मन्त्रस्य अर्थः एवं प्रतिपाद्यते यत्, "चत्वारि शृङ्गाणि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयः अस्य पादाः त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासः अस्य सप्तविभक्तयः। त्रिधा बद्धः, त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसि। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्। रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्याम् आविवेश इति महान् देवः शब्दः, मरणधर्माणो मनुष्याः तान् आविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्" इति। अत्र एवं बोध्यं यत्, महान् परब्रह्मरूपः देवः अन्तर्यामिरूपः शब्दः मर्त्येषु आविष्टः इति। अस्मिन् प्रसङ्गे भर्तृहरिणापि उक्तम्–

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।।[१२] इति।

अर्थात् इह द्वौ शब्दात्मानौ कार्यो नित्यश्च। तत्र अन्त्यः सर्वेश्वरः सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् शब्दवृषभः। तस्मिन् शब्दवृषभे खलु वाग्योगवित् शास्त्रजशब्दज्ञानपूर्वकप्रयोगेण क्षीणपापः पुरुषः विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तं संसृज्यते। ब्रह्मसायुज्यं प्राप्नोति इत्यर्थः।अपि चाह–

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्यनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।[१३] इति।

अर्थात् कश्चन अवैयाकरणः वाचं पश्यन् अपि न पश्यति। शृण्वन् अपि न शृणोति, परन्तु वैयाकरणस्य सकाशे वाक् स्वात्मानं विवृणुते, यथा जाया पत्ये कामयामाना सुवस्त्रा रमणी आत्मानं विवृणुते। अतः अस्माभिः व्याकरणं समीचीनतया अध्येयं, यस्मात् शब्दः अस्माकं समीपम् आगच्छेत् स्वात्मानं प्रकाशयेच्च।

पुनश्च आह–

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।।[१४] इति।

अत्र अयं भावः यत्, ये शास्त्रतः प्रकृतिप्रत्ययविभागेन साधून् शब्दान् ज्ञात्वा शास्त्रार्थाध्ययनवन्तः मानसज्ञानेन वाचम् असाधुभ्यः पृथक् कृतवन्तः ते तज्ज्ञानपूर्वकैः साधुशब्दप्रयोगैर्लब्धान्तःकरणशुद्धयः। ब्रह्मरूपात्मना सायुज्यं प्राप्नुवते, यतो हि तेषां वैयाकरणानां वाचि सर्वभासकब्रह्मरूपा लक्ष्मी अधिकं निहिता भवति। व्याकरणहेतुकस्य शब्दसंस्कारस्य धर्मविशेषजननद्वारा ज्ञानोत्पत्तिक्रमेण परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वं प्रतिपादयितुं वाक्यपदीयकारः आह–

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते।।[१५] इति।

अर्थात् व्यवस्थितसाधुत्वेन रूपेण शब्दतत्त्वे संस्क्रियमाणे अपभ्रंशरूपप्रतिबन्धकापगमे धर्मविशेषः आविर्भवति, ततः शब्दब्रह्मतादात्म्योपगमरूपा ब्रह्मणः प्राप्तिर्भवति। यतो हि शब्दस्य प्रवृत्तिः षट् भावविकाररूपा। तस्याः तत्त्वं यः जानाति सः उपनिषदं वर्णितम् अमृतं ब्रह्म प्राप्नोति। अत्र भावोऽयं साधुत्वव्यवस्थापनपूर्वकम् असाधुभेभ्यः साधुशब्देषु व्याकरणज्ञानेन पृथक्क्रियमाणेषु अपभ्रंशकृतः यः साधुशब्दानां विशेषज्ञानतिरोधानजननेन परिभवरूपः उपघातस्तदपगमादाविर्भूते धर्मविशेषे नियतः ऐहलौकिकः पुत्रपश्वादिप्राप्तिलक्षणः पारलौकिकश्च स्वर्गादिप्राप्तिलक्षणोऽभ्युदयः।

व्याकरणदर्शने वाक्-तत्त्वविचारः

शब्दस्य आश्रयः प्राणः, बुद्धिः हृदयश्च। एवञ्च एतत् आश्रयत्रयं प्राप्य वाक् आत्मानं प्रकाशयति। अतः वाक् अनेकतीर्थभेदा (वा. प. १.१४३) इत्युच्यते। वाक् त्रिविधा चतुर्विधा वा इति संशयोत्पत्तिः जायते, तस्य च समाधानं विभिन्नग्रन्थकारेषु उच्यते–

वाक्तत्त्वे परमलघुमञ्जूषाकारमतम्–

वैयाकरणः स्फोटरूपशब्दस्य वृत्त्याश्रयतां निरूपयितुं प्रवृत्तः। परन्तु कोऽयं स्फोटः इति प्रश्ने सति परमलघुमञ्जूषाकारः आह– ''चतुर्विधा हि वागस्ति– परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च''[१६] इति।

परा वाक्

चतुर्विधासु वाक्षु या वाक् मूलाधारस्था शब्दार्थसंस्कारशून्या स्पन्दशून्या (क्रियाशून्या) बिन्दुरूपिणी सा परा वाक्। सा च शब्दब्रह्मरूपा इत्यपि उच्यते। यथा सुवर्णेन कुण्डलादयः निर्मीयन्ते, पुनः कुण्डलाद्याकृतेः मर्दनेन अन्ते सुवर्णमात्रम् अवशिष्यते, तथैव शब्दव्यवहारे अपि परावाक्-तत्त्वात् सर्वे ध्वन्यात्मकाः वाग्विकाराः जायन्ते। पुनः परावाक्-तत्त्वमेव अवशिष्यते।

पश्यन्ती वाक्

या वाक् मनोविषया बुद्धिस्था सा पश्यन्ती वाक्। परमलघुमञ्जूषायाम् उक्तमस्ति– ''नाभिपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना अभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता पश्यन्ती वाक् उच्यते''[१७] इति। अत्र नागेशाचार्यस्य आशयः अस्ति यत्, एतद्द्वयं परारूपं पश्यन्तीरूपं च शब्दब्रह्म योगिनां समाधौ निर्विकल्पकसविकल्पकज्ञानविषये उच्यते। एषा पश्यन्ती वाक् शब्दब्रह्मरूपापि वक्तुं शक्यते। तदुक्तं हरिणा–

अनादिनिवनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[१८] इति।

अर्थात् उत्पादविनाशरहितं, पूर्वापरीभावरहितं यत् अक्षरम् अर्थभावेन भासते, तच्च शब्दार्थोभयरूपम्।

यतः विकारजातस्य जगतः उत्पत्तिः व्यवहारः वा भवति, तत् शब्दतत्त्वं पश्यन्तीवाक्-रूपं ब्रह्म एव। प्राप्तरूपविभागायाः त्रय्याः वाचः पुण्यतमं ज्योतिः इदं पश्यन्तीवाक्-तत्त्वम् इति वाक्यपदीयकारः मनुते।

मध्यमा वाक्

यत्र प्राणवायोः प्रभावः प्रबलः अस्ति, या च नाभिदेशस्था हृदयदेशम् आगता सा मध्यमा वाक्। तदुक्तं नागेशेन– "नाभिदेशात् हृदयपर्यन्तमागच्छता तत्तदर्थवाचकस्फोटशब्दरूपा श्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिर्ग्राह्या मध्यमा वाक् उच्यते"[१९] इति। मध्यमायां प्राणवायुना सह प्रयोक्तुः मनोवेगः अपि प्रबलः भवति। तस्मात् वक्तुः मनोभावानुसारेण मुखविकृत्यादयः चेष्टाः विलोक्यन्ते।

वैखरी वाक्

या वाक् हृदयदेशात् मुखदेशपर्यन्तम् आगता स्थूलरूपा परश्रोत्रग्राह्या ध्वन्यात्मिका सा वैखरी वाक् इति कथ्यते। "**हृदयदेशात् आस्यपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनोर्ध्वमाक्रामता च मूर्धानमाहत्य परावृत्य च तत्तत्स्थानेषु अभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्राह्या वैखरी वाक् उच्यते**"[२०] इति नागेशाचार्यः। एषा वैखरी वाक् श्लिष्टा विश्लिष्टा चेति द्विविधा। सा च श्लिष्टा अव्यक्तवर्णसमुच्चारणा। विश्लिष्टा च व्यक्तवर्णसमुच्चारणा। इयं विशिष्टा वाक् व्याकरणेन अनुशिष्यते। स्फोटविचारप्रसङ्गे परमलघुमञ्जूषाम् उक्तं–

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।।[२१] इति।

वाक्-तत्त्वे वाक्यपदीयकारमतम्

वाक्यपदीयकारः आचार्यः भर्तृहरिः वाचः त्रैविध्यं स्वीकरोति। यथा– वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती चेति। त्रय्याः वाचः उत्कृष्टं स्थानं इदं व्याकरणम्। तथा चोक्तं–

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्।।[२२] इति।

अर्थात् अनेकस्थानेन प्राणबुद्धिहृदयाख्येन वैखर्याः मध्यमायाः पश्यन्त्याः च वाचः व्याकरणं परं स्थानम्। अत्र अयं भावः अस्ति यत् व्याकरणेन एषा त्रयी वाक् विज्ञातुं शक्या। अधुना एका शङ्का उदेति यत्, आचार्येण नागेशभट्टेन वाचः चत्वारः भेदाः स्वीकृताः, अपरञ्च आचार्येण भर्तृहरिणा वाक् त्रयी स्वीकृता, एवं सति वाचः भेदविषये वैमत्यं दृश्यते। कैश्चित् आचार्यैः उक्तं यत्, भर्तृहरिणा पृथक् रूपेण परा वाक् स्वीकृता, किन्तु पश्यन्ती वाक् एव परा वाक् इति स्वीकृता। आचार्यः भर्तृहरिः परावाचं प्रकृतिरूपेण निर्देशति। तथा हि–

विकारोऽपगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा।
विकारोऽपगमे सत्यां तथाऽऽहुः प्रकृतिं पराम्।।[२३] इति।

वाक्-तत्त्वे महाभाष्यकारमतम्

महाभाष्यकारेण पतञ्जलिना व्याकरणस्य प्रयोजनावसरे एका ऋक् उद्धृता–

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।[२४] इति।

अर्थात् अस्मिन् मन्त्रे एवमुच्यते यत्, नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदात् वाचः शब्दस्य वा चत्वारः भेदाः वर्तन्ते। वेदज्ञाः ब्राह्मणाः एतत् सर्वं शब्दतत्त्वं जानन्ति। चतुर्विधं पदं पुनः परा-पश्यन्ती-मध्यमा-

वैखरीभेदेन विभक्तम्। प्राणिनः मूलाधारचक्रे परा नामकं शब्दब्रह्म तिष्ठति। अज्ञानरूपगुहायां परा-पश्यन्ती-मध्यमा इति शब्दस्य रूपत्रयं निहितमस्ति। परा वाक् मूलाधारे, पश्यन्ती नाभिचक्रे एवञ्च मध्यमा हृदि तिष्ठति, अतः साधारणाः मनुष्याः अवैयाकरणाः वा अज्ञानवशात् परा-पश्यन्ती-मध्यमा इति शब्दत्रयस्य स्वरूपं नैव जानन्ति। वेदज्ञैः ब्राह्मणैः परादित्रिविधा वाक् ज्ञायते। वैयाकरणैस्तु शास्त्रज्ञानजनितयोगाभ्यासवलात् चतुर्विधा वाक् ज्ञायते। वाचः चतुर्थरूपा वैखरी। या सर्वेषां मनुष्याणां व्यवहारयोग्या। अतः एवं वक्तुं शक्यते यत्, आचार्येण पतञ्जलिनापि परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपा चतुर्विधा वाक् स्वीकृता।

वाक्तत्त्वाभिगमेन उभयं सिद्ध्यति इहलोकः, परलोकश्च। भगवता पतञ्जलिना महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके शब्दज्ञानस्य महत्त्वं विवेचनेन स्पष्टम् उक्तम्- "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" इति। शब्दस्य सम्यग् ज्ञानं वाक्तत्त्वं विना अर्थज्ञानं च विना न सम्भवेत्। वाक्तत्त्वाविषये ऋग्वेदे बहूनि सूक्तानि अनेके मन्त्राश्च वर्त्तन्ते। संहितासु, ब्राह्मणग्रन्थेषु, आरण्यकेषु, उपनिषत्सु च प्रतिशाखं वाक्तत्त्वरूपस्य शब्दब्रह्मणः चर्चा संकेतः वा वर्तते एव। अष्टसु वेदाङ्गेषु चतुर्षु शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-छन्दस्सु शब्दब्रह्मणः एव विवेचनं विविधं कृतं वर्त्तते।

उपसंहृतिः

अनेन प्रबन्धेन ज्ञायते यत्, उपनिषदि यत् प्रतिपादितं ब्रह्म, तत्तु व्याकरणे नास्ति, अत्र तु शब्दब्रह्म एव प्रतिपादितम्। अपि च शब्दब्रह्मणः चतस्रः भेदाः परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपाः सन्ति। तासामपि स्वरूपम् अस्मात् शोधप्रबन्धात् ज्ञायते। एवञ्च मोक्षप्राप्तेः सरलतमः मार्गः व्याकरणमेव। अतः तत् यत्नेन पठ्यते ज्ञायते चेत् अपवर्गः स्यादेव इति शम्।

सन्दर्भ-सूची

१. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकसंख्या-१४२
२. ब्रह्मसूत्रम् १.१.२
३. तैत्तरीयोपनिषद् ३.१
४. बृहदारण्यकोपनिषद् ४.५.१९
५. श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६.१९
६. ईशावास्योपनिषद्- ८
७. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकसंख्या- १
८. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकसंख्या- २६
९. महाभाष्यम् १.१
१०. ऋक्संहिता ४.५८.३
११. महाभाष्यम् १.१, पृष्ठसंख्या २४
१२. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकसंख्या- १३१
१३. ऋक्संहिता १०.७१.४
१४. ऋक्संहिता १०.७१.२
१५. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकसंख्या- १३२
१६. परमलघुमञ्जूषा, स्फोटनिरूपणम्, पृष्ठसंख्या ७१
१७. परमलघुमञ्जूषा, स्फोटनिरूपणम्, पृष्ठसंख्या ७१

१८. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकसंख्या- १

१९. परमलघुमञ्जूषायम्, स्फोटनिरूपणम्, पृष्टसंख्या- ७१

२०. तत्रैव।

२१. तत्रैव, पृष्ठ सं.- ७२

२२. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकसंख्या- १४३

२३. वाक्यपदीयम् ३.२.१५

२४. ऋक्संहिता १.१६४.४५

अनुशीलीतग्रन्थसूची

- करः, गङ्गाधरः : शब्दार्थ-सम्बन्ध-समीक्षा। कोलकाता, यादवपुर- विश्वविद्यालयः, २०१५
- नागेशभट्टः : परमलघुमञ्जूषा (भावप्रकाशिका-बालबोधिनी-व्याख्योपेता)। त्रिपाठी, जयशङ्करलालः (सम्पादकः)। वाराणसी, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, चतुर्थसंस्करणम्, २०११
- पतञ्जलिः : पातञ्जल महाभाष्य (प्रत्याहाराह्निक)। सान्यालः, अयोध्यानाथः (सम्पादकः)। वर्धमान, वर्धमान विश्वविद्यालयः, प्रथमसंस्करणम्, २०१४
- पतञ्जलिः : व्याकरणमहाभाष्यम् (पस्पशाह्निकम्)। कोलकाता, दण्डिस्वामी दामोदर आश्रम, चतुर्थसंस्करणम्, २०१०
- पतञ्जलिः : व्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसंस्कृतव्याख्याद्वय-भावबोधिनीहिन्दी-व्याख्यासम्बलितम्, खण्डद्वयम्। कृष्णदास अकादमी, द्वितीयसंस्करणम्, १९९८
- पाण्डेयः, रामाज्ञा : व्याकरणदर्शनभूमिका। शास्त्री, गौरीनाथः (सम्पादकः)। वाराणसी, सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वाविद्यालयः, १९८२
- भर्तृहरिः : वाक्यपदीयम् (पञ्च खण्डाः, पुण्यराजकृतप्रकाशसम्बलितम्, हरिवृषभकृतवृत्तिसम्बलितम्, नारायणहिन्दी-व्याख्यासम्बलितञ्चेति टीकात्रयोपेतम्)। तिवारी, हरिनारायणः (हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च)। वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथमसंस्करणम्, २०१५
- भर्तृहरिः : वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्)। शुक्ल, सूर्यनारायणः (भावप्रदीपाख्यव्याख्याकारः), शुक्ल, रामगोविन्दः (हिन्दीव्याख्याकारः)। वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, २०१६
- वर्मा, सत्यकामः : व्याकरण की दार्शनिक भूमिका। नई दिल्ली, मुंशीराम मनोहरलाल, १९७१
- शङ्कराचार्यः :ब्रह्मसूत्रम्। अधिकारी, कृष्णपददासः (सम्पादकः) श्रीलिपिः। मेदिनीपुरम्, २०१७
- शास्त्री, नरदेवः : (लेखकः, सम्पादकः प्रकाशकश्च) : पाणिनीयशब्दार्थसम्बन्धसिद्धान्तः। दिल्ली, पिपठिषु-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठानम्, १९८७
- सदानन्दयोगीन्द्रः : वेदान्तसारः (संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता)। त्रिपाठी, शिवसागरः (व्याख्याकारः)। जयपुर, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, २०१०

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

तत्सम शब्दों के अर्थपरिवर्तन का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

डॉ. जयदेव*

शोध-सारांश

मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस सार्थक मौखिक एवं लिखित साधन को अपनाता है, वह भाषा है। विश्व के प्रायः सभी देशों में हो या प्रान्तों में कोई न कोई भाषा बोली जाती है और वही भाषा उस क्षेत्र विशेष के मानव के विचार-विनिमय का माध्यम बन जाती है। इस संसार की प्रायः सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। अतः मानव द्वारा प्रयुक्त भाषा भी परिवर्तनशील है। परिवर्तन का यह नियम स्वाभाविक है, किन्तु अज्ञानतावश और स्वार्थवश या विभिन्न कारणों से किया गया/हुआ परिवर्तन (विशेष रूप से शब्दों के अर्थों में) समाज में उत्पन्न विभिन्न भ्रान्तियों का कारण बन सकता है। वर्तमान में हिन्दी में प्रयोग किए जाने वाले शब्द लगभग नवदशमांश संस्कृत के हैं, जिन्हें हिन्दी में तत्सम शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है, किन्तु दोनों भाषाओं में एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ पाए जाने से तथा विभिन्न वर्गों, मज़हबों, सम्प्रदायों एवं बुद्धिजीवियों द्वारा पृथक्-पृथक् अर्थ-निर्धारण से जहाँ एक ओर समाज में विभिन्न प्रकार भ्रान्तियाँ व विश्रृंखलाएँ उत्पन्न हो रहीं हैं वहीं समाज के लोग वास्तविक अर्थ-ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। यह एक विचारणीय बिन्दु है कि हिन्दी भाषा में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों के मूल एवं वास्तविक अर्थ में कैसे परिवर्तन हुआ? इसके पीछे क्या कारण रहे होंगे?

अतः यह शोधपत्र हिन्दी भाषा में प्रयुक्त दैनिक जीवनोपयोगी कुछ प्रचलित संस्कृत-शब्दों को संस्कारहीन एवं अनर्थहीन होने से बचाने में अत्यन्त लाभदायक व उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।

संकेताक्षर- *तत्सम-शब्द, भाषा-वैज्ञानिक, अज्ञानतावश, नवदशमांश, अर्थ-निर्धारण, जीवनोपयोगी, संस्कारहीन, सादृश्यभाव, विचारणीय।*

यह सर्वविदित है कि संस्कृत-भाषा विश्व की प्राचीनतमा भाषा है। अतः इसे समस्त भाषाओं की जननी माना जाता है। इसी से अन्य भाषाओं का जन्म हुआ है (मुख्य रूप से भारतीय भाषाओं का)। भारत की राष्ट्र-भाषा की पोषक और पूरक भी संस्कृत मानी जाती है। चूँकि हिन्दी में प्रयोग किये जाने वाले संस्कृत के तत्सम शब्द और उनसे बढ़कर अधिक संख्या में तद्भव शब्द विद्यमान हैं।

साधारणतः हम ऐसा मान लेते हैं कि इन शब्दों के हिन्दी में ठीक-ठीक वही अर्थ हैं जो संस्कृत में हैं। संस्कृत से लिए गए शब्दों के सम्बन्ध में जो प्रचलित धारणा है वह नितान्त भ्रान्त नहीं है, परन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि आजकल संस्कृत-शब्दों के मूल एवं वास्तविक अर्थों में भी काफी परिवर्तन हुए हैं। जिससे समाज में (मूल अथवा वास्तविक अर्थों के अभाव में) विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियाँ फैल

* अतिथि शिक्षक, महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

रहीं हैं। अतः यह विषय अत्यन्त ही विचारणीय है कि किस प्रकार समाज में फैल रही असत्य, अनुपयुक्त एवं अनियोजित अर्थरूपी भ्रान्तियों को दूर कर जनमानस को वास्तविक अर्थ से अवगत कराया जा सके।

भौतिक पदार्थों के सान्निध्य में विचरण करने के कारण मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है कि वह भौतिक वस्तुओं या पदार्थों को लक्षित करने वाले शब्दों से अन्य सदृश्य–पदार्थों या भावों को भी लक्षित करने लगता है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं अथवा पदार्थों को लक्षित करने वाले शब्दों से सादृश्य–भाव के आधार पर विभिन्न अर्थों का विकास पाया जाता है। जैसे–

अवकाश

हिन्दी में 'अवकाश' शब्द 'छुट्टी', 'खाली समय (फुरसत)', 'काम या नौकरी से अलग होना' (जैसे– अवकाश प्राप्त व्यक्ति) आदि अर्थों में प्रचलित है। 'अवकाश' शब्द का 'खाली समय' अर्थ संस्कृत में भी पाया जाता है। किन्तु अन्य अर्थ संस्कृत में नहीं पाए जाते हैं।

संस्कृत में 'अवकाश' पुं. शब्द (अव+काश्+घञ्) का मौलिक अर्थ है 'जगह' या 'खुली जगह'।[१]

इसके अतिरिक्त 'अवकाश' शब्द का 'जगह' अर्थ रामायण, पंचतन्त्र[२], रघुवंशमहाकाव्य[३], विक्रमोर्वशीय[३] आदि ग्रन्थों में भी देखने को मिलता है।

'अवकाश' शब्द के 'खुली जगह' अर्थ से ही संस्कृत में सादृश्य–भाव से 'खाली समय' या 'बीच का समय' अर्थ विकसित हुआ। चूँकि प्राचीनकाल हो या आधुनिक समय में अक्सर लोग 'खाली समय' में ही किसी न किसी 'खुली जगह' या ऐसी जगह जहाँ वे किसी मानसिक दबाव से रहित समय व्यतीत कर अपने को ज्यादा सुकून महसूस करते हैं। सम्भवतः इस कारण 'अवकाश' शब्द के 'खुली जगह' या 'जगह' अर्थ से 'खाली समय' या 'बीच का समय' अर्थ विकसित हुआ। इसका उदाहरण शतपथ ब्राह्मण में भी देखने को मिलता है।[५]

इसके अतिरिक्त आप्टे शब्दकोश आदि के अनुसार 'अवकाश' शब्द के 'जगह' या 'स्थान' अर्थ से संस्कृत में प्रवेश, 'उचित अवसर', 'अवसर' आदि विभिन्न अन्य अर्थों का भी विकास पाया जाता है।

हिन्दी में 'अवकाश' शब्द के 'खाली समय' अर्थ ग्रहण कर लेने से उसे 'छुट्टी', 'नौकरी से अलग होना' (रिटायर होना) आदि के लिए भी प्रयोग किया जाने लगा, क्योंकि 'छुट्टी' में भी व्यक्ति अपने निश्चित कार्य से मुक्त हो जाता है और रिटायर हो जाने पर भी। अतः हिन्दी में रिटायर होने के लिए 'अवकाश–ग्रहण' और 'रिटायर्ड' के लिए 'अवकाश–प्राप्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

आदर्श

संस्कृत में 'आदर्श' शब्द (आङ्+.श्+घञ्–आदृश्यतेऽत्र) का मौलिक अर्थ है– 'दर्पण'। वैदिक–साहित्य के अन्तर्गत 'आदर्श' शब्द का 'दर्पण' अर्थ उपनिषदों तथा आरण्यकों में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत–साहित्य में भी 'आदर्श' शब्द का प्रयोग अधिकतर इसी अर्थ में पाया जाता है, जैसे–

''आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्श बिम्बेस्तिमितायताक्षी।''

(अपने इस सजीले रूप को दर्पण में देखकर पार्वती भी दंग रह गई ...)।[६]

हिन्दी में 'आदर्श' शब्द 'अनुकरणीय सिद्धान्त', 'नमूना', 'ऐसी पूर्णता जिससे आगे विचार ही न किया जा सके' आदि अर्थों में प्रचलित है। यहाँ यह विचारणीय विषय है कि 'आदर्श' शब्द का उपर्युक्त 'नमूना' तथा 'अनुकरणीय वस्तु' अर्थ तो संस्कृत में भी कुछ स्थानों पर पाए जाते हैं, परन्तु 'अनुकरणीय सिद्धान्त' और 'ऐसी पूर्णता जिससे आगे विचार ही न किया जा सके' अर्थ संस्कृत में नहीं पाए जाते। सम्भवतः इन

अर्थों का विकास आधुनिक काल में ही हुआ है।

आप्टे शब्दकोश में 'पाण्डुलिपि' तथा 'प्रतिकृति' को भी 'आदर्श' के रूप में उल्लिखित किया गया है। सम्भवतः पाण्डुलिपि, मूललेख या ग्रन्थ को 'आदर्श' इसलिए कहा गया होगा, क्योंकि वह अनुकरण करके तैयार की जाने वाली अन्य प्रतियों के लिए दर्पण तुल्य होता है। किसी लेख अथवा ग्रन्थ की अक्षरशः अनुरूप लिखी गई प्रति का 'आदर्श' (दर्पण) इसलिए भी कहा गया होगा, क्योंकि मूललेख, पाण्डुलिपि ग्रन्थ उसमें पूर्ण रूप से ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित होता है। इसी कारण उसे सादृश्य-भाव से आलङ्कारिक रूप में 'आदर्श' (दर्पण) कहा जाने लगा।

जहाँ तक हिन्दी में 'आदर्श' शब्द के लिए 'अनुकरणीय सिद्धान्त या वस्तु' अर्थ पूर्वोक्त अनुकरण के सादृश्यभाव से मूल प्रतिबिम्बित अर्थ परिवर्तित होकर उस वस्तु और सिद्धान्त को भी लक्षित करने लगा। फलस्वरूप नए अर्थों का भी विकास हो गया, जैसे कि- **'आदर्शः सर्वशास्त्राणाम्'** - सभी शास्त्र जिसका अनुकरण करें ... (कादम्बरी)। 'ऐसी पूर्णता, जिससे आगे विचार ही न किया जा सके', 'आदर्श' शब्द का यह अर्थ अंग्रेजी के Ideal शब्द से आया है। सम्भवतः Ideal शब्द के भाव को अपनाने की दृष्टि से हिन्दी में सादृश्य-भाव से 'आदर्श' शब्द के अपनाए जाने से यह अर्थ-विकास हुआ है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि 'आदर्श' शब्द से विकसित 'आरसी' (दर्पण) शब्द का अर्थ 'हाथ का एक आभूषण' अर्थ ही रह गया है। जबकि आज भी भारत के कुछ प्रान्तों में (उड़ीसा में) 'दर्पण' के लिए 'आरसी' शब्द का प्रयोग किया जाता है अर्थात् शीशे का छोटा टुकड़ा। परन्तु 'हाथ के आभूषण' में भी छोटा शीशा जड़ा होने के कारण सादृश्य-भाव से 'हाथ के आभूषण' को 'आरसी' कहा जाता है, जबकि 'शीशे का छोटा टुकड़ा' अर्थ लुप्त हो गया है।

पाद

हिन्दी में 'पाद' शब्द अधिकतर 'किसी श्लोक या छन्द आदि का चतुर्थांश' या 'अधोवायु' अर्थात् गुदा द्वारा निकलने वाली अपान वायु अर्थ में प्रचलित है। 'पाद' शब्द का उपर्युक्त प्रथम अर्थ संस्कृत में भी पाया जाता है, किन्तु द्वितीय अर्थ 'अधोवायु' नहीं। संस्कृत में 'पाद' पुं. शब्द (पद् गतौ + घञ् प्रत्यय) का मौलिक अर्थ है- 'पैर'। 'पाद' शब्द के 'पैर अर्थ से ही संस्कृत में 'किरण'[७], 'चारपाई आदि का पावा', 'वृक्ष की जड़', 'पर्वत की तलहटी', 'चतुर्थ भाग', 'चरण', 'अध्याय का एक भाग चतुर्थांश' आदि अर्थों का विकास पाया जाता है।

'पाद' शब्द का 'पावा' अर्थ पैर या टाँग के सादृश्य-भाव से तथा 'वृक्ष की जड़' और 'पर्वत की तलहटी' आदि अर्थ पैरों के मनुष्य शरीर में नीचे के भाग में होने से सादृश्य-भाव के कारण विकसित या प्रचलित हो गए हैं।

जहाँ तक हिन्दी में प्रचलित 'पाद' शब्द का 'अधोवायु' (मलद्वार से निकलने वाली अपानवायु) अर्थ भी 'पैर' अर्थ से ही विकसित है। यद्यपि यह अर्थ संस्कृत में अनुपलब्ध है, तथापि सादृश्य-भाव से यह सिद्ध किया जा सकता है।

'पाद' शब्द संस्कृत में 'पद गतौ' धातु से बना है। जिसका अर्थ है- जो गति करता हो या चलता हो। यहाँ 'पाद' शब्द का 'पैर' अर्थ जो कि मनुष्य शरीर में चलायमान या गतिमान के समान 'अधोवायु' अपानवायु भी गतिमान रहती है। तथा मनुष्य-शरीर में पैरों का स्थान नीचे होता है उसी प्रकार शरीर से निकलने वाली विभिन्न प्रकार की वायु में से अपानवायु 'अधोवायु' भी शरीर के नीचे के हिस्से अर्थात्

गुदाद्वार से निकलती है। अतः इस सादृश्य-भाव के कारण भी आधुनिक काल में यह अर्थ विकसित हो गया।

प्रकाण्ड

हिन्दी में 'प्रकाण्ड' विशेषण शब्द 'बहुत बड़ा' अर्थ में प्रचलित है (जैसे- आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश वेद के प्रकाण्ड विद्वान् थें)। संस्कृत में 'प्रकाण्ड' (प्रकृष्टः काण्डः-प्रादितत्पुरूष समास) शब्द का 'बहुत बड़ा' अर्थ नहीं पाया जाता; किन्तु कुछ समस्त पदों के अन्त में उससे मिलता-जुलता 'श्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट या प्रमुख प्रकार' का अर्थ पाया जाता है, जैसे- **'स एव रामश्चरिताभिरामो धर्मैकवीरः पुरुषप्रकाण्डः।'**[८]

इसी प्रकार नैषधीयचरित और महावीरचरित में 'प्रकाण्ड' शब्द इसी अर्थ में है। वस्तुतः संस्कृत में 'प्रकाण्ड' पुल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग शब्द का मौलिक अर्थ है- 'वृक्ष का तना' (जड़ से लेकर शाखाओं तक) जैसे- **कदलीप्रकाण्डरुचिरोरुतरुः।**[९]

'प्रकाण्ड' शब्द का 'सर्वोत्कृष्ट' अथवा श्रेष्ठ अर्थ इसके 'वृक्ष का तना' अर्थ से ही विकसित हुआ है। वृक्ष में तने का भाग सर्वोत्कृष्ट होता है, क्योंकि वह अन्य शाखाओं की अपेक्षा स्थूल और विशाल होाता है तथा सारे वृक्ष का जीवन संचार का दायित्व भी उसी पर निर्भर रहता है या सबका भार सम्भालता है। इसी सादृश्य-भाव के कारण 'श्रेष्ठ या सर्वोत्कृष्ट' को भी आलङ्कारिक भाषा में 'प्रकाण्ड' कहा जाने लगा। धीरे-धीरे शब्द के अर्थ के विकास के साथ-साथ आधुनिक काल में 'प्रकाण्ड' शब्द मिलते-जुलते भाव 'बहुत-बड़ा' को भी व्यक्त करने लगा।

वंश

हिन्दी में 'वंश' पुं. शब्द 'कुल', परिवार' अर्थ में प्रचलित है। यह अर्थ संस्कृत में भी पाया जाता है। किन्तु संस्कृत में 'वंश' पुं. (वेमति उद्गिरति वम्+श तस्य नेत्वम्) शब्द का मौलिक अर्थ है- 'बाँस'। ऋग्वेद में 'वंश' शब्द 'बाँस' अर्थ में ही प्राप्त होता है, जैसे -

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्मणस्त्वा शतक्रतु उद्वंशमिव येमिरे ।।

'शतक्रतु इन्द्र, गायक तुम्हारे उद्देश्य से गान करते हैं। पूजक तुम्हारी अर्चना करते हैं। जिस प्रकार नट बाँस को ऊँचा करते हैं, उसी प्रकार स्तुति करने वाले ब्राह्मण तुम्हें ऊँचा उठाते हैं।''[१०] इसके अतिरिक्त आप्टे शब्दकोश के अनुसार 'वंश' शब्द का 'कुटुम्ब', 'बाँसुरी', 'संग्रह', 'रीढ़ की हड्डी' अर्थों में प्रयोग प्राप्त होता है। वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी वंश शब्द का 'बाँस' अर्थ में प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। हिन्दी का 'बाँस' शब्द 'वंश' तत्सम शब्द से ही विकसित हुआ तद्भव रूप है।

बाँस में क्रमशः अर्थात् एक के बाद एक पाई जाने वाली गाँठों के सादृश्य के आधार पर वैदिक साहित्य में 'बाँस' के वाचक 'वंश' शब्द का 'ऋषियों अथवा आचार्यों की परम्परा' अर्थ विकसित हुआ। जैसा कि 'वंश' शब्द कुछ आरण्यक, उपनिषदों तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों में 'ऋषि-परम्परा' अर्थ में मिलता है। इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि वैदिक काल के पारिवारिक-जीवन में बाँसों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। 'वंश' शब्द के 'लाठी'-'बल्ली' 'छत की ऊपरी मुख्य बल्ली' आदि अर्थ से भी यह प्रकट होता है कि उन दिनों बाँसों का प्रयोग विशेषरूप से किया जाता था। 'बाँस' में एक के बाद एक पाई जाने वाली गाँठों के सादृश्य के आधार पर ही 'वंश-परम्परा अथवा कुल या खानदान' के लिए 'बाँस' का वाचक 'वंश'

शब्द प्रचलित हुआ। वस्तुतः 'कुल' और 'बाँस' के विकास का सादृश्य कुछ एक सा प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक बाँस से उसकी गाँठों से बहुत से बाँस फूट पड़ते हैं और फिर उनके औरय इस प्रकार यह क्रम प्रायः दोनों ही स्थलों पर जारी रहता है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि 'बाँस' के वाचक 'वंश' के अन्य जितने भी अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं, वे सभी बाँस के सादृश्य-भाव के आधार पर विकसित हुए हैं। किन्तु आजकल हिन्दी में 'वंश' शब्द का 'कुल' अर्थ ही अधिक प्रचलित है तथा अन्य अर्थ 'बाँस' लुप्त सा हो गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तत्सम 'वंश' शब्द में इतना अर्थ-भेद हो गया है, किन्तु उसके तद्भव रूप 'बाँस' में अधिक अर्थ-भेद नहीं हुआ है।

वत्स

हिन्दी में 'वत्स' पुं. शब्द 'बेटे' अर्थ में और दूसरे किसी भी बच्चे या आयु में पुत्र के समान व्यक्ति के लिए स्नेहपूर्ण सम्बोधन के रूप में प्रयोग पाया जाता है। ये अर्थ संस्कृत में भी पाए जाते हैं, किन्तु संस्कृत में 'वत्स' शब्द का मौलिक अर्थ है- 'बछड़ा'। ऋग्वेद में 'वत्स' शब्द का प्रयोग 'बछड़ा' अर्थ में ही पाया जाता है, जैसे- '**सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्।**' (रस्सी से बछड़े के समान वसिष्ठ को छोड़ दो)।[११]

बछड़ा गाय की प्रिय सन्तान होती है। अतः सादृश्य-भाव से कालान्तर में 'बछड़े' का वाचक 'वत्स' शब्द सामान्य रूप में 'किसी भी पशु के बच्चे या सन्तान' के लिए भी प्रचलित हो गया। आप्टे ने अपने शब्दकोश में 'वत्स' पुं. शब्द की व्युत्पत्ति (वद्+सः उणादिक प्रत्यय) मानी है।[१२]

अतः यह स्पष्ट है कि 'वत्स' शब्द का 'बेटा' अर्थ निश्चित रूप से इस 'बछड़ा' अर्थ से ही विकसित हुआ है। गाय का जो सम्बन्ध या आत्मीयता अपने बच्चे से होता है, वही माता-पिता का भी अपने पुत्र या पुत्री से होता है। अतः माता-पिता द्वारा अपने बच्चों को भी सादृश्य-भाव के कारण 'बछड़ा या बच्चे' के वाचक 'वत्स' शब्द द्वारा लक्षित किया गया। कालान्तर में भाषा-विकास के प्रभाव से 'बछड़ा' अर्थ का भाव लुप्त हो गया और 'वत्स' शब्द का अर्थ बेटा ही समझा जाने लगा। कालान्तर में और अधिक विस्तार हो जाने से अपने पुत्र-पुत्री के समान अन्य किसी भी स्नेह पात्र लड़के-लड़की या आयु में अपने पुत्र-पुत्री के समान किसी भी पुरुष या स्त्री को स्नेहपूर्वक सम्बोधन करते हुए 'वत्स' या 'वत्सा' कहा जाने लगा।

द्वारा

हिन्दी में 'द्वारा' अव्यय शब्द अधिकतर 'जरिये से, माध्यम से, साधन से' अर्थ में प्रचलित है (जैसे- अमुक व्यक्ति द्वारा, अमुक क्रिया या कार्य द्वारा आदि)। 'द्वारा' शब्द का मौलिक अर्थ है- 'दरवाजे से'। 'द्वारा' शब्द 'द्वार्' (दरवाजा) शब्द में 'द्वार्' स्त्री. शब्द (दृ+णिच्+विच्) तृतीया विभक्ति लगकर बना है। ऋग्वेद में दरवाजे के लिए 'द्वार' के अतिरिक्त 'द्वार्' शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है। 'द्वार्' शब्द रकारान्त है जिसका प्रयोग ऋग्वेद में बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, जैसे- '**विश्रयन्ताम् द्वारः।**' (दरवाजे खोल दिए जाएँ)। ऋग्वेद १.१३.६।

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति में भी 'द्वारा' शब्द का प्रयोग मिलता है।[१३] 'द्वारा' शब्द का 'जरिये से, माध्यम सा साधन से' अर्थ इस शब्द के 'दरवाजे से' अर्थ से सादृश्य-भाव के कारण विकसित हुआ है। क्योंकि दरवाजा किसी घिरे हुए स्थान, भवन या मकान आदि में प्रवेश करने का साधन होता है। साधन होने के सादृश्य-भाव से ही 'जरिये से, साधन से' के भाव को 'दरवाजे से' के वाचक

'द्वारा' (द्वार्– तृतीया विभक्ति एकवचन) शब्द द्वारा प्रयोग किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त 'द्वारा' शब्द के 'जरिये से, साधन से' अर्थ का प्रयोग भारत की अन्य भाषाओं में भी (बंगला, असमिया, उड़िया, तेलुगु आदि में भी) पाया जाता है।

प्रणाली

हिन्दी में 'प्रणाली' स्त्री. शब्द 'पद्धति, ढंग, रीति' अर्थ में प्रचलित है (जैसे– कार्यप्रणाली, शिक्षाप्रणाली, विचारप्रणाली आदि)। संस्कृत में प्रणाली शब्द का यह अर्थ नहीं पाया जाता। संस्कृत में 'प्रणाली' (प्र+नल्+घञ्+ङीष्) शब्द का मौलिक अर्थ है– 'नाली' अथवा 'जलमार्ग', जैसे – '**कौशल्या व्यसृजद्वाष्पं प्रणालीव नवोदकम्।**' (कौशल्या के नेत्रों से आँसुओं की धारा उसी भाँति बही, जिस भाँति नाली से वर्षा का जल बहता हो)।[१४] इसके अतिरिक्त शिशुपालवध तथा उद्धवसन्देश में भी 'प्रणाली' शब्द का 'नाली' या 'जलमार्ग' अर्थ प्राप्त होता है।[१५]

'प्रणाली' शब्द के 'नाली' 'पतनाला' या 'जलमार्ग' अर्थ से ही हिन्दी में प्रचलित 'पद्धति, ढंग, रीति' अर्थ का विकास हुआ है। 'नाली' अथवा 'पतनाला' पानी ले जाने का एक मार्ग अथवा साधन होता है। अतः सादृश्य–भाव से किसी कार्य को करने के मार्ग साधन अथवा ढंग को 'प्रणाली' कहा गया है। पहले 'प्रणाली' शब्द का प्रयोग आलङ्कारिक रूप में किया गया होगा। बाद में आलङ्कारिक भाव लुप्त हो जाने से 'प्रणाली' शब्द का 'पद्धति, ढंग, रीति' आदि सामान्य अर्थ बन गया। यह अर्थ हिन्दी के अतितरिक्त मराठी, गुजराती, बंगला, उडिया तथा नेपाली आदि भाषाओं में पाया जाता है।

इसी प्रकार अंग्रेजी के channek शब्द का 'कोई काम करने या कोई चीज कहीं भेजने का उचित, उपयुक्त और नियत मार्ग या साधन' अर्थ (जैसे– Through proper channel) भी 'प्रणाली' शब्द के वर्तमान अर्थ के समान ही विकसित हुआ है। जबकि 'चैनल' शब्द का मौलिक अर्थ है– 'जल के दो बड़े भागों को मिलाने वाला छोटा जल–मार्ग।'[१६]

सूत्र

हिन्दी में 'सूत्र' पुं. शब्द 'धागा, डोरा, थोड़े शब्दों में कहा हुआ पद जिसमें बहुत और गूढ़ अर्थ हों, सुराग (जैसे– इस घटना का 'सूत्र' मिल गया है), स्रोत (जैसे– विश्वस्त 'सूत्र' से ज्ञात हुआ है)' आदि अर्थों में प्रचलित है। संस्कृत में 'सूत्र' शब्द के 'धागा, डोरा' अर्थ तो पाए जाते हैं, किन्तु 'सुराग और स्रोत' अर्थ नहीं पाए जाते हैं।

संस्कृत में 'सूत्र' नपुं. शब्द का मौलिक अर्थ है– 'धागा, डोरा'। वैदिक[१७] एवं लौकिक–साहित्य[१८] में इन्हीं अर्थों में प्रचुर प्रयोग मिलता है। 'सूत्र' शब्द के 'धागा तथा डोरा' अर्थ से ही संस्कृत में 'तन्तु, यज्ञोपवीत, संक्षिप्त रूप में बनाया नियम या सिद्धान्त' आदि अर्थों का विकास हुआ है।

किसी 'संक्षिप्त पद, वचन या सिद्धान्त' को 'सूत्र' सादृश्य–भाव से कहा गया होगा, जैसे– कोई धागा या डोरा (सूत्र) अपने में पिरोई गई सभी वस्तुओं को सम्भाले रहता है, उनमें ओत–प्रोत रहता है, उसी प्रकार वह पद (सूत्र) भी उससे सम्बद्ध बहुत से भावों को अपने अन्दर सन्निहित रखता है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक ऐसा काल भी आता है, जिसमें अधिकतर ग्रन्थ सूत्र–शैली में लिखे गए, जैसे– आपस्तम्बसूत्र, बौधायनसूत्र, गृह्यसूत्र आदि। जहाँ तक 'सूत्र' शब्द का 'सुराग' तथा 'स्रोत' अर्थ ये भी इसी से ही विकसित हुए हैं। जैसे–गहन कार्य के छानबीन में या किसी उलझन में कोई उपाय, तरीका आदि का मिलना आलङ्कारिक रूप में 'सुराग तथा स्रोत' मिलना कहा गया, तत्पश्चात्

सादृश्य-भाव से 'सूत्र' कहा जाने लगा (जैसे-विश्वस्त सूत्र)।

सन्दर्भ-सूची :

१. अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरःसदा।। अर्थात् खुली जगहों, पवित्र-स्थानों और नदी के तीरों पर तथा निर्जन स्थानों में श्राद्ध करने से पितर सदा प्रसन्न होते हैं। मनुस्मृति ३.२०७

२. अस्माकमस्ति न कथंचिदिहावकाशः। पंचतन्त्र ४.८

३. अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितो ददौ। रघुवंशम् ४.५८

४. अन्यमवकाशमवगाहे। विक्रमोर्वशीयम्, अङ्क-४

५. अथ यान्यूर्ध्वानि क्रयादहानि तस्मिन्नवकाशेऽध्वर्युरग्निं चिनोति। क्वो हि चिनुयान्न च सोऽवकाशः।
"सोम खरीदने के बाद जो दिन होते हैं, उस 'बीच के समय' में अध्वर्यु अग्निचयन करता है। किन्तु वह कब चुने, यदि वह 'बीच का समय' न हो।" शतपथब्राह्मण ६.२.२.२९

६. 'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
'जिस प्रकार धूएँ से अग्नि और मैल से 'दर्पण' ढका जाता है।' भगवद्गीता ३.३८

७. बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम्। पंचतन्त्र १.३२८

८. महावीरचरितम् ५.४८ ९. नैषधीयचरितम् ७.९३, महावीरचरितम् ४.३५

१०. ऋग्वेद १.१०. ११. ऋग्वेद ७.८६.५

१२. आप्टेशब्दकोश। १३. मनुस्मृति ३.३८, याज्ञवल्क्यस्मृति ३.१२

१४. रामायण २.६२.१० १५. शिशुपालवध ३.४४

१६. Bhargava English Dictionary : Prof. R. C. Pathak, Varanasi.1981

१७. अथर्ववेद ३.९.३, शतपथब्रह्मण ३.२.४.१४, ७.३.२.१३, छान्दोग्योपनिषद् ६.८.२

१८. मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः। रघुवंशम् १.४

सन्दर्भ ग्रन्थसूची :

- कादम्बरी : बाणभट्ट, व्या. बाबूराम त्रिपाठी, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२००४
- कालिदास-ग्रन्थावली : व्या. पं. रामतेज शास्त्री, सं. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-२०१३
- तत्सम-शब्दकोश : केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली-१९९८
- तुलनात्मक भाषाशास्त्र : मंगलदेव शास्त्री, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-१९६२
- पंचतन्त्र : विष्णु शर्मा, टीका. गोकुलदास गुप्त, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२००६
- प्रामाणिक-हिन्दीकोश : रामचन्द्र वर्मा, हंसा प्रकाशन, जयपुर-२००५
- भार्गव आदर्श हिन्दी कोश : डॉ. रामचन्द्र पाठक, गंगा पुस्तकालय, वाराणसी-१९७१
- भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्रः डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-२००३
- शब्दकल्पद्रुम : राधाकान्त देव, नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-१९८७
- शब्दार्थ-विमर्श : देवनारायण मिश्र, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ-१९८०
- Bhargava English Dictionary : Prof. R.C. Pathak, Bhargava Book Depot, Chowk,Varanasi.1981

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

शांकरवेदान्त एवं रामानुजवेदान्त में जीवनमूल्य

डॉ. अवधेश प्रताप सिंह*

वेद मानव सभ्यता के आद्य वाङ्मय हैं। मन्त्र द्रष्टा ऋषियों की अन्तदृष्टि से अभिव्यंजित तथा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् रूप से चतुर्धा विभक्त वेदों से ही विश्व का समस्त ज्ञान-विज्ञान नि:सृत हुआ है। ज्ञाननिधि वेदों की ज्ञानराशि का चरमोत्कर्ष (पराकाष्ठा) ही वेदान्त है। **'वेदेन वेदस्य वा निर्णीतार्थः वेदान्तः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद प्रतिपाद्य सिद्धान्त ही 'वेदान्त' है। 'वेद+अन्त+वेदान्त' (वेद का प्रतिपाद्य सिद्धान्त) इस अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपनिषदों में उपलब्ध होता है। **'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः'** इस व्युत्पत्ति से 'वेदान्त' शब्द का व्यवहार मुख्य रूप से वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के लिए होता है तथा उपचार से शारीरकसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।[१] डॉ. राधाकृष्णन ने वेदान्त का मूल उपनिषदों को बताते हुए इसे वेदों का सार कहा है। उनके अनुसार उपनिषदों के वेदान्त कहलाने का मुख्य कारण यह है कि वेदों की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य और अभिप्राय उपनिषदों में ही मिलता है। **'काण्डत्रयात्मको वेदः'** इस उक्ति के अनुसार वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड रूप से काण्डत्रय प्रसिद्ध हैं। ज्ञान की विशेष विवेचना करने के कारण वेद का उपनिषद् भाग ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। बेलवल्कर के अनुसार वेदों में निहित ज्ञानकाण्ड की सम्यक् व्याख्या ही वेदान्त नाम से अभिहित साहित्य का परिचायक है।[२] दासगुप्ता का विचार है कि उपनिषद् महानतम बौद्धिक दर्शन के सत्य प्रतीक हैं तथा उपनिषदों का दर्शन ही वेदान्तदर्शन के नाम से प्रचलित है।[३] इस प्रकार वेदान्त वह शास्त्र है जिसमें वेदविहित सर्वोच्च ज्ञान का प्रकाशन हुआ है जिसका लक्ष्य परब्रह्मसाक्षात्कार या आत्मज्ञान की प्राप्ति है।

वेदान्त का आचार-शास्त्र उसके तत्त्व-दर्शन पर आश्रित है। चरम सत्य हमारा परम नि:श्रेयस् भी है। प्रो. राधाकृष्णन् ने वेदान्तिक आचार-दर्शन की बड़ी सुंदर व्याख्या की है- "कोई भी आचारशास्त्र तत्त्वदर्शन पर अर्थात् मानवीय आचार तथा चरम सत्य के एक दार्शनिक सिद्धान्त पर आश्रित होगा। चरम सत्य के विषय में हमारी भावना के अनुरूप ही हमारा आचरण होगा। दर्शन और आचरण साथ-साथ चलते हैं।"[४] नि:श्रेयस् हमारी साधना का चरम लक्ष्य ही नहीं, अपितु हमारे दैनिक जीवन का परम सिद्धान्त भी है। पूर्णता हमारी यात्रा का अवसान ही नहीं वरन् एक ऐसा सिद्धान्त है जो हमारी यात्रा के पग-पग पर क्रियाशील है और उसके कष्ट तथा कोलाहल को शान्ति और समन्वय में परिणत कर देता है। पश्चिमी आचारशास्त्र के विपरीत, जो अधिकांशतः मनुष्य के बाह्य आचरण की मीमांसा तथा उसके लिये एक बाह्य आदर्श के निर्धारण में संलग्न है, वेदान्तिक आचारदर्शन जीवन के प्रति एक साधु दृष्टिकोण में सनातन समस्याओं का समाधान प्राप्त करता है। प्रो. राधाकृष्णन् के मत में 'साधु भावना ही उच्चतम नैतिकता है।'[५]

अद्वैतवेदान्त में जिज्ञासु शिष्य को शास्त्र में प्रवृत्त होने से पूर्व कतिपय अनिवार्य योग्यताओं से युक्त होना पड़ता है। इन योग्यताओं से युक्त जिज्ञासु को अद्वैतवेदान्त में 'अधिकारी' की संज्ञा से अभिहित किया

* सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

जाता है। अधिकारी का लक्षण है– **''अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततो-ऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टय-सम्पन्नः प्रमाता।''**[६]

जो पुरुष इस जन्म अथवा जन्मान्तर में वेदों और वेद के अङ्गभूत शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कर सम्पूर्ण वेदार्थ का आपाततः ज्ञान प्राप्त कर लेता है; तथा काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके, नित्य–नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासना कर्मों के अनुष्ठान से समस्त कल्मषों को निवृत्त करके अपने अन्तःकरण को अत्यन्त निर्मल कर लिया है; साधनचतुष्टय से सम्पन्न ऐसा प्रमाता पुरुष ही वेदान्तविद्या का अधिकारी कहलाता है। राग–द्वेषादि कल्मषों की निवृत्ति होने पर साधक का अन्तःकरण निर्मलता को प्राप्त करता है। अधिकारित्व की प्राप्ति में साधनचतुष्टयसम्पन्नता नितान्त आवश्यक है। साधनचतुष्टय है–

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक (२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग (३) शमादिषट्कसम्पत्ति (४) मुमुक्षुत्व।

जिज्ञासु को ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक विषयों की अनित्यता को जानकर उनसे विरक्त हो जाना चाहिए। वैराग्य के पश्चात् उसे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा इन षटक्सम्पत्तियों का अनवरत अभ्यास करना चाहिए। इन्द्रियनिग्रह एवं मनोनिग्रह के उपरान्त ही साधक में मुमुक्षत्व की भावना का उदय होता है। एतदर्थ वह मुमुक्षु वेदान्तविद्या के ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के समीप ब्रह्मविद्या के उपदेश हेतु गमन करता है। गुरु का भी दायित्व है कि वह ऐसे अधिकार सम्पन्न जिज्ञासु को ही ब्रह्मविद्या का उपदेश करें।

आनन्द के विषय में औपनिषदिक विचारधारा को ही पल्लवित करने वाले अद्वैतवेदान्त दर्शन में संसार को दुःखमय बताकर ब्रह्म को आनन्दमय बताया है। तथा आनन्द को ब्रह्म के स्वरूप रूप में प्रतिपादित किया गया है। अद्वैतवेदान्त में आनन्द आत्मा के लिए विषय नहीं है, अपितु स्वरूप ही है। अतः आत्मा तथा आनन्द में प्रमाता–प्रमेयभाव या भोक्तृ–भोग्यभाव नहीं है इसी कारण मोक्षावस्था में उन्हें आनन्द के लिए किसी करण की आवश्यकता नहीं होती है। आनन्द आत्मा का स्वरूप ही है। अद्वैतदर्शन के महनीय आचार्य मण्डन मिश्र स्वग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि के मंगलाचरण में ब्रह्म की आनन्दरूपता का ख्यापन करते हुए कहते हैं–

आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम्।
असर्वं सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम्।।[७]

अद्वैतमतानुसार ब्रह्म निर्गुण सत्ता है। अतः ऐसी स्थिति में लोकप्रसिद्ध आनन्दादि गुणवाचक पदों से ब्रह्मगत आनन्दत्वादि गुणों का कथन न होकर ब्रह्मस्वरूपात्मक का ही अभिधान होता है; क्योंकि आनन्दत्वादि ब्रह्म का गुण न होकर उनका स्वरूप है। इस आनन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार से मुक्ति होती है। अद्वैतवेदान्त में आत्मा को आनन्द स्वरूप कहा गया है वह तार्किक दृष्टि से भी सम्यक् प्रतीत होता है; क्योंकि यदि आनन्द को आत्मा से भिन्न किसी विषय के रूप में देखा जाए तो आत्मा तथा उस आनन्द स्वरूप के विषय में संसर्ग की आवश्यकता होगी तथा संसार में संसर्ग से जहाँ भी सुख देखा गया है वह वस्तुतः दुःख ही है। अतः आत्मा आनन्द ही है तथा उस आनन्द के लिए असंगता की आवश्यकता है। आत्मा अहेय है तथा अनुपादेय है। असंग होने पर ही हमें अनन्त आनन्द की अनुभूति होती है। अद्वैतवेदान्त के भौतिक सुख दुःख तथा आनन्द के विषय में मत मानवीय मनोविज्ञान के अत्यधिक निकट पाए जाते हैं।

यतोहि मनुष्य का स्वभाव है कि वह दु:खनिवृत्ति के साथ अनिवार्यत: सुख प्राप्ति भी चाहता है। यथा मानव सूखी रोटी खाकर भी भूख मिटा सकता है तथापि वह घी के साथ रोटी खाकर अधिक प्रसन्न होता है। अद्वैतवेदान्त में मोक्षावस्था में दु:ख निवत्ति के साथ-साथ अनिवार्यत: आनन्दानुभूति प्राप्त होती है; जोकि आत्मस्वरूप ही है। अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का अन्य दर्शनों के परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव देखा जा सकता है। जिस कारण न्याय-वैशषिक, मीमांसा के भी परवर्ती काल के आचार्यों ने मुक्तावस्था में आनन्द को स्वीकार किया है।

कर्म सिद्धान्त न केवल दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से अपितु जीवन व्यवहार की दृष्टि से भी अत्यन्त मूल्यवान् सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का विचार अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। यह जीवन की शाश्वत् नैतिक मूल्यों के रूप में व्याख्या करता है। प्रो. राधाकृष्णन् का कथन है कि चेतना के नैरन्तर्य की अपेक्षा नैतिक मूल्यों के सरंक्षण से इस सिद्धान्त का अधिक प्रयोजन है।[८] अद्वैतवेदान्त मत में मोक्ष अकार्य होने के कारण कर्म-साध्य न होकर ज्ञान-साध्य है- **अकार्यत्वाच्च नि:श्रेयसस्य कर्मसाधनत्वानुपपत्ति:।**[९] कर्म के आरभ्य तथा अन्तवान् होने के कारण समस्त कर्म तथा कर्मफल क्षयशील होते हैं।[१०] मुण्डकोपनिषद् भाष्य में आचार्य शंकर का कथन है जीव अपने कृत कर्मों के फलों का उपभोग करके इसी भूलोक में पुनरागमन करता है।[११] कर्म तथा कर्मफल के विषय में उक्त सिद्धान्त ही इस धारणा का आधार है कि शांकरवेदान्त में कर्म को नितान्त निरुपादेय माना गया है। कर्म तथा ज्ञान को अन्धकार एवं प्रकाश के समान अत्यन्त विरुद्ध भी स्वीकार किया गया है।[१२] यह सत्य भी है कि अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की उपलब्धि में कर्म की चरम कारणता स्वीकृत है। किन्तु यह भी उतना हि सत्य है कि मोक्ष अथवा आत्मानुभव किसी साधन द्वारा साध्य नहीं है। मोक्ष यद्यपि बाह्यसाधनसाध्य नहीं है किन्तु आत्मानुभव के अनुकूल चित्तनैर्मल्य की अवाप्ति में कर्म को सहायक स्वीकार गया है। शांकरवेदान्त में वैदिक तथा नैतिक कर्मों को समुचित महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर का स्पष्ट कथन है कि समस्त कर्मों की उपेक्षा करके ज्ञान सम्भव नहीं है, समस्त शास्त्रविहित कर्म विद्योत्पत्ति में सहायक हैं, अत: अपेक्षित हैं।[१३] शांकरदर्शन में कर्म के मूल्य का महत्त्व इसी बात से प्रमाणित है कि शंकराचार्य की दृष्टि में विद्याविहीन कर्म भी नितान्त अनपेक्ष नहीं हैं।[१४] वस्तुत: वेदान्त मत में फलाकांक्षा से सम्पादित किए जाने वाले कर्मों का ही ब्रह्मसाक्षात्कार में को उपयोग नहीं है, शेष सभी कर्म आत्मानुभव में उपकारक हैं - **एवं काम्यकर्मवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वं आत्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते।**[१५] भगवद्गीताभाष्य में आचार्य का कथन है कि विविध आश्रमोचित कर्म निष्कामभाव से अनुष्ठित किए जाने पर सत्त्वशुद्धि के माध्यम से ज्ञान की योग्यता उत्पन्न करके आत्मानुभव एवं नि:श्रेयस् में उपकारक होते हैं - **'अभ्युदयार्थ: अपि य: प्रवृत्ति लक्षणो धर्मो वर्णाश्रमांश्चोद्दिश्य विहित: देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपिसन् ईश्वरार्पण बुद्ध्यानुष्ठितमान: सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति फलाभिसन्धिवर्जित: शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठा योग्यताप्राप्तिद्वारेणज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च नि:श्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते।'** फलाकांक्षा के त्यागपूर्वक कर्म करने से सत्त्वशुद्धि होती है तथा सत्त्वशुद्धि द्वारा शान्ति प्राप्त कर साधक आत्मदर्शन के योग्य होता है - **यस्तु अधिकृत: संगं त्यक्त्वा फलाभिसन्धिं च नित्यं कर्म करोति तस्य रागादिना अकलुषी क्रियमाणमन्त:करणं नित्यैश्च कर्मभि: संस्क्रियमाणं विशुद्ध्यति विशुद्धञ्च आत्मालोचनक्षमं भवति।**[१६] निष्काम भाव से अनुष्ठित नैतिक कर्म सत्त्व संस्कार के कारण होते हैं, सत्त्व संस्कार से समदृष्टि प्राप्त होती है जो ब्रह्मानुभव

के लिए आवश्यक है। शांकरवेदान्त में कर्म-सन्यास का तात्पर्य निष्क्रियता अथवा जड़ता कदापि नहीं है। शंकर ने कर्म-सन्यास एवं कर्मयोग में कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है- **सन्यासः कर्मणां परित्यागः कर्मयोगः च तेषां अनुष्ठानं तौ उभौ निःश्रेयसं मोक्षं कुर्वाते। ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन उभौ यद्यपि निःश्रेयसकरौ तथापि तयोः तु निःश्रेयसहेत्वोः कर्मसन्यासात् केवलात् कर्मयोगो विशिष्यते।**[१७] शारीरिक चेष्टा के निरोध द्वारा कर्ममुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती, अपितु निष्काम भावना से कर्म करने से ही नैष्कर्म्य-सिद्धि सम्भव है। प्रो. हिरियन्ना के अनुसार 'नैष्कर्म्य कर्म का त्याग नहीं अपितु कर्म में त्याग है।[१८] वैदिक कर्म तथा ईश्वरोपासना निष्काम तथा निःस्वार्थ भावना से अनुष्ठित होने पर मुमुक्षु की सत्त्वशुद्धि के कारण होते हैं।[१९] भगवद्गीताभाष्य में शंकर ने लोकसंग्रहार्थ कर्म को जीवन्मुक्त पुरुष का एकमात्र कर्तव्य माना है- **तस्य कर्मणि कर्मप्रयोजने च निवृत्ते अपि लोकसंग्रहार्थं यत्नपूर्वं यथा प्रवृत्तस्तथा एव कर्मणि प्रवृत्तस्थयत्प्रवृत्तिरूपकर्म दृश्यते न तत्कर्म। तत्त्ववित्तु न अहंकारोमीति न च तत्फलमभिधत्ते।**[२०] अतः यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि शांकरवेदान्त में यद्यपि कर्म स्वतः तथा स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का कारण नहीं है; किन्तु मोक्ष में कर्म की साक्षात् कारणता का निषेध कर्म के मूल्य एवं महत्त्व का निषेध नहीं है। परमतत्त्व के साक्षात्कार हेतु नैतिक कर्मों का आचरण अनिवार्य है और यही कर्म का उच्चतम मूल्य एवं महत्त्व है।

वेदान्त परम्परा में तत्त्वज्ञान के निरूपण के लिए 'प्रस्थानत्रयी' का आश्रयण लिया जाता है। जिसमें न्यायप्रस्थान का प्रतिनिधि शास्त्र 'ब्रह्मसूत्र' है। आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं जिन्होंने बादरायण के ब्रह्मसूत्र की विशिष्टाद्वैती व्याख्या करते हुए 'श्रीभाष्य' नामक महनीय ग्रन्थ की रचना की है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अनुसार सगुण ब्रह्म की परम सत्ता है जिसमें समस्त नानात्वमय जगत् समाहित है। ब्रह्म चित् और अचित् दोनों से विशिष्ट है और उसकी अद्वैतावस्था सविशिष्ट है। 'चित्' तत्त्व जीव या आत्मा का बोधक है जो कर्मों के कारण बन्धन को प्राप्त करता है। जीव की बन्धनमुक्ति साधना से सम्भव है। इस साधना में जीव को नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकार के प्रयास करने पड़ते हैं जिसके लिए विशिष्टाद्वैत मत में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को मुक्ति हेतु आवश्यक बताया गया है। कर्म से तात्पर्य वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के कर्तव्य हैं जिनका निष्कामभाव से पालन अनिवार्य है। ज्ञान से आशय उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम पदवाच्य सगुण-सविशिष्ट ब्रह्म का उपासनात्मक ज्ञान है। रामानुज के अनुसार '**विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत**' (बृह. ६.४.२१), '**अनुविद्य विजानाति**' (छा. ८.१२.६), '**आत्मानमेवलोकमुपासीत्**' (बृह. ३.४.१५) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में ध्यान, उपासना आदि शब्दों से कहा जाने वाला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। ध्येय तत्त्व की अविच्छिन्न चिन्तनधारा को ही 'ध्यान' कहा जाता है जो अनवरत अभ्यास से दर्शनसमानाकारता (प्रत्यक्षतापत्ति) को प्राप्त करने की स्थिति में '**ध्रुवानुस्मृति**' में परिणत हो जाती है। यह '**ध्रुवानुस्मृति**' ही मोक्ष की साधनभूता है जिसमें '**स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः**' (छा. ७.२६.२) यह श्रुतिवाक्य प्रमाण है। दर्शन के सदृश आकार वाली '**ध्रुवानुस्मृति**' ही रामानुज वेदान्त में 'भक्ति' कहलाती है जो कि मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। इस '**ध्रुवानुस्मृति**' की प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष इन सात साधनों के द्वारा होती है। जातिदोष, आश्रयदोष तथा निमित्तदोष से रहित अन्न के द्वारा शरीरशुद्धि को 'विवेक' कहते हैं। कामनाओं का अनभिष्वंग ही 'विमोक' है। परमात्मतत्त्व का चिन्तन करते रहना 'अभ्यास' है। स्वक्त्यानुसार पञ्चमहायज्ञ तथा आश्रमादि कर्मों का अनुष्ठान 'क्रिया' है। सत्य, ऋजुता,

दया, दान, अहिंसा तथा लोभराहित्य को समवेतरूप से 'कल्याण' कहते हैं। देशकाल के त्रैगुण्यवशात् मन की मलिनता पर नियंत्रण 'अनवसाद' है। देशकाल की अनुकूलता से जन्य अतिसन्तोष की भावना पर नियन्त्रण 'अनुद्धर्ष' है । 'ध्रुवानुस्मृति' की प्राप्ति के यही साधन विशिष्टाद्वैतवेदान्त के आचारशास्त्र की निर्मिति करते हैं तथा इन्हीं में एक साधक द्वारा आचरणीय उच्चतम जीवनमूल्य निहित हैं।

वेदान्त में न आचारदर्शन की सम्भावना का और न नैतिकता के मूल्य का निषेध किया गया है, वरन् उसमें दोनों को यथोचित स्थान और महत्त्व दिया गया है। किन्तु न वेदान्त में और न किसी अन्य भारतीय दर्शन में आचारशास्त्र को दर्शन से पृथक् किया गया है। दर्शन मनुष्य के जीवन और ज्ञान के चरम-सत्य की खोज का प्रतीक है। सत्य एक और अखण्ड है अत: दर्शन के किसी पक्ष की मीमांसा उसे पृथक् करके समुचित रीति से नहीं की जा सकती। अस्तु, वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शनों में आचार-दर्शन सम्बन्धी चिन्तन सामान्य दार्शनिक चिन्तन के ही अन्तर्गत है, उससे पृथक् नहीं। वेदान्तिक आचारदर्शन ने मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति पर जोर देकर जीवन की समस्या के मर्म का स्पर्श किया है। आध्यात्मिक सत्ता के साक्षात्कार में जीवन और जगत् की समस्त समस्याओं का समाधान है। आत्मा के एकत्व तथा उसके परिणाम-भूत स्वार्थों के समन्वय में ही स्वार्थों के विरोध का समाधान और आचरण का चरम आदर्श है। सर्वात्मभाव ही मनुष्य की सबसे बड़ी साधना और मानव-जाति की मुक्ति का उपाय है। एक बौद्धिक सिद्धान्त के रूप में नहीं वरन् जीवन के एक साक्षात् सत्य के रूप में एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रदान करके वेदान्त ने हमारे जीवन के समस्त प्रश्नों का अन्तिम उत्तर दे दिया है और उसकी प्राप्ति के लिये एक साधन-पद्धति का निर्देश कर सत्य का श्रेयस्तम मार्ग प्रशस्त किया है। आचारदर्शन का मूल आधार हमें अपनी मूल भावना तथा अन्तरात्मा में खोजना चाहिए। समस्त आचरण के लिये एक चरम आधार की खोज ही नैतिक समस्या का समाधान हो सकता है। जब जीवन के प्रति एक साधु दृष्टिकोण प्राप्त हो गया तो समस्त आचरण स्वाभाविक रूप से साधु होगा। जब नैतिक नियम हमारे व्यक्तित्व में अन्तर्भूत हो गया तो नैतिकता हमारे व्यक्तित्व की प्रकृति बन जाती है। जब हम अपने मूल स्वरूप के रूप में चरम सत्य का साक्षात्कार कर चुके तो श्रेय हमारा स्वभाव बन जाता है। कोई भी कर्म हम करेंगे वह स्वभावत: साधु होगा। जब अपनी आत्मा के साथ समस्त प्राणिजात की आत्मा के एकत्व का अनुभव कर हम सर्वात्मभाव की प्राप्ति कर चुके तो हमारा समस्त आचरण विश्व के नि:श्रेयस् के लिये होगा।

सन्दर्भ-सूची

१. वेदान्तो नामुपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि च शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसार १
2. Vedanta Philosophy, part I, p 10
3. A History of Indian Philosophy, Vol I, p 30
4. Eastern Religion & Culture, p 80
5. Indian Philosophy, Vol ii, p 629
६. वेदान्तसार, खण्ड १
७. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, कारिका १
८. Indian Philosophy, Vol. I, p. 251
९. गीताभाष्य १८.६७
१०. कृतस्य क्षय्यत्वात्। बृ. भा. १.४.१५
११. किंचितकाले स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यान्ति भूयोऽपि गच्छन्ति। शा. भा. १.२.७

१२. ज्ञानकर्मणोः विरोधं पर्वतवदकम्पम्। शा. भा. २

१३. अपेक्षते विद्या सर्वाप्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षेव। शा. भा. ३.४.६.

१४. तथापि नात्यन्तमनपेक्षं कर्माग्निहोत्रादिकम्। ब्रह्मसूत्रभाष्य ४.१.१८

१५. बृ. भा. ४.४.२२

१६. गीता भा. २.१८

१७. गीता भा. ५.२

१८. Outline of Indian Philosophy, P. 121

१९. सर्वमेतद् यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति। केन. भा. १.१

२०. गीताभाष्य ३.११

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

निरुक्त में भाषावैज्ञानिक तत्त्व : एक अध्ययन

डॉ. डॉली जैन*

मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए सर्वथा मौखिक साधन को अपनाता है, वह भाषा है। भाषा ही वह जीवन-ज्योति है जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती है। यह भाषा वस्तुतः मानव-शरीर में दैवी अंश है, जो इस सृष्टि में केवल मनुष्य मात्र को ही प्राप्त है।[१] यह दिव्य ज्योति ही समस्त संसार में अपना प्रकाश फैलाए हुए है। इस भाषा रूपी ज्योति के बिना संसार घोर अन्धकारमय होता।[२]

वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम ऋग्वेद में वाग् सूक्त के मन्त्रों में यह स्पष्ट किया है कि वाक्-तत्त्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है।[३] भाषा का महत्त्व स्वीकार करते ही भाषा विषयक अनेक जिज्ञासाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। जैसे भाषा क्या है? भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? भाषा कैसे बनती है? भाषा के सूक्ष्मतम अवयव क्या हैं? इनकी उच्चारण विधि क्या है? भाषाविज्ञान भाषा सम्बन्धी सभी प्रश्नों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। यह भाषा के उच्चारण, प्रयोग और उपयोग की शिक्षा देता है। भाषा के विभिन्न अंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। भाषा के सर्वांगीण विवेचन के साथ ही उसे जीवनोपयोगी भी बनाता है।

भाषाविज्ञान नाम यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों की देन है। परन्तु यह विषय बहुत प्राचीन है। प्राचीन भारत में भाषा विषयक विभिन्न अंगों के अध्ययन के लिए अलग-अलग शब्द प्रचलित थे। यथा - शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, प्रातिशाख्य आदि। इनमें से यास्ककृत निरुक्त में भाषावैज्ञानिक तत्त्व मेरे शोधपत्र का विषय है। निरुक्त व्युत्पत्तिविज्ञान का आदि ग्रन्थ है। संसार में इससे प्राचीन व्युत्पत्ति-विज्ञान का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है।

निरुक्त का अर्थ है - निर्वचन, अर्थात् शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय का विवेचन करना। इस प्रकार निरुक्त निर्वचन शास्त्र और व्युत्पत्ति शास्त्र है। व्युत्पत्ति में एक ओर धातु या प्रकृति है, दूसरी ओर प्रत्यय। इसको दूसरे शब्दों में अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व कह सकते हैं। पद विज्ञान के अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्वों का प्रारम्भिक विवेचन निरुक्त में मिलता है। निरुक्त की परिभाषा में इसके पाँच प्रतिपाद्य विषय बताए गए हैं- (i) वर्णागम (ii) वर्ण-विपर्यय (iii) वर्ण-विकार (iv) वर्ण-नाश (v) धातुओं का अर्थ विस्तार।[४]

उपर्युक्त पाँच विषयों में भाषाविज्ञान के तीन तत्त्वों का समावेश है। ध्वनि-विज्ञान, पद-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान।

सम्प्रति यास्ककृत निरुक्त ही इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध है। यास्क का समय ८०० ई.पू. के लगभग माना जाता है। यास्क से प्राचीन १७ निरुक्तकारों के नाम मिलते हैं, परन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

निरुक्त के तीन विभाग हैं – नैघण्टुक काण्ड, नैगम काण्ड और दैवत काण्ड।

आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमन्तथा।
तृतीयं दैवतं चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः।। (अनुक्रमणिका भाष्य)

प्रथम नैघण्टुक काण्ड में कुल १३४१ शब्द हैं। यह काण्ड 'गौः' पद से आरम्भ होकर 'अपारे' पद पर पूरा होता है। जैसा कि कहा गया है– **गौराद्यपारपर्य्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम्।** (अनुक्रमणिका भाष्य)।

द्वितीय नैगम काण्ड में कुल २७८ शब्द हैं। इसमें पहला शब्द 'जहा' और अन्तिम 'ऋबीसम्' है। जैसा कहा गया है– **जहाद्युल्ब मृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते।** (अनुक्रमणिका भाष्य)।

तृतीय काण्ड में प्राधान्य से स्तुतियों वाले देवताओं के ही नाम हैं। इनकी संख्या १५१ हैं। इसमें पहला नाम 'अग्निः' और अन्तिम नाम 'देवपत्न्य' है। जैसा कहा गया है:– **अग्न्यादि देवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते।** (अनुक्रमणिका भाष्य)।

इन तीनों काण्डों में भाषाविज्ञान के अनेक तत्त्व उपलब्ध होते हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है–

(१) अर्थ का महत्त्व

आचार्य पाणिनि ने भाषा का सार 'अर्थ' माना है, अतः 'अर्थवान्' या सार्थक शब्दों को ही 'प्रातिपदिक' (मूल संज्ञा शब्द या प्रकृति) माना है।[५]

यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त में निर्वचन, निरुक्ति का आधार ही अर्थ को माना है। अर्थज्ञान के बिना निर्वचन असम्भव है।[६] यास्क ने कई स्थानों पर अर्थ का महत्त्व घोषित किया है। उनका कथन है कि जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता, वह ठूँठ है, भारवाहक पशु है। जो अर्थ जानता है, उसे ही समस्त कल्याण प्राप्त होता है। वही ज्ञान की ज्योति से पापों को नष्ट करके ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।[७] वैदिक मन्त्रों को पढ़कर भी अर्थ को न जानने वाले का वेदाध्ययन वैसे ही निष्फल है जैसे शुष्क ईंधन भी अग्निरहित स्थान में प्रज्वलित नहीं होता।[८] यास्क ने अर्थ को वाणी का फल–फूल माना है।[९]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषा की सार्थकता अर्थ से है। अर्थ ही भाषा का सर्वस्व है। इसके अतिरिक्त यास्क ने निर्वचन की पद्धति को जो अपनाया था, वह किसी न किसी तरह से अर्थ तक पहुँचने की ही प्रक्रिया थी।

(२) पदविभाजन

यास्क ने सर्वप्रथम पद विभाजन प्रस्तुत किया है। उन्होंने पद के चार प्रकार बताए हैं– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।[१०] क्रिया जहाँ प्रधान हो, उसे आख्यात एवं जिसमें द्रव्य प्रधान हो, उसे नाम कहते हैं।[११] यास्क अपने अभिमत चार पदों में दो–दो को मिलाकर दो भाग करते हैं। उन्होंने 'नामाख्याते' और 'उपसर्ग–निपाताः' दो–दो नामों को द्वन्द्व समास से जोड़ दिया है।

इनमें नाम और आख्यात को पहले कहने के कारण इनकी प्रधानता प्रतीत होती है। नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात की सहायता के बिना भी अपने अर्थ को कह देते हैं, किन्तु उपसर्ग और निपात उनके सामीप्य के बिना अपना अर्थ प्रकाशित नहीं करते, इसी कारण नाम व आख्यात दोनों प्रधान और उपसर्ग एवं निपात अप्रधान हैं।

नाम और आख्यात परस्पर आकांक्षा रखते हैं, इसी से आचार्य ने इनका समस्त निर्देश किया है जैसे– 'यज्ञदत्तः' यह नाम तभी तक साकांक्ष है, जब तक 'पचति' 'पठति' इत्यादि आख्यात उसके साथ न जोड़े

जाएँ। तथा 'पचति' यह आख्यात शब्द तभी तक सापेक्ष है, जब तक 'यज्ञदत्त:' यह नाम शब्द उसके साथ न जोड़ा जाए। इनके इस नित्य सम्बन्ध को सूचित करने के लिए इनका समास निर्देश किया गया है।

'उपसर्ग-निपाता:' इनका पृथक् एक समास में संयोजन इस प्रयोजन से किया गया है कि ये दोनों नाम और आख्यात के अर्थ विशेष के द्योतन (प्रकाशन) रूप समान कार्य को करते हैं।[१२]

(३) धातुज सिद्धान्त

आचार्य यास्क के अनुसार शब्दों के अर्थ से पहले उसमें धातु को अवश्यक ढूँढ़ना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक शब्द धातु से निष्पन्न माना गया है।[१३] इस धातुज सिद्धान्त को लेकर यास्क ने उपसर्ग व निपातों के भी स्वतन्त्र अर्थ कर डाले हैं।[१४] यास्क के अनुसार कुछ शब्द नियत (निश्चित) अर्थ को प्रकाशित करते हैं तो कुछ शब्दों के अर्थ परिवर्तित भी होते हैं। कभी-कभी लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत के अर्थ में भी भिन्नता होती है। जैसे 'दमूना' शब्द लोक में 'दमु' उपशमे के अर्थ में दाम्यति होता है वहीं वेद में 'दमूना' शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त होता है। दमूना शब्द के निर्वचन में यास्क ने कहा है – **''दमूना दममना दानमना वा दान्तमनावापि वा दम इति गृहनाम्।''** यह शीतादि का दमन करता है, शमन करता है, इसलिए इसे दमूना कहा जाता है।[१५]

यास्क के अनुसार जब शब्द में क्रिया या भाव की प्रधानता होती है, तब उसे क्रिया वाचक शब्द (आख्यात) कहते हैं। शब्द में जब सत्त्व या द्रव्य की प्रधानता होती है तो उसे संज्ञा (नाम) शब्द कहते हैं। जैसे – गम् धातु से संज्ञा शब्द गति, गमन आदि और क्रिया शब्द गच्छति आदि बनते हैं।[१६]

(४) निर्वचन पद्धति

निर्वचन के लक्षण के बिना शब्दों की व्याख्या नहीं हो सकती इसी कारण यास्क ने निर्वचन का लक्षण किया है। जिस व्युत्पत्ति या व्याख्या के द्वारा शब्द का अर्थ, उसके भागों (प्रकृति-प्रत्यय आदि को) से प्रतीत हो जाए, उस व्याख्या को निर्वचन कहते हैं।[१७]

निर्वचन में विभिन्न देश की भाषाओं का परिज्ञान होना चाहिए। कुछ देशों में धातु शब्दों की प्रकृति ही बोली जाती है और कुछ देशों में विकृति। धातु का आख्यात पद के रूप में प्रयोग प्रकृति कहलाता है। नाम के रूप में जो धातु का प्रयोग होता है, वह उसकी विकृति है। जैसे 'शवति' क्रिया रूप गति अर्थ में कम्बोज या म्लेच्छ देश में ही बोला जाता है। 'कम्बोज' नाम से कम्बलों का सेवन करने वाले या सुन्दर पदार्थों को खाने वाले बोले जाते हैं। कम्बल नाम वाञ्छनीय का होता है। इस 'शवति' धातु की 'शव' इस विकृति या नाम पद को आर्य देश में बोलते हैं। दाति-क्रिया छेदन अर्थ में प्राच्य या पूर्वी देशों में बोली जाती है। दात्र जो इस की विकृति है वह उदीच्च या उत्तरी देशों में बोली जाती है।[१८]

(५) ध्वनि परिवर्तन की दिशाएँ

मुख-सुख, प्रयत्नलाघव, क्षिप्रभाषण, स्वराघात, अज्ञान, भावुकता आदि कारणों से कतिपय शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन होता है। यह प्रक्रिया प्राचीन काल से चल रही है और आज भी विद्यमान है।

काशिकाकार वामन – जयादित्य ने निरुक्त की ५ विशेषताएँ बताते हुए (i) वर्णागम (ii) वर्ण विपर्यय (iii) वर्ण विकार (iv) वर्णनाश (v) धातु का अर्थान्तर से योग का उल्लेख किया है।[१९]

पतंजलि ने महाभाष्य में (i) वर्ण व्यत्यय (ii) वर्ण नाश (iii) वर्ण-उपजन (वर्णागम) और (iv) वर्णविकार इन चार ध्वनि परिवर्तनों का सोदाहरण उल्लेख किया है।[२०]

निरुक्तकार यास्क ने भी ध्वनि परिवर्तन की कुछ दिशाओं का उल्लेख किया है। उन्होंने आदि शेष,

आदि लोप, अन्तलोप, उपधालोप, उपधा-परिवर्तन, वर्णलोप, द्विवर्णलोप, आदि-विपर्यय, अन्त-विपर्यय, आद्यन्तविपर्यय, अन्तिम वर्ण-परिवर्तन, वर्णोपजन (वर्ण का आगम) आदि वर्ण परिवर्तन की दिशाओं का उल्लेख किया है।[२१]

इसके उदाहरणों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है –

	उपाय का नाम	उदाहरण	व्यवस्था
(१)	आदिलोप।	स्तः। सन्ति।	यह दोनों प्रयोग 'अस्' धातु के होते हैं। इनमें धातु के आदि 'अ' का लोप हो जाता है। जहाँ वृद्धि या गुण नहीं हो सकता।
(२)	अन्तलोप।	गत्वा। गतम्।	यह दोनों शब्द 'गम्' धातु से बनते हैं, इनमें गम् के अन्त 'म्' का लोप होता है।
(३)	उपधालोप।	जग्मतुः। जग्मुः।	यहाँ दोनों स्थानों में 'गम्' धातु के 'ग-अ-म्' में से 'अ' का लोप होता है। अन्त से पहले अक्षर को उपधा कहते हैं।
(४)	उपधा विकार।	राजा। दण्डी।	इन दोनों में उपधा 'अ' तथा 'इ' को दीर्घ होता है। राजन् (र्-आ-ज्-अ-न्) दण्डिन् (द्-अ ण् ड् इ न्) पहले में 'अ' और दूसरे में 'इ' उपधा है। यहाँ 'अ' 'आ' से और 'ई', 'ई' से बदलता है। दीर्घ होते ही अन्त 'न्' का लोप हो जाता है।
(५)	वर्णलोपः।	तत्वायामि।	यह वैदिक उदाहरण है, यहाँ 'याचामि' का 'यामि' रह गया है। 'चा' का लोप होता है। लोक में इसके स्थान में 'याचे' पद बनता है।
(६)	द्वि वर्णलोप	तृचः।	'त्रि-ऋच्' दो शब्दों से 'तृ च्' बनता है। यहाँ – 'त्रि' (त्-र्-इ) में और र् इ का लोप होने पर त्, ऋच के ऋ से मिल जाता है। व्याकरण में यह संपप्रसारण के द्वारा होता है उसी का यह स्पष्टीकरण है।
(७)	आदि विपर्यय।	ज्योतिः। घनः। विन्दुः। वाट्यः।	द्युत् दीप्तौ धातु के द् का ज् बनने से ज्योतिः सिद्ध होता है। हन् हिंसा गत्योः इस धातु से 'घनः', 'भिदिर्' 'बिदारणे' (रु. उ.) धातु से 'विन्दुः' और 'भट' भृ तौ (भ्वा. प.)धातु से 'वाट्यः' बनता है।
(८)	आद्यन्तविपर्यय।	स्तोकाः। रज्जुः। सिकताः। तुर्कु।	'श्चुत्तिर' क्षरणे (भू. प.) धातु के आदि तथा अन्त दोनों अक्षरों का परिवर्तन होने से 'स्तोक' शब्द बनता है। ऐसे – सृज्' विसर्गे (दि. आ. तु.

		प.) धातु से 'रज्जुः', 'क्स' विकसने धातु से 'सिकता' और 'कृती' छेदने (तु. प.) धातु से तर्क शब्द बनता है।
(९) अन्तव्यापत्ति	(क) ओघः।	'वह' (भू. उ.) प्रापण, अन्त 'ह' का घ्।
	(ख) मोघः।	मिह (भू. पू.) सेचने, अन्त 'ह्' का घ्।
	(ग) नाधः।	णह (दि. प.) बन्धने, अन्त ह् का ध्।
	(घ) गाधः।	गाह् (भू. आ.) विलोडने अन्त ह का ध्।
	(ङ) वधू।	वह (भू. उ.) प्रापणे, अन्त ह् का ध्।
	(च) मधु।	मद (चु. आ.) तृप्तौ अन्त द् का ध्।
(१०) वर्णोपजन।	(क) आस्थत्	'असु' (दि. प.) क्षेपणे, थ् का आगम।
(वर्ण की उत्पत्ति या आगम)	(ख) द्वारः।	वृङ् (क्रया. आ.) संभक्तौ, द् का आगम।
	(ग) भरुज।	भ्रस्ज (तु. उ.) पाके, ऊ का आगम।

(६) शब्दों का नामकरण

यास्क ने शब्दों के नामकरण पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इसमें यौगिक और रूढ़ शब्दों का विवेचन शास्त्रीय ढंग से किया गया है। यौगिक अर्थात् निर्वचनमूलक, शब्दव्युत्पत्ति के अनुरूप और रूढ़[२२] अर्थात् परम्परा प्राप्त या प्रचलित शब्द। कतिपय यौगिक शब्द व उनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है–

(१) अग्नि- अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः।[२३]

अर्थात् यह यज्ञों में सर्वप्रथम स्थापित किए जाते हैं, इसी से याज्ञिक कार्य प्रारम्भ होते हैं, यह अग्नि तृण, काष्ठ आदि किसी भी पदार्थ को आश्रय देता हुआ आत्माधीन कर लेता है, अतः यह अग्नि है।

(२) देव- देवोदानाद्वा। दीपनाद्वा। द्योतनाद्वा। द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता।[२४] अर्थात् देव दान देने के कारण, दीपनकर्त्ता होने से या प्रकाशक होने से या द्युलोक में रहने के कारण देव कहलाते हैं।

(३) इन्द्र- इन्द्र इरां दृणातीति वा। इरां ददातीति वा। इरा दधातीति वा। इरां दारयत इति वा। इरां दाधारयत इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा। इन्दौ रमत इति वा इन्धे भूतानीति वा। तद् यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तद् इन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते।[२५] इरा अन्न को कहते हैं। उस अन्न का आधार जल है तथा जल का आधार मेघ है। जो उस मेघ को फाड़कर उससे जल को बरसाता है, वह इन्द्र है। या अन्न के बीज को आर्द्र करके वर्षा के जल से उन्हें अंकुरित करता है, वही इन्द्र है।

(४) वास्तोष्पति- वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः तस्य पाता वा पालयिता वा।[२६] वास्तु शब्द निवासार्थक वस् धातु से बना है, ब्रह्म मुहूर्त में चलने वाली व रोगों का हरण करने वाली वायु वास्तोष्पति वायु है।

(५) वातः- वातो वातीति सतः।[२७] गति करने के कारण यह वायु है।

(६) इन्दु- इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा।[२८] इन्दु शब्द 'ञि इन्धी' दीप्तौ धातु से या उन्दी क्लेदने धातु से बना है।

चन्द्रमा में दीप्ति व क्लेदन (आर्द्र करना) दोनों है।

(७) प्रजापति- प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा।[२९] प्रजाओं की रक्षा करने वाला व पालन करने वाला ही प्रजापति है।

इस प्रकार निरुक्त में भाषाविज्ञान के अनेकानेक तत्त्वों का वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है। प्रस्तुत शोधपत्र का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है –

१. इसमें सर्वप्रथम पद विभाजन प्रस्तुत किया गया है। पद के चार प्रकार बताए गए हैं – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

२. यह अर्थविज्ञान का आदि स्रोत है। शब्दों के निर्वचन आदि में अर्थ के महत्त्व पर सर्वप्रथम यास्क ने बल दिया है।

३. ध्वनिविज्ञान की विविध विशेषताओं – वर्ण विकार, वर्ण लोप, वर्ण विपर्यय, वर्णागम, आदि-लोप, अन्तलोप, उपधालोप, द्विवर्णलोप आदि का सर्वप्रथम निरुक्त में वर्णन हुआ है।

४. इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निरुक्त व्युत्पत्तिशास्त्र, भाषाविज्ञान और अर्थ विज्ञान का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है। जैसा कि यास्क ने स्वयं कहा है- **तदिदं विद्यास्थानम्। व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्। स्वार्थसाधकञ्च।** (निरुक्त – १/५)। यह विद्या का स्थान है। ज्ञान का साधन है। व्याकरणशास्त्र का पूरक है तथा अपने प्रयोजन का साथक है।

सन्दर्भ-सूची

१. वागूरूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।। वाक्यपदीयम् १०.१२४

२. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।। काव्यादर्श १.४

३. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तु तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।। ऋग्वेद १०.१२५.५

४. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।। काशिका ६.३.१०९

५. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। अष्टाध्यायी १.२.४५

६. अर्थनित्यः परीक्षेत। निरुक्त २.१

७. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।। निरुक्त १.१८

८. यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित्। निरुक्त, पृ. २०५

९. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। निरुक्त १.२०

१०. तद्यान्येतानि चत्वारिपदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति। निरुक्त १.१

११. भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरुक्त १.१

१२. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः।
नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतकाः भवन्ति।। निरुक्त १.१

१३. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। महाभाष्य ३.३.१, वा. १

१४. (i) आ इत्यर्वागर्थे। प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्याभिमुख्यम्। प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति सु

इत्यभि पूजार्थे। निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ। उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकी भावम्। वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अनु इति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उप इत्युपजनम्। परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावम्। ऐश्वर्यं वा। एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। ते उपेक्षयितव्याः। निरुक्त १.१

(ii) अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे अपि कर्मोपसंग्रहार्थे, अपि पदपूरणाः। निरुक्त १.२

१५. (i) दाम्यते शाम्यतेऽनेन शीतादिरिति। अग्निः अतिथि व दमूनाः।। निरुक्त, मुकुन्द झा, पृ. सं. ३६
(ii) दमूनाः क्षेत्रसाधाः इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। निरुक्त २.१

१६. भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्व प्रधानानि नामानि। निरुक्त १.१

१७. अथ निर्वचनम्। तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां, तथा तानि निर्ब्रूयात्। निरुक्त २.१

१८. शवतिर्गति कर्मा, कम्बोजेषु एव भाष्यते। कम्बोजाः, कम्बलभोजाः, कमनीय भोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु। निरुक्त २.१

१९. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।। काशिका ६.३.१०९

२०. वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेषु अर्थदर्शनात्। वर्ण-व्यत्यये-कृतेस्तर्कः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः। अपायो लोपः हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्। उपजन आगमः लविता, लवितुम्। विकार आदेशः – घातयति, घातकः। महाभाष्य, नवाह्निक, आ. २, वार्तिक ७६ पर।

२१. 'प्रत्तम्' 'अवत्तम्' – इति धात्वादी एव शिष्येते। अथापि अस्तेर्निर्वृत्तिस्थानेषु आदि लोपो भवति। स्तः, सन्तिः, इति। अथापि अन्त लोपो भवति। गत्वा, गतम्, इति। अथापि उपधा लोपो भवति। जग्मतुः, जग्मुः इति। अथापि उपधा विकारो भवति। राजा, दण्डी, इति। अथापि वर्ण लोपो भवति। "तत्वा यामि" इति। अथापि द्विवर्ण लोपः। तृचः इति। अथापि आदि विपर्ययो भवति। ज्योतिः, घनः, विन्दुः, वाट्यः, इति। अथापि आद्यन्त विपर्य्ययो भवति। स्तोकाः। रज्जुः। सिकताः। तर्कु, इति। अथापि अन्तव्यापत्तिर्भवति। ओघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मधु इति। अथापि वर्णोपजनः, – 'आस्थत्' 'वारः' भारुजाः' इति। निरुक्त २.१

२२. व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढ़ा आखण्डलादयः। संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. सं. ८३०

२३. निरुक्त ७.१४

२४. निरुक्त ७.१५

२५. निरुक्त १०.४

२६. निरुक्त १०.९

२७. निरुक्त १०.२२

२८. निरुक्त १०.२७

२९. निरुक्त १०.२८

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- निरुक्तम् (निघण्टुसहितम्) भाग I व II : पं. सीताराम शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, च. सं. २००५
- निरुक्तम् : डॉ. देवेन्द्र नाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर, २००७

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

मातृभाषा शिक्षा का माध्यम है

डॉ. पूनम गुप्ता*

सारांश

वर्तमान समय में भाषा एक चर्चा का विषय बन गया है। विश्व में लगभग ४० वर्षों में १५० अध्ययनों का निष्कर्ष है कि मातृभाषा में ही शिक्षा होनी चाहिए। क्योंकि बालक माता के गर्भ से ही मातृभाषा सीखता है। भारतीय वैज्ञानिक सी. वी. श्रीनाथ शास्त्री के अनुभव के अनुसार अंग्रेजी माध्यम से इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त करने वाले की तुलना में भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़े छात्र अधिक वैज्ञानिक अनुसंधान करते हैं। सर आइजेक पिटमैन ने कहा है कि संसार में यदि कोई सर्वाङ्गपूर्ण लिपि है तो वह देवनागरी है। विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाई, अनुसंधान पुस्तक आदि आधुनिकता के विरुद्ध है; क्योंकि आधुनिक ज्ञान समाज के सभी वर्गों तक अपनी भाषा में ही पहुँचाया जा सकता है। मातृभाषा सीखने-समझने एवं ज्ञान की प्राप्ति में सरल है। पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम ने स्वयं के अनुभव के आधार पर कहा है कि ***''मैं अच्छा वैज्ञानिक इसलिए बना, क्योंकि मैंने गणित और विज्ञान की शिक्षा मातृभाषा में प्राप्त की।''*** *अंग्रेजी भाषा माध्यम से पढ़ाई में अधिक श्रम करना पड़ता है। इसी प्रकार, विश्व कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है- यदि विज्ञान को जन-सुलभ बनाना है तो मातृभाषा के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए। महात्मा गाँधी ने ठीक कहा है-* ***''बच्चों के मानसिक विकास के लिए मातृभाषा उतनी ही आवश्यक है जितना शारीरिक विकास के लिए माँ का दूध।''*** *विभिन्न आयोगों, समितियों और परिषदों द्वारा प्रस्तुत किए गए सुझावों में एक सुर में क्षेत्रीय भाषाओं या मातृभाषाओं को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है।*

प्रस्तावना

जब से मानव अस्तित्व में आया तब से ही भाषा का उपयोग कर रहा है चाहे वह ध्वनि के रूप में हो या सांकेतिक रूप में या अन्य किसी रूप में। भाषा हमारे लिए बातचीत का माध्यम है। इसके द्वारा हम अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं। बातचीत कर सकते हैं, दूसरे लोगों के विचार सुन सकते हैं। यह बिल्कुल सही है; क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज का निर्माण मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग से होता है। समाज में रहते हुए मानव आपस में अपनी इच्छाओं तथा विचारों का आदान-प्रदान करता है। विचारों को व्यक्त करने के लिए उसे भाषा की आवश्यकता होती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जिस ध्वनियों द्वारा मनुष्य आपस में विचार विनिमय करता है उसे भाषा कहते हैं। भाषा के साथ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भाषा केवल ध्वनि से व्यक्त नहीं होती, संकेत तथा हाव भावों से भी व्यक्त होती है। अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव ने अपने लिए भाषा की कल्पना की है। उसके विकास के

* सहायक प्राध्यापिका, देलही टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, नई दिल्ली-४३।

क्रम में भाषा का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि भाषा के ही सहारे वह बहुत सी बातें सीख लेता है। भाषा मानसिक विकास के प्रयोग का एक साधन बन जाती है।

भाषा सीखने के उद्देश्य

भाषा तर्क का साधन है अपने भावनाओं और विचारों की व्यक्ति में भाषा की सहायता के बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता। इसलिए शिक्षा का यह भी उद्देश्य होता है कि बच्चे को अपनी भाषा के प्रयोग का अच्छा ज्ञान हो जाए। किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए हमें उस देश की भाषा को सीखना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि भाषा में ही उस देश की सारी बातें मिल सकती है। इस प्रकार भाषा के विकास को समझना किसी भी शिक्षक के लिए आवश्यक है इस समझ के आधार पर ही बालक के भाषा–विकास के लिए आवश्यक उपकरणों का वह आयोजन कर सकेगा। बालक के व्यक्तित्व तथा सामाजिक विकास में भाषा का बड़ा भारी हाथ रहता है। भाषा का विकास व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास से सम्बन्धित होता है। तभी तो हम देखते हैं कि एक निश्चित शारीरिक और मानसिक प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर ही बालक भाषा का प्रयोग प्रारम्भ करने में समर्थ होता है। जबतक उसके कण्ठ के अवयव अच्छी तरह से प्रौढ़ नहीं हो जाते शब्दों का स्पष्ट उच्चारण वह नहीं कर पाता।

मातृभाषा–शिक्षा का माध्यम

स्वामीनाथ अय्यर की रिपोर्ट के अनुसार, बच्चों को सीखने के लिए सर्वाधिक सरल भाषा वही है जो वह घर में बोली जाने वाली भाषा सुनते हैं, यही मातृभाषा है। भारत में अनेक भाषा हिन्दी, मराठी, तमिल, गुजराती, तेलगू, बंगला, कन्नड़ आदि सभी मातृभाषाएँ ही है। इसलिए भारत बहुभाषी देश है और इसकी सभी भाषाओं और बोलियों को मातृभाषा की संज्ञा दी जा सकती है। मातृभाषा से बच्चों का परिचय घर और परिवेश में ही शुरु हो जाता है। इस भाषा में बातचीत करने और समझने–समझाने की क्षमता के साथ बच्चे विद्यालय में प्रवेश करते हैं। मगर उनकी इस क्षमता का प्रयोग पढ़ाई के माध्यम के रूप में मातृभाषा का चुनाव करके किया जाए तो इसके सकारात्मक परिणाम देखने को मिलते हैं। कई बार ऐसा देखा गया है कि अंग्रेजी माध्ययम विद्यालयों में हिन्दी बोलने पर जुर्माना लगता है। इसका अर्थ यह है कि हम बच्चों को उनके अपने परिवेश, संस्कृति और उनकी जड़ों को ही सूझ–बूझ तरीके से उन्हें, उनके ही बचपन से विग्रहित कर देते हैं और एक दिन हमें अहसास होता है कि हम अपनी ही जड़ों से अजनबी हो गए हैं।

मातृभाषा की आवश्यकता

भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा मानव समूहों में विभिन्न सदस्य अपने विचारों को आदान प्रदान करते हैं तथा सामाजिक अन्तः क्रियाओं में सहयोग प्रदान करते हैं। भाषा का विकास क्रमिक रूप से होता है। बालक एक वर्ष की आयु के पश्चात् शब्दों को बोलने का प्रयास करता है। इसलिए उसमें भाषा का विकास इसी उम्र से किया जाना चाहिए। भाषा का शिक्षा से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा विकास दो स्तरों पर होता है, एक स्तर पर अन्य भाषाओं के तत्त्व मिलते हैं। शब्द भंडार घटता–बढ़ता है, भाषा के प्रयोग की परिधि विस्तृत होती है। इसे हम भाषा का रूप–सम्बन्धी विकास कह सकते हैं। दूसरी ओर, सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुसार उसकी प्रदर्शन करने की क्षमता बदलती है, वह एक नए स्तर की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती है। इसे हम भाषा का विषय वस्तु सम्बन्धी विकास कह सकते हैं। दोनों ही तरह का विकास सामाजिक कारणों से होता हैं। बाह्य अन्तर्विरोधों से साधारणतः रूप सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं। समाज में अपने अन्तर्विरोधों से बिषयवस्तु सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं। ये दोनों तरह के अन्तर्विरोधों

से परस्पर सम्बन्धित है। इस भाषा का रूप सम्बन्धी परिवर्तन उसकी अभिव्यंजना क्षमता से अलग नहीं होता है। विकास की दोनों धाराएँ कभी सम्मिलित और कभी असम्मिलित प्रवाहित होती हैं।

मातृभाषा व्यक्तित्व के विकास में सहायक

भाषा विकास की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर वह ३ वर्ष की आयु के होने तक वह बोलने लगता है। ४ वर्ष की अवस्था में बालक पूरे वाक्य बोलने लगता है। यह वह आयु है जिसमें बालक अत्यधिक बोलता है। भाषा व्यक्तित्व का एक आईना है जैसा व्यक्ति होता है उसी प्रकार की उसकी भाषा होती है। भाषा से समाज में सम्मान मिलता है और उसी से अपमान अर्थात् भाषा में आकर्षण और विकर्षण दोनों होते हैं। भाषा के माध्यम से ही एक छात्र अपनी कक्षागत समस्याओं को छात्रों एवं अध्यापकों के सामने स्पष्टता से रखकर उसे समझ सकता है। लेकिन जिसकी भाषा कम प्रभावशाली है उस पर कोई ध्यान नहीं देता है। प्रायः देखा जाता है कि जिसकी भाषा और लिखावट कमजोर है वे कक्षा में अन्य छात्रों से कम अंक प्राप्त करते हैं। यद्यपि उनकी बौद्धिक क्षमता में कोई कमी नहीं होती है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने विचारों एवं भावों को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है विचारों का यह आदान-प्रदान सम्प्रेषण कहलाता है। मनुष्य सम्प्रेषण के लिए सबसे अधिक जिन माध्यम का सहारा लेता है, वह है भाषा। भाषा के द्वारा बोलकर या लिखकर अपने मन के भाव या विचार दूसरों तक पहुँचाते हैं तथा दूसरों के भाव और विचार को सुनकर या पढ़कर ग्रहण करते हैं। मौखिक भाषा का आधार उच्चारण है। मानव जन्म के दो वर्षों उपरान्त ही अपनी मातृभाषा बोलनी शुरु कर देता है। इस उच्चारित रूप को वह अपने परिवार और परिवेश में अर्जित करता है। उसके सम्पर्क में आने वाले लोग जैसी भाषा बोलते हैं वैसी ही वह सीखता है। यहीं कारण है कि एक हिन्दी-भाषी दम्पत्ति का बेटा इंग्लैण्ड में पला-बढ़ा होने पर अंग्रेजी भाषा सहज ही सीख लेता है। जबकि लिखित भाषा सर्जनात्मक होने के कारण साहित्य का माध्यम है और इस दृष्टि से मानव जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। लिखित भाषा का आधार लिपि है बिना लिपि के लिखित भाषा का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः इसके लिए शिक्षित होना अनिवार्य है। यही कारण है कि लिखित भाषा का प्रयोग समाज का शिक्षित वर्ग ही करता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

- कुमार, प्रदीप एवं सिंह, विरेन्द्र, (२०१०), सूचना, सम्प्रेषण एवं शैक्षिक तकनीकी, आनन्द बुक डिपो।
- गैरेट, हेनरी. ई. एवं वुडवर्थ, आर.एस. (१९८४), शिक्षा व मनोविज्ञान में सांख्यिकी, नई दिल्ली : कल्याणी पब्लिशर्स।
- पाण्डेय, श्रुतिकान्त, (२०१४), हिन्दी भाषा और इसकी शिक्षण विधियाँ. नई दिल्ली : पी.एच.आई. लर्निंग प्रा. लि.।
- कोठारी, अतुल, (२०१९), नई दिल्ली : सरस्वती बालमन्दिर, जी ब्लाक नारायणा बिहार।
- सदस्य, केंद्रीय हिन्दी समिति, भारत सरकार महासचिव एवं निदेशक, विश्व नागरी विज्ञान संस्थान, गुरुग्राम-दिल्ली, २०१८।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

संस्कृतभाषा के वर्तमान शिक्षण में श्रवण और भाषण कौशलों की दशा एवं दिशा

डॉ. आशुतोष पारीक*

शोधसारांश

अतीत की झोली की बहुमूल्य मणि और भविष्य की कुंजी है– संस्कृत। भाषिक दृष्टिकोण से इसकी वैज्ञानिकता और वर्तमान युग में उपादेयता पर किसी को संदेह नहीं है लेकिन फिर भी संस्कृत शिक्षण में प्रभावी कदम उठाने में हमारा शिक्षण तन्त्र प्रायः असफल ही रहा है। निश्चय ही वर्तमान शिक्षणशास्त्र में अनेकानेक नवोन्मेष हुए हैं फिर भी संस्कृत शिक्षण की वही संकुचित मानसिकता संस्कृत भाषा के गौरव के संवर्धन में असमर्थ रही है।

*अतः वर्तमान शिक्षा पद्धति में भाषागत चारों कौशलों पर क्रमशः बल देने की आवश्यकता है, अन्यथा संस्कृत विद्यालयों–महाविद्यालयों में पढाई जाती रहेगी, लेकिन शैक्षिक परिणाम की दृष्टि से अप्रभावी ही रहेगी। भारतवर्ष के विद्यालयों में कक्षा ६ से ८ के अन्तर्गत यद्यपि करोड़ों विद्यार्थी संस्कृत पढ़ रहे हैं, किन्तु उनके अधिगम को मात्र कुछ श्लोकों व धातु–शब्दरूपों के स्मरण तक सीमित कर दिया गया है। भाषिक दृष्टि से क्या इतना सीख लेना पर्याप्त होगा! यदि नहीं तो आज आवश्यकता है संस्कृत शिक्षण की मौलिक विचारधारा और पद्धतियों में आमूलचूल परिवर्तन की....। इस शोधपत्र के माध्यम से भाषागत चार कौशलों में प्रारम्भिक श्रवण और भाषण कौशल की दशा और दिशा के माध्यम से संस्कृत भाषा के भाषिक स्वरूप को विद्वज्जन के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया जाएगा – ''**वदतु संस्कृतं, जयतु भारतम्।**''*

संकेताक्षर – *भाषा कौशल, श्रवण, भाषण, लेखन, पठन, संस्कृत शिक्षण की पारम्परिक पद्धति, अधुनातन युग में संस्कृत शिक्षण, नवोन्मेष, वार्तालाप, कहानी, पठन एवं कविता पाठ, भाषण, वाद–विवाद एवं संवाद, अभिनय एवं नाट्यमंचन, समाचारपठन, भाषा–क्रीडा, चित्रपठन।*

संस्कृतेन सम्भाषणं कुरु, जीवनस्य परिवर्तनं कुरु।
यत्र-यत्र गच्छसि पश्य तत्र संस्कृतं संस्कृतेः संवर्धनं कुरु।।[१]

संस्कृत सम्भाषण के माध्यम से समस्त जन में संस्कृत के श्रवण संस्कार को उत्पन्न कर संस्कृत और संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन का सूत्र प्रदान करता यह गीत। निश्चय ही वर्तमान समाज संस्कृत के व्यावहारिक उपादेयता से अनभिज्ञ है तथापि भारत की जनगणना २०११ के अनुसार भारत में संस्कृत बोलने वालों की संख्या १०,०४,१३५ है।[२] संस्कृत आज उत्तराखण्ड एवं हिमाचल प्रदेश की

* सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, सम्राट् पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान

आधिकारिक भाषा बन चुकी है। भारत में १३ विश्वविद्यालय, अनेक महाविद्यालय एवं विद्यालयों में उच्च प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च माध्यमिक स्तर पर संस्कृत पढ़ाई जाती है। संस्कृत भारती, लोकभाषा प्रचार समिति, भारत संस्कृत परिषद्, संस्कृत संवर्धन प्रतिष्ठान, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान जैसे अनेकानेक संस्थानों द्वारा संस्कृत भाषा के संवर्धनार्थ विविध कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

संस्कृत का परिचय देते हुए विकीपीडिया पर लिखा है– "**संस्कृत (संस्कृतम्) भारतीय उपमहाद्वीप की एक भाषा है। इसे देववाणी अथवा सुरभारती भी कहा जाता है। यह विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है। संस्कृत एक हिन्दी आर्यभाषा है जो हिंद-यूरोपीय भाषापरिवार की एक शाखा है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ हिन्दी, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, नेपाली आदि इसी से उत्पन्न हुई हैं।..... संस्कृत में वैदिक धर्म से संबंधित लगभग सभी धर्मग्रंथ लिखे गए हैं।.... भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में संस्कृत को भी सम्मिलित किया गया है। यह उत्तराखण्ड और हिमाचल प्रदेश की द्वितीय राजभाषा है। आकाशवाणी और दूरदर्शन पर संस्कृत में समाचार एवं अन्य कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं।**"[३]

नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो. अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक 'On Interpreting India's Past' की प्रस्तावना में लिखा – "**वर्तमान के जिस एक क्षण में हम उपस्थित और विद्यमान होते हैं, वह हमारे लिए दर्पण नहीं बनता, जिसमें हम अपने को पहचान सकें। वर्तमान का यह क्षण तो तत्क्षण अतीत की उस झोली में जा टपकता है, जिसे हम निरन्तर अपने साथ लिये चलते हैं। अतीत की इस झोली में ही वह दर्पण है, जिसमें हम अपनी बनती, बिगड़ती और सँवरती छवि निरखते हैं, और अपने आपको पहचानते भी हैं।**"[४]

अतीत की इसी झोली की बहुमूल्य मणि और भविष्य की कुंजी है संस्कृत। भाषिक दृष्टिकोण से इसकी वैज्ञानिकता और वर्तमान युग में उपादेयता पर किसी को संदेह नहीं है, लेकिन फिर भी संस्कृत शिक्षण में प्रभावी कदम उठाने में हमारा शिक्षणतन्त्र प्रायः असफल ही रहा है।

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा था– "**स्वाधीन होने पर हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। हमारा कर्तव्य है कि संस्कृत विद्या के अध्ययन को हम पाठ्यक्रम में विशिष्ट स्थान दें और अन्वेषण के काम को प्रोत्साहन दें। आधुनिक युग के महापुरुषों के कारण तथा अपनी प्राचीन संस्कृति के कारण संसार में आदर है। यह खेद का विषय होगा कि हम इस आवश्यक कर्तव्य की ओर उचित ध्यान न दें और संस्कृत वाङ्मय की रक्षा और वृद्धि के प्रति उदासीनता दिखाएँ। संस्कृत वाङ्मय आदर और गौरव की वस्तु है और उसका विस्तार तथा गाम्भीर्य हमें चकित कर देता है।**"[५]

निश्चय ही वर्तमान शिक्षणशास्त्र में अनेकानेक नवोन्मेष हुए हैं फिर भी संस्कृत शिक्षण की वही संकुचित मानसिकता संस्कृत भाषा के गौरव के संवर्धन में असमर्थ रही है। संस्कृत की दुर्दशा के मूल कारण को स्पष्ट करते हुए अपनी पुस्तक '**शिक्षकाधीनं संस्कृतम्**' में चमू कृष्णशास्त्री लिखते हैं– "**संस्कृतावनतेः मूलकारणं संस्कृतव्यवहारत्यागः अन्यभाषामाध्यमेन संस्कृतपाठनं च। पाठ्यमानभाषा तद्भाषामाध्यमेन एव पाठनीया, परीक्षा अपि तद्भाषामाध्यमेन इति विषयः तु विश्वे सर्वैः अपि शिक्षाविद्भिः निर्विवादरूपेण कथ्यमानः विषयः, ऋते संस्कृतज्ञेभ्यः। यदा संस्कृतज्ञाः संस्कृतस्य संस्कृतमाध्यमेन पाठनस्य प्रारम्भं कुर्युः, तदा एव संस्कृतोन्नतेः प्रारम्भः**

भवेत्। सः च कालः दूरे स्यात्। न्यूनातिन्यूनं यदि सर्वैः शिक्षकैः विद्यालये सामान्यरूपेण वा संस्कृतेन वाग्व्यवहारः प्रारभ्येत तर्हि अपि परिस्थितौ काचित् प्रगतिः भवेत्।''[७]

आश्चर्य तो तब होता है जब संस्कृत के महान् शिक्षाविद् ही संस्कृत भाषा के श्रवण और भाषणकौशल की आवश्यकता को महत्त्व नहीं देते। डॉ. रघुनाथ सफाया जैसे शिक्षाविद् अपनी पुस्तक 'संस्कृत शिक्षण' में लिखते हैं– ''**सामान्य और सरल विचारों को शुद्ध तथा सादा भाषा में व्यक्त करने की योग्यता। इस उद्देश्य पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। संस्कृत में ग्रहण अधिक आवश्यक है, अभिव्यक्ति नहीं।..... हम छात्र से यही आशा करते हैं कि वह संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर ग्रन्थों का अध्ययन कर सके। अपने मौलिक विचारों को संस्कृत में अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं।''**[७]

अतः वर्तमान शिक्षा पद्धति में भाषागत चारों कौशलों पर क्रमशः बल देने की आवश्यकता है, अन्यथा संस्कृत विद्यालयों–महाविद्यालयों में पढाई जाती रहेगी, लेकिन शैक्षिक परिणाम की दृष्टि से अप्रभावी ही रहेगी। भारतवर्ष के विद्यालयों में कक्षा ६ से ८ के अन्तर्गत यद्यपि करोड़ों विद्यार्थी संस्कृत पढ़ रहे हैं, किन्तु उनके अधिगम को मात्र कुछ श्लोकों व धातु–शब्दरूपों के स्मरण तक सीमित कर दिया गया है। भाषिक दृष्टि से क्या इतना सीख लेना पर्याप्त होगा! यदि नहीं तो आज आवश्यकता है संस्कृत शिक्षण की मौलिक विचारधारा और पद्धतियों में आमूलचूल परिवर्तन की।

अतः आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी के ये शब्द महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं– ''**यह सत्य है कि संस्कृत की कतिपय अभूतपूर्व सम्भावनाएँ इस समय परिलक्षित हो रही हैं, परन्तु ये सम्भावनाएँ संपूर्णतया फलित या चरितार्थ नहीं हो पा रही हैं। इनकी फलितार्थता और चरितार्थता के लिए हमें क्या करना चाहिए, यह विचारणीय है।''**[८]

वर्तमान युग में संस्कृत भाषा के विषय में दो पक्ष हैं –

१. संस्कृत के साहित्य में अन्तर्निहित ज्ञान की वह धरोहर, जो विश्वबोध, जीवनमूल्य का अप्रतिम सागर है और जिसकी वर्तमान युग में महती आवश्यकता है।

२. वर्तमान विश्व में संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की स्थिति, सम्भावनाएँ और समस्याएँ।

भाषाशिक्षण के चार कौशलों की चर्चा सदैव की जाती रही है। संस्कृत भाषा के शिक्षण में प्रथम श्रवणकौशल और द्वितीय भाषणकौशल की पूर्ण उपेक्षा की गई है जिसके कारण वर्तमान युग में संस्कृत पढ़े–लिखे व्यक्ति भी स्वयं को संस्कृतज्ञ कहने में संकोच करते हैं। भाषाशिक्षण के दृष्टिकोण से देखा जाए तो विद्यालयों और महाविद्यालयों में संस्कृत की यही स्थिति है। केवल तृतीय पठनकौशल और चतुर्थ लेखन कौशल पर भाषा का भवन नहीं टिक सकता। उसके लिए तो चारों ही कौशलों का पूर्णतया संस्थापन और विकास आवश्यक है।

चारों भाषाकौशलों की महत्ता का प्रतिपादन और डॉ. रघुनाथ सफाया जैसे विचारकों की भर्त्सना करते हुए डॉ. विश्वास अपनी पुस्तक 'कौशलबोधिनी' में लिखते हैं – ''**वस्तुतः भाषाशिक्षणे एतेषां चतुर्णामपि समानं महत्त्वम् अस्ति। परन्तु अस्माकं देशे बहोः कालात् संस्कृतशिक्षणे ग्रहणकौशलयोः यावत् प्राधान्यं दत्तं तावत् अभिव्यंजनकौशलयोः न दत्तम्। अभिव्यंजनकौशले तु नितराम् उपेक्षिते। सा च उपेक्षा एतावत्पर्यन्तम् अनुवृत्ता यद् विख्याताः संस्कृतशिक्षणविदः**

अपि संस्कृतशिक्षणस्य उद्देश्येषु अभिव्यक्तेः आवश्यकता नास्ति इति निर्णयं कृतवन्तः।''[९]

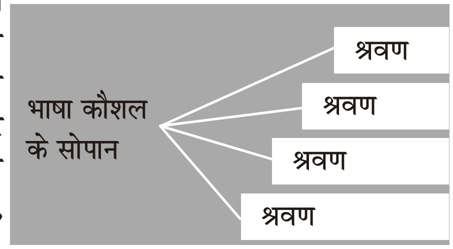

न. वी. राजगोपालन ने भाषाई शिक्षण क्रम को प्रतिपादित करते हुए लिखा है– **''अन्य भाषा शिक्षण में यह आवश्यक है कि पहले भाषा के मुख्य कौशल-श्रवण और भाषण सिखाए जाएँ और उसके बाद गौण कौशल-पठन और लेखन सिखाए जाएँ। अन्य भाषा की ध्वनि व्यवस्था, उच्चारण शैली, व्याकरणिक संरचना, अर्थाभिव्यक्ति शैली, शब्दावली आदि का अच्छा ज्ञान दोनों प्रकार के कौशलों का आधार है। अतः अन्य भाषा शिक्षण का अर्थ है- अध्येता में भाषा की दक्षता उत्पन्न करना और उस भाषा के कौशलों का क्रमशः अभ्यास कराना। भाषा शिक्षण की विधि एक ओर भाषा की स्वरूपगत विशेषताओं पर, दूसरी ओर अध्येताओं के ध्येय बने हुए दोनों अंशों - अन्य भाषाई दक्षता और कौशल पर निर्भर करती है।''**[१०]

डॉ. उमा मंगल के अनुसार – **''वक्ता की ध्वनियों, शब्दों एवं भावों को कानों के माध्यम से ग्रहण कर, उसका अर्थग्रहण करने की क्रिया 'श्रवण' कही जाती है। वक्ता जिस अभिप्राय या उद्देश्य से अपने विचारों की मौखिक अभिव्यक्ति कर रहा है, उस बात को पूरी तरह से ध्यानपूर्वक सुनकर, उसी अभिप्राय को ग्रहण करने की योग्यता ही श्रवणकौशल है।''**[११] श्रवण कौशल को स्पष्ट करते हुए डॉ. किशोरीलाल शर्मा कहते हैं– **''श्रवण कौशल में केवल ध्वनि-श्रवण का ही समावेश नहीं होता, अपितु जो कुछ हम सुनते हैं, उसे पहचानते हैं, समझते हैं और अर्थग्रहण करके उसे स्मरण रखते हैं। इसी प्रकार किसी भाषण को ग्रहण करने की प्रक्रिया को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता, अपितु यह एक सक्रिय तथा सोद्देश्य है।''**[१२]

श्रवणकौशल के विषय में डॉ. विश्वास अपनी पुस्तक 'कौशलबोधिनी' में लिखते हैं– **''भाषायाः ग्रहणं प्रायेण श्रवणेन एव भवति। अतः अस्यां प्रक्रियायां श्रवणेन्द्रियस्य अनितरसाधारणं महत्त्वमस्ति। जन्मनः प्रभृति श्रोतुम् अशक्तः बधिरः भाषितुमपि न प्रभवति इत्येषः सर्वेषाम् अनुभवः। शिशोः मातृभाषाधिग्रहणप्रक्रियायां सः शिशुः प्रथमशब्दोच्चारणात्पूर्वं कियत्परिमाणकं वाक्यजातं श्रुतवान् भवति इत्येतत् निश्चयेन विस्मयम् आवहति। सामान्या काचित् गणना एवमस्ति यत् कश्चन शिशुः दिने जाग्रदवस्थायाम् अष्ट घण्टाः यावदेव शृणोति चेदपि, सः प्रतिनिमेषम् एकमेव वाक्यं शृणोति चेदपि दशमासान्ते एव सः प्रथमं शब्दम् उच्चारयति चेदपि तत्पूर्वमेव तेन श्रुतानि भवन्ति चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राधिकलक्षमितानि (१,४४,०००) वाक्यानि!''**[१३]

अतः सम्भाषण कौशल के विकासार्थ एक शिक्षक को उस भाषा का कितना प्रयोग करना चाहिए, यह इसका निदर्शन मात्र है। इसीलिए डॉ. विश्वास आगे लिखते हैं– **''असकृत् श्रुतः शब्दः केवलम् उच्चारयितुं शक्यः, नान्यः - इत्येतत् यदि अवगम्यते तर्हि छात्राणां मुखात् सम्भाषणं कारयितुम् इच्छुकैः शिक्षकैः तत्पूर्वं कियत् श्रावणीयं भवति इत्येतत् स्वयंवेद्यं भवति। अधिकम् अश्रावयित्वा छात्रमुखात् सम्भाषणस्य निरीक्षाकरणं नाम जलसेचनम् अकृत्वैव सस्यं फलतु**

इति प्रतिक्षणमेव!''[१४]

श्रवणकौशल में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

१. शान्तचित्त होकर सुनना।

२. एकाग्रचित्त होकर (ध्यान देकर) सुनना।

३. पर्याप्त मात्रा में सुनना।

श्रवण कौशल के शिक्षणार्थ सस्वर पठन, प्रश्नोत्तर, कहानी कहना और सुनना, श्रुतलेख आदि प्रविधियाँ प्रयोग में लाई जा सकती हैं। रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरिकॉर्डर, वीडियो, विविध ध्वनियन्त्र एवं आदर्श उच्चारण आदि दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग कर श्रवण कौशल को विकसित किया जा सकता है।

भाषाकौशलों में द्वितीय है–भाषण कौशल। अपने विचारों को मौखिक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए भाषण कौशल का प्रयोग किया जाता है। डॉ. उमा मंगल के अनुसार– **''जब व्यक्ति ध्वनियों के माध्यम से, मुख के अवयवों की सहायता से, उच्चरित भाषा का प्रयोग करते हुए अपने विचारों को प्रकट करता है, तब उसे मौखिक अभिव्यक्ति कहा जाता है।''**[१५]

डॉ. किशोरीलाल शर्मा ने एन. सी. ई. आर. टी. द्वारा तैयार की गई प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या (१९८५ ई.) में मौखिक अभिव्यक्ति की उपेक्षा पर खेद प्रकट करते हुए कहा है– **''यह कितने दुःख की बात है कि हमारी शिक्षा प्रणाली में तथा भाषा शिक्षण में मौखिक अभिव्यक्ति के पक्ष की नितांत उपेक्षा की गई है।''**[१६] संस्कृत भाषा के श्रवणात्मक वातावरण के अभाव के कारण भाषणात्मक वातावरण का अभाव परिलक्षित होना स्वाभाविक ही है। संस्कृतमय वातावरण के अभाव की समस्या को अभिव्यक्त करते हुए डॉ. विश्वास लिखते हैं– **''सुसंस्कृते वातावरणे प्रवृद्धानां बालानां मातृभाषायां भाषणकौशलशिक्षणं न क्लेशाय। यतः तादृशानां भाषणं स्पष्टं भवति। तेषाम् उच्चारणं शुद्धं भवति, शब्दसम्पत्तिश्च विपुला भवति। तद्विपरीततया अन्यत्र प्रवृद्धानां बालानां भाषणम् अस्पष्टं भवति। उच्चारणं दोषपूर्णं भवति। तेषां शब्दसम्पत्तिः अपि अल्पीयसी भवति। तादृशानां तु बालानां भाषणकौशलस्य शिक्षणं विद्यालयादेव आरभ्येत।''**[१७]

वर्तमान भारतीय समाज में घर में संस्कृतमय वातावरण तो प्रायः नहीं मिलता है, किन्तु एक प्रभावी शिक्षक को सर्वप्रथम ऐसे विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा में निहित संस्कृत शब्दों की पहचान करानी चाहिए; क्योंकि भारतीय हो या विदेशी भाषा सभी में संस्कृत से सम्बद्ध शब्दावली तो प्राप्त होती ही है। यहाँ एक विशेष बात ध्यातव्य है कि मात्र शब्दोच्चारण ही भाषण नहीं होता। यदि हम रटकर कुछ शब्दों या वाक्यों को बोल भी लेते हैं तो इसका यह तात्पर्य बिल्कुल भी नहीं कि हमारा उस भाषा का भाषण कौशल विकसित हो रहा है।

उच्चारण शिक्षण का सर्वोपयुक्त स्तर प्राथमिक स्तर ही है, किन्तु संस्कृतभाषा शिक्षण में यही सबसे बड़ी बाधा है; क्योंकि प्राथमिक स्तर पर तो संस्कृतभाषा के शिक्षण की व्यवस्था अत्यल्प स्थलों पर ही है। संस्कृत शिक्षण प्रायः कक्षा ६ से प्रारम्भ होता है और उस स्तर पर प्राथमिक कक्षाओं की तरह उच्चारण और श्रवण कौशलों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है।

मौखिक अभिव्यक्ति कौशल के शिक्षणार्थ अनेकानेक प्रविधियों का उपयोग किया जा सकता है। वार्तालाप, कहानी, पठन एवं कविता पाठ, भाषण, वाद-विवाद एवं संवाद, अभिनय एवं नाट्यमंचन,

समाचारपठन, भाषा–क्रीडा, चित्रपठन आदि प्रविधियाँ उच्चारण कौशल में दक्षता संवर्धन में सहायक होती हैं।

अतः निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा के शैक्षिक परिणामों के सन्दर्भ में वर्तमान शिक्षा पद्धति यथेच्छ परिणाम प्राप्त करने में असफल ही रही है और इसका सबसे बड़ा कारण है भाषिक शिक्षण के नियमों एवं सिद्धान्तों का अवैज्ञानिक प्रयोग। संस्कृत जैसी वैज्ञानिक भाषा के अवैज्ञानिक शिक्षण ने संस्कृत की महत्ता और उपयोगिता को समाज में कम कर दिया है। अतः संस्कृतभाषा शिक्षण में हमें उत्कृष्ट परिणामों की प्राप्ति हेतु शिक्षक–विद्यार्थी और समाज में वैचारिक और व्यावहारिक तथा मुख्य रूप से शैक्षिक संसाधनों व उपायों के लिए स्वयं शिक्षित होने की परम आवश्यकता है। इत्यलम्.....

सन्दर्भ-सूची :

१. गीतसंस्कृतम्, संस्कृतभारती, बेंग्लूरु।
ashutosh.pareek1982@gmail.com

२. "Comparative speaker's strength of scheduled languages -1971, 1981, 1991 and 2001". Census of India, 2001. Office of the Registrar and Census Commissioner, भारत, अभियान तिथि ३१ दिसम्बर २००९

३. https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%95%E0%A5%83%E0%A4%A4_%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A4%BE

४. "We live in the present, but that is tiny bit of time, it passes as we talk. The current moment as vivid as it is, does not tell us much about who we are, how we can reasonably see ourselves and where we would place our loyalties if and when we face divisions. Our identities are strongly influenced by the past." On Interpreting India's Past (1996) -Prof. Amartya Sen, Asiadtic Society, Kolkata, Preface.

५. आचार्य नरेन्द्रदेव – जनवाणी

६. शिक्षकाधीनं संस्कृतम् – चमू कृष्णशास्त्री, संस्कृतभारती, नवदेहली, पृ. सं. २

७. संस्कृत शिक्षण – डॉ. रघुनाश सफाया पृ. सं. ६२ एवं ९३-९४

८. संस्कृत के नये वातायन (२०१५ ई.) – सम्पादक डॉ. रमाकान्त पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर, पृ. सं. १७७

९. कौशलबोधिनी – डॉ. विश्वासः (२००५ ई.) संस्कृत भारती, नवदेहली, पृ. सं. ५

१०. भाषाशिक्षण तथा भाषा विज्ञान (१९८९ ई.), न. वी. राजगोपालन, पृ. सं. ११

११. हिन्दी शिक्षण (१९९६ ई.), डॉ. उमा मंगल, पृ. सं. ४१

१२. हिन्दी शिक्षण प्रविधि (१९८७ ई.), डॉ. किशोरीलाल शर्मा, पृ. सं. १०६

१३. कौशलबोधिनी (२००५ ई.), डॉ. विश्वास, संस्कृतभारती, नवदेहली पृ. सं. ७-८

१४. कौशलबोधिनी (२००५ ई.), डॉ. विश्वास, संस्कृतभारती, नवदेहली पृ. सं. ८

१५. हिन्दी शिक्षण (१९९६ ई.), डॉ. उमा मंगल, पृ. सं. ४५

१६. हिन्दी शिक्षण प्रविधि (१९८७ ई.), डॉ. किशोरीलाल शर्मा, पृ. सं. १०६

१७. कौशलबोधिनी (२००५ ई.), डॉ. विश्वास, संस्कृतभारती, नवदेहली पृ. सं. २४

सहायक ग्रन्थ सूची :

- भुवमानीता भगवद्भाषा – डॉ. विश्वास (२००४ ई.), संस्कृतभारती, बेंगलूरु।
- ज्ञाने धर्मः उत प्रयोगे – चमू कृष्ण शास्त्री (२००९ ई.), संस्कृतभारती, देहली।
- सम्भाषणसोपानम् – जनार्दन हेगड़े (२००५ ई.), संस्कृतभारती, बेंगलूरु।
- अभ्यासदर्शिनी – जनार्दन हेगड़े (२०१६ ई.), संस्कृतभारती, बेंगलूरु।
- कौशलबोधिनी – डॉ. विश्वास (२००५ ई.), संस्कृतभारती, नवदेहली।
- संस्कृत शिक्षण – डॉ. श्रीमती सुनीता गौड़, डॉ. कृष्ण चन्द्र गौड़, अरिहन्त शिक्षा प्रकाशन, जयपुर।
- संस्कृत का शिक्षण-शास्त्र – अमृतलाल दवे, डॉ. उमा पाटनी, डॉ. उदयलाल नागदा, राधा प्रकाशन मन्दिर (प्रा.) लिमिटेड, आगरा।
- शिक्षाविचारसौरभम् (२०१५ ई.) – डॉ. देवदत्त सरोदे, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर।
- संस्कृत शिक्षण – डॉ. रघुनाथ सफ़ाया
- संस्कृतशिक्षणम् (२०१६ ई.) – डॉ. उदयशंकर झा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र (२०१६ ई.) – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

जैनमत में नय प्रमाणत्व विचार

प्रीति यादव*

नयों के निरूपण का भाव

किसी भी एक या अनेक वस्तुओं के विषय में एक या अनेक व्यक्तियों के अनेक विचार होते हैं, जिसमें वस्तु के विषय में विचारों की संख्या अपरिमित हो जाती है। अतः उनका अतिसंक्षिप्त और अतिविस्तृत प्रतिपादन छोड़कर मध्यम मार्ग से प्रतिपादन करना ही नयों का निरूपण है। इसी को विचारों का वर्गीकरण कहते हैं। नयवाद का अर्थ है 'विचारों की मीमांसा'। इसके अतिरिक्त जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखाई देते हैं, परंतु यथार्थ में जिनका विरोध नहीं है, उन विचारों के अविरोध के बीज की गवेषणा करना भी नयवाद का मुख्य उद्देश्य है। जैन दार्शनिकों के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मों से युक्त होती है। **'अनन्तधर्मकं वस्तु अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्'**।[१]

केवली अपने केवल ज्ञान के बल से वस्तु के अनन्त धर्मों का अपरोक्ष ज्ञान कर सकता है किंतु सामान्य मानव वस्तु को किसकी एक समय में एक ही दृष्टि से देख सकता है अतः वह उस वस्तु का एक ही धर्म जान सकता है। वस्तुओं के आंशिक ज्ञान को जैन दार्शनिक 'नय' कहते हैं। इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श होता है, उसे भी नय कहा जाता है।

नय-स्वरूप- अभिनव धर्मभूषण ने न्याय का लक्षण करते हुए कहा है कि **'प्रमाणनयात्मको न्यायः'**[२] –प्रमाण और नय न्याय हैं, क्योंकि इन दोनों के द्वारा पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होता है। अपने इस कथन को उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के **'प्रमाणनयैरधिगमः'**[३] सूत्र से प्रमाणित किया है। वस्तुतः जैन न्याय का भव्य प्रासाद इसी महत्त्वपूर्ण सूत्र के आधार पर निर्मित हुआ है।

आचार्य हेमचंद्र 'नय' की निरुक्ति प्रस्तुत करते हैं **'नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः अनेन इति नयः'**[४] – इनके अनुसार नय किसी वस्तु को जानने के लिए विविध प्रकार का दृष्टिकोण है, इसे सत्य का आंशिक रूप कहा जाता है। प्रमाण के द्वारा गृहीत पदार्थ के अंशों को जो ग्रहण करता है वह नय है। प्रमाण और नय दोनों सम्यग्ज्ञान हैं। दोनों में अन्तर यही है कि प्रमाण जहाँ वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है वहीं नय उसे सखण्ड (अंशों) के रूप में ग्रहण करता है।

साधारणतया जैन मतानुसार ज्ञान और तद्विषयक वाक्य तीन प्रकार के होते हैं, दुर्नीति (दुर्णय), नय और प्रमाण। किसी वस्तु के विषय में यह कथन कि 'यह सत् ही है' दुर्नीति या दुर्णय है, क्योंकि इसमें आंशिक और सापेक्ष सत्य को पूर्ण और निरपेक्ष मान लिया गया है। किसी वस्तु के लिए 'यह सत् है' यह कथन उस वस्तु को त्रैकालिक, अपरिवर्तनशील तथा नित्य तत्त्व बताकर उसके परिणाम, उत्पाद और व्यय आदि धर्मों का निषेध करता है, जो कि जैनमत के विपरीत है। क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार सत् का लक्षण है **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'**।[५] अतः यह दोषयुक्त नय कहा जाता है।

किसी वस्तु के लिए यह कथन कि 'यह सत् है' नय कहलाता है, क्योंकि यह वस्तु के एक धर्म का

* शोधच्छात्रा, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विधान करता है, किन्तु उसके अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता। वस्तु के अनंत धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान को और न्याय-वाक्य में उस ज्ञान की अभिव्यक्ति को नय कहा जाता है।

अनेकांतात्मकं वस्तु गोचरः सर्व संविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।।[६]

आंशिक ज्ञान होने से यह दुर्णय नहीं है परन्तु प्रमाण की कोटि में भी नहीं आता, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया गया है। किसी वस्तु के लिए यह कथन कि यह 'स्यात् सत् है' प्रमाण है, क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता और सापेक्षता प्रकाशित है। **सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयते दुर्नीतिनयप्रमाणैः।**[७]

जैन तत्त्वमीमांसा वास्तववादी और सापेक्षवादी (बहुत्ववादी) है, इसलिए किसी सत् ज्ञान के लिए उस ज्ञान का सापेक्ष होना आवश्यक है। तत्त्वार्थ सूत्र में तत्त्व को जानने के उपाय के विषय में कहा गया है, "**प्रमाणनयैरधिगमः।**"[८] अर्थात् तत्त्व को जानने व समझने के लिए प्रमाण और नय ये दोनों उपाय तत्त्व-परीक्षा के प्रमुख साधन हैं। 'नय' का लक्षण है कि यह प्रमाण द्वारा निरूपित पदार्थ के स्वरूप का विशेष कथन करता है। नय पदार्थ को एक दृष्टि से ग्रहण करता है जबकि प्रमाण अनेक दृष्टियों से पदार्थ का ग्राहक होता है।

पदार्थ को जानने के उपाय

प्रमाण	**नय**
● सच्चा ज्ञान	● श्रुत ज्ञान का अवयव एवं अंश
● पदार्थ के सर्वदेशों का बोध कराता है	● पदार्थ के एकदेश का बोध कराता है
● प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द	● नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, समभिरूढ़, एवंभूत

वस्तु अनेकान्त रूपद्रव्यपर्यायात्मक, सामान्यविशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, एकानेकात्मक, सदसदात्मक, नित्यानित्यात्मक आदि है। उसका जो अन्वयी-रूप समस्त पर्यायों, विशेषों आदि में व्याप्त होकर रहता है वह द्रव्य, सामान्य, अभेद, एक, सत् तथा नित्य है और जो आने जाने वाला व्यतिरेकी-रूप है वह पर्याय, विशेष, भेद, अनेक, असत् तथा अनित्य है। ज्ञाता या वक्ता की दृष्टि जब द्रव्य, सामान्य, अभेद, एक, सत् तथा नित्य को जानने या कहने की होती है तब वह दृष्टि द्रव्यार्थिक-नय है[९] और जब वह दृष्टि पर्याय, विशेष, भेद, अनेक, असत् तथा अनित्य को जानने या कहने की होती है तब वह दृष्टि पर्यायार्थिक-नय कही जाती है।[१०]

नय-भेद– उपर्युक्त विवेचन के आधार पर नय दो प्रकार का है– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।[११] द्रव्यार्थिक तीन प्रकार का है– नैगम, सङ्ग्रह तथा व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं– ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवम्भूत।[१२]

२. नैगम नय– जो धर्म और धर्मी एक को प्रधान और एक को गौण करके प्ररूपण करता है वह नैगम नय है। जैसे जीव का गुण सुख है, ऐसा कहना। इसमें 'सुख' धर्म की प्रधानता और 'जीव' धर्म की गौणता है अथवा यह सुखी जीव है, ऐसा कहना। इसमें 'जीव' धर्मी की प्रधानता है, क्योंकि वह विशेष्य है और 'सुख' धर्म गौण है, क्योंकि वह विशेषण है। जो भावी कार्य के संकल्प को बतलाता है, वह नैगम नय

है। जैसे कोई रोटी बनाने की सामग्री तैयार कर रहा या जुटा रहा था। किसी ने उससे पूछा कि क्या कर रहे हो? उसने उत्तर दिया कि रोटी बना रहा हूँ। उस समय रोटी तो नहीं बना रहा है, किन्तु संकल्प है। इस प्रकार संकल्पग्राही वह नय नैगम नय है। यदि यह नय धर्मी का लोप हो जाने से नैगमाभास है।

२. संग्रह नय– जो प्रतिपक्ष की अपेक्षा के साथ सन्मात्र को ग्रहण करता है वह संग्रह नय है। जैसे सत् कहने पर चेतन, अचेतन सभी पदार्थों का संग्रह हो जाता है, किन्तु सर्वथा सत् कहने पर चेतन, अचेतन, विशेषों का निषेध होने से वह संग्रहाभास है। विधिवाद इस कोटि में समाविष्ट होता है।

३. व्यवहार नय– संग्रहनय से ग्रहण किये गए सत् में जो नय विधिपूर्वक यथायोग्य भेद करता है वह व्यवहार नय है। जैसे संग्रहनय से गृहीत 'सत्' द्रव्य है या पर्याप्त है अथवा गुण है। परमात्र कल्पना से जो भेद करता है वह व्यवहारनयाभास है।

४. ऋजुसूत्र नय– भूत और भविष्यत् पर्यायों को गौण करके केवल वर्तमान पर्याय को जो नय ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है। जैसे प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय परिणमनशील है। वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानना ऋजुसूत्राभास है, क्योंकि इसमें वस्तु में होने वाले भूत और भविष्यत् के पर्यायों तथा उनके आधारभूत अन्वयी द्रव्य का लोप हो जाता है।

५. शब्द नय– जो काल, कारक और लिङ्ग के भेद से शब्द में कथंचित् अर्थभेद को बतलाता है वह शब्दनय है। जैसे– नक्तम् और निशा दोनों पर्यायवाची हैं, किन्तु दोनों में लिङ्गभेद होने से कथंचित् अर्थभेद है। 'नक्तम्' शब्द नपुंसकलिङ्ग है और 'निशा' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। '**शब्दभेदात् ध्रुवोऽर्थभेदः**' यह शब्दनय कहलाता है।

अर्थभेद को कथंचित् माने बिना शब्दों को सर्वथा भिन्न-भिन्न बतलाकर अर्थभेद करना शब्दनयाभास है।

६. समभिरूढ़ नय– जो पर्यायभेद पदार्थ का कथंचित् भेद निरूपित करता है वह समभिरूढ़ नय है। जैसे– इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्द पर्यायशब्द होने से उनके अर्थ में कथंचित् भेद बताना समभिरूढ नय है। पर्यायभेद माने बिना उनका स्वतन्त्र रूप से कथन करना समभिरूढ नयाभास है।

७. एवम्भूत नय– जो क्रियाभेद से वस्तु के भेद का कथन करता है वह एवम्भूत नय है। जैसे– पढ़ाते समय ही पाठक या अध्यापक और पूजा करते समय ही पुजारी कहना एवम्भूत नय का उदाहरण है। यह नय क्रिया पर निर्भर है तथा इसका विषय बहुत सूक्ष्म है। क्रिया की अपेक्षा न करके क्रियावाचक शब्दों का काल्पनिक व्यवहार करना एवम्भूतनयाभास है।

उपर्युक्त सभी नय आरम्भ से लेकर अन्त तक क्रमशः सूक्ष्म विषय के ग्राहक हैं, परन्तु विपरीत क्रम में ये स्थूलविषय-ग्राही नहीं होते। इन नयों के भेद-प्रभेदों का निरूपण जैनदर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध है। एतदतिरिक्त निश्चय और व्यवहार के रूप में भी नयों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें मुख्यतया अध्यात्म का विवेचन किया जाता है। सद्भूत अवस्था अथवा असंयुक्त अवस्था का प्रतिपादक जो नय है वह निश्चय कहलाता है और जो असद्भूत अथवा संयुक्त (उपचार) का निरूपण करने वाला है वह व्यवहार नय है। इन्हें क्रमशः परमार्थ है और अपरमार्थ भी कहते हैं।

नय के विभिन्न भेद केवल आंशिक दृष्टिकोण हैं। इनमें से किसी एक को सत्य मानने से नयाभास दोष होता है। जैन आचार्यों के अनुसार न्याय, वैशेषिक, सांख्य, अद्वैत-वेदान्त, बौद्ध आदि दर्शनों में नयाभास को स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ जैनग्रंथों में अर्थ-नय और शब्द-नय के भेद से, किन्हीं में

ज्ञान–नय और क्रिया–नय के भेद से तथा कुछ में व्यवहार–नय और निश्चय–नय के भेद से इनका वर्गीकरण किया गया है, किन्तु नाम एवं संख्या की दृष्टि से सभी समान हैं। उपर्युक्त सात नयों को प्रमाण–नय और स्याद्वाद से सम्बन्धित नयों को सप्तभंगी–नय कहा जाता है।

नय का प्रमाणत्व

नय के विषय में प्रश्न उठता है कि नय प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाण से पृथक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अन्य दर्शनों की भाँति एकमात्र प्रमाण को ही अर्थाधिगमोपाय बताना पर्याप्त है। यदि अप्रमाण है तो उसकी चर्चा नितान्त अनावश्यक है, क्योंकि उससे यथार्थ प्रतिपत्ति होना दुष्कर है।

इस संदर्भ में जैन तार्किकों ने गम्भीरता से विचार किया है। उनके अनुसार नय न प्रमाण है और न अप्रमाण अपितु प्रमाणैकदेश श्रुतज्ञान है। प्रमाण के दो प्रकार है– स्वार्थ तथा परार्थ। मति, अवधि, मन:पर्याय और केवल, ये चार ज्ञान स्वार्थ (स्वप्रतिपत्ति कारक) हैं और श्रुत उभयात्मक अर्थात् स्वार्थ तथा परार्थ दोनों है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत परार्थ (परप्रतिपत्ति कारक) है। इसी श्रुत के भेद नय हैं। श्रुत और नय दोनों विचारात्मक ज्ञान ही हैं, किन्तु दोनों में अंतर यह है कि किसी भी विषय के सर्वांश को स्पर्श करने का प्रयत्न करने वाला विचार श्रुत है और किसी भी एक अंश को स्पर्श करने वाला विचार नय है। इस प्रकार नय स्वतंत्ररूप से प्रमाण नहीं है, परन्तु उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

विचार की उत्पत्ति का क्रम और तत्कृत व्यवहार इन दो दृष्टियों से नय का निरूपण श्रुत प्रमाण से पृथक् किया गया है। किसी विषय का समग्रतया जितना भी ज्ञान है उसका उपयोग व्यवहार में एक–एक अंश को लेकर ही होता है इसलिए समग्र–विचारात्मक श्रुत से अंश–विचारात्मक नय का निरूपण भिन्न किया जाता है।

जब ज्ञाता या वक्ता, ज्ञान या वचनों के द्वारा पदार्थ में अंश–कल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन नय कहलाता है और जब पदार्थ में अंश कल्पना किए बिना उसे समग्ररूप में ग्रहण किया जाता है तब वह ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण सकल या समग्र वस्तु को ग्रहण करने वाला होता है। अत: प्रमाण को 'सकलदेशी' कहते हैं। नय किसी वस्तु के एक देश या अंश को ही अपना विषय बनाता है। अत: नय को 'एकदेशी' कहा जाता है। जैसे– प्रमाण द्वारा हमें घट का जो ज्ञान होता है वह घट के सर्वांश को अपना विषय बनाता है। अर्थात् प्रमाण द्वारा घट के साथ–साथ उसके आकार–प्रकार, रूप–रंग, जाति आदि सबका एक साथ ज्ञान (अखंड ज्ञान) होता है। किन्तु '**रूपवानयं घट:**' के रूप में घट के अंश का ज्ञान (खंडात्मक ज्ञान) जिसके द्वारा होता है वह नय है। नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है जबकि प्रमाण अनेक दृष्टियों से वस्तु का ग्राहक होता है। प्रमाण और नय में यही भेद है।

तात्पर्य यह कि अंशी वस्तु को प्रमाण (मतिज्ञानादि) से जानकर अनन्तर किसी एक अंश या धर्म द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय कहा गया है। आचार्य विद्यानन्द एक उदाहरण के माध्यम से कहते हैं कि जिस प्रकार से समुद्र से लाया गया घड़ा भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र है, अपितु समुद्रैकदेश है। उसे समुद्र मानने पर शेष सारा पानी असमुद्र कहा जाएगा अथवा समुद्र बहुत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाए तो शेषांशों को भी असमुद्र कहा जाएगा। फलत: समुद्र का व्यवहार समाप्त हो जाएगा। इतना ही नहीं कोई समुद्र का ज्ञाता या वक्ता भी नहीं रहेगा। अत: समुद्र से लाया हुआ घड़ा भर पानी जैसे समुद्रैकदेश है, उसी प्रकार नय न प्रमाण है, न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश है। लोक का समस्त व्यवहार

प्राय: उसी पर आधारित है।[१३]

निष्कर्ष–उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन में नय सिद्धान्त का अत्यधिक महत्त्व है, यह जैन के प्रमाणविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है। जैनदर्शन का स्याद्वाद, नय सिद्धान्त पर ही आधारित है। किसी भी विषय या पदार्थ का एक अपेक्षा से निरूपण करने का विचार नय है अर्थात् पदार्थ में विद्यमान अनंत गुणों में से किसी एक गुण की व्याख्या करके उस पदार्थ को अंशत: जानने की पद्धति नय है। जैसे– नींबू के विषय में यह खट्टा, पीला, रसभरा, गोलाकार है इत्यादि सभी विचार नय की कोटि में आते हैं तथा यह एक नींबू है इस प्रकार का संपूर्ण ज्ञान हमें प्रमाण से होता है। प्रमाण नयों का समूह है। सापेक्ष अंश प्रतिपत्ति का एकमात्र साधन नय है।

फुटनोट

१. अन्ययोग द्वात्रिंशिका, पृ. २२
२. न्यायदीपिका, पृ. ५
३. तत्त्वार्थसूत्र १.६
४. स्याद्वादमंजरी, पृ. २४०
५. तत्वार्थसूत्र, ५.२९
६. न्यायावतार, २९
७. अन्ययोग द्वात्रिंशिका, पृ. २८
८. तत्त्वार्थसूत्र १.६
९. द्रव्यमेवार्थो विषये यस्यास्ति स द्रव्यार्थिक इति। प्रमेयरत्नमाला ६/७४
१०. पर्याय एवार्थो प्रयोजनं यस्यास्त्यसौ पर्यायार्थिक इति। प्रमेयरत्नमाला ६/७४
११. प्रमेयरत्नमाला ६/७४, पृ. २०६
१२. प्रमेयरत्नमाला ६/७४, पृ. २०६
१३. ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा: नया:। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. ११८-१२३

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

१. शास्त्री, पंडित कैलाशचंद्र, तत्त्वार्थसूत्र, जैन विद्यापीठ, सागर, मध्य प्रदेश,, २०१७
२. मुनि, श्री सुभद्र, सचित्र, तत्त्वार्थसूत्र, श्रीदिवाकर प्रकाशन, आगरा, २०१७
३. प्रो. ध्रुव (सम्पादक), अन्ययोगव्ययच्छेद द्वात्रिंशिका, बम्बई, १९३३
४. जैनेन, डॉ. जगदीश चन्द्र, स्याद्वादमञ्जरी, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, गुजरात, विक्रम २०३५
५. बनर्जी, डॉ. सत्य राजन, श्री अभय कुमार बर्मन संस्कृत बुॅक डिपो, कलकत्ता
६. संघवी, सुखलाल, प्रमाणमीमांसा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९३९.
७. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास, द्वादश खण्ड–जैन–बौद्ध–चार्वाक दर्शन, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, १९९६.
८. वेदालंकार, डॉ. जयदेव, भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, न्यू भारतीय बुक कॉर्पेरेशन, २००४
९. भारतीय, डॉ. महेश, भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, इण्डो-विज़न प्रा. लि., गाज़ियाबाद, १९९९
१०. शर्मा, प्रो. राममूर्ति, भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, चौखम्बा ओरिण्टल, जवाहर नगर, दिल्ली, २००८.
११. उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी, २००१
१२. मिश्र, डॉ. जगदीश चन्द्र, भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २००८
१३. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९९५.
१४. अवस्थी, बच्चूलाल, भारतीय दर्शन बृहत्कोश (भाग १-७), शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, २००४.
१५. शुक्ल, डॉ. दीनानाथ, भारतीय दर्शन परिभाषा कोश, प्रतिभा प्रकाशन, दिली, १९९३.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

संस्कृतस्य परिरक्षणाय परिशोधनाय च संस्कृत-अकादम्याः योगदानम्

डॉ. एस.टी.पी. कनकवल्ली*

संस्कृतस्य प्रचाराय प्रसाराय च अनेकाः संस्थाः, परिषदश्च स्वयोगदानं कुर्वन्ति। न केवलं प्रचारप्रसारमेव अपि तु परिरक्षणं परिशोधनमपि कुर्वन्ति अनेकाः सर्वकारीयमुक्तसंस्थाश्च। तेषु अन्यतमो वर्तते दक्षिणभारतस्य तेलङ्गाणाराज्ये भाग्यनगरे स्थिते उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य अन्तर्गते संस्कृत अकादमी। अस्याः स्थापना 1954 तमे वर्षे भारतीय-विद्या विभागान्तगर्ते उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य कला (आर्ट्) विघास्य परिसरे जातम्।

राष्ट्रिय-संस्कृतसंस्थया 2002 तमे वर्षे इयं संस्था मान्यता, वित्तीय सहायता च प्राप्ता। अनन्तरं इयं केन्द्रीय स्वायत्त-अनुसन्धानसंस्थानरूपेण मान्यता प्राप्ता। इदानीम् इयं संस्था आदर्शशोधसंस्थानरूपेण (Model Research Institute) अभिज्ञाता।

संस्कृतभाषायाः पुनरुत्थानाय दृढ़सङ्कल्पिता इयं संस्था , तदन्तर्गते निरन्तरं बहूनि कार्यक्रमाणि कुर्वन्ती अस्ति। तानि च - कार्यशाला-सङ्गोष्ठीनाम् आयोजनम्, संस्कृतमातृकाग्रन्थानां सम्पादनं, संस्कृतपरियोजनानां स्वीकरणम्, संस्कृतानुवादग्रन्थानां लेखनं, संस्कृतभाषाबोधनम् इत्यादि संस्कृतभाषाप्रचारश्च कुर्वन्ति। अनेन सततं सुरभारतीसमुपासानां कुर्वन्ति। जीवनस्य विविधक्षेत्रेषु कथं संस्कृतस्य योगदानं वर्तते इति स्वकार्यक्रमैः बोधयन्ति। साम्प्रतं संस्कृतस्य महती आवश्यकता दरीदृश्यते इति मनसि निधाय इयं संस्था निरन्तरं विविधकार्यक्रममाध्यमैः संस्कृतस्य प्रसारप्रचारमपि कुर्वन्ती अस्ति। इयं संस्था संस्कृतपठितृभ्यः अध्ययनकेन्द्रत्वेन अस्ति। इयं कार्यात्मकसंस्कृतम् (Functional Sanskrit), संस्कृतसाहित्य-व्याकरण-ज्योतिष-वास्तु-योगा-भगवदृगीतादर्शनादि च शास्त्राणां पाठ्यक्रमाः निर्मापयति।

संस्कृत अकादम्याः परिसरः

अकादमी उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य परिसरे विद्यते। तस्याः परितः EFLU विश्वविद्यालयः, आन्ध्रप्रदेशसर्वकारीय मातृकाग्रन्थालयः (A. P. Govt. Manuscript Library), दूरस्थ शिक्षाकेन्द्रम् (Distance Education Centre) भक्तिसाहित्य अकादमी (Bhakthi Sahitya Academy), दैरत्तुल मरिफिल उस्मानिया (Dairatul Maarifil Osmania) इत्यादयः संस्थाः वर्तन्ते।

मुख्योद्देश्यानि -

- दुर्लभसंस्कृतपाण्डुलिपीनां सङ्कलनं, संरक्षणं, परिशीलनञ्च।
- संस्कृतपाण्डुलिपिभिः सह शोधकार्याणां सम्पादनं, प्रकाशनञ्च।
- अध्यापनाऽनुसन्धानद्वारा संस्कृतस्य प्रचारप्रसारञ्च।

* Post- Doctoral Research Scholar, National Sanskrit, University (RSVP), Tirupati

अकादम्याः संस्थापकाः, सदस्याः मार्गदर्शकाश्च -

संस्कृत अकादमी स्वास्थित्वस्य कारणीभूताः व्यक्तित्रयाणां कृते कृतज्ञतां विनिवेदयति। ते च संस्थापकः, निर्देशकः, उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागाध्यक्षाश्च। प्रो. आर्येन्द्रशर्मा, तदानीन्तन उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य कुलपतयः प्रो. भागवन्तं, आन्ध्रप्रदेशस्य मुख्यमन्त्रिणः डॉ. बी. रामकृष्णा रावमहोदयाः।

ततः आरभ्य अद्यतन पर्यन्तं सा परम्परा अनुवर्तते। उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य कुलपतयः, प्रशासनिकमुख्याश्च स्वययोगदानं निरन्तरं कुर्वन्ति। सम्पूर्णानन्दविश्वविद्यालयस्य कुलपतिचराः प्रो. वि. कुटुम्बशास्त्रिमहोदयाः अकादम्याः गतिविधिनां पर्यवेक्षणे मुख्यभूमिकाम् अवहन्। इदानीं सा भूमिका उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य कुलपतिना, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य कुलपतिना प्रो. परमेश्वर नारायणशास्त्रिमहोदयेन स्वीकृता।।

एवमेव बहवः प्रमुखाः विदुषः स्वयोगदानं समर्पितन्तः अस्याः अभिवृद्धये। ते च बी.आर्. शासत्रिणः, पी.जी. लल्ये, एम. गोपाल रेड्डी, पद्मश्री महामहोपाध्याय पी. श्रीरामचन्द्रडु, बी. नरसिंहाचार्युलु, के. कमला, प्रो. श्रीनिवास बरखेड़ी, डॉ. केशवनारायणमहोदयाश्च एते सर्वेऽपि निर्देशकरूपेण स्वयोगदानं दत्तवन्तः। अन्ये केचन विदुषः पी. जी. पाण्डे, के. सीतारामभट्टाचार्यः, देवलजी, खण्डेराव देशपाण्डे, बी. सुन्दरशर्मा इत्यादयः बहवः सक्रियरूपेण स्वयोगदानं दास्यन्ति।

अकादम्याः कष्टपरिस्थितौ निर्देशकचराः महामहोपाध्याय पी.जी. लालेमहोदयः, एम्, गोपालरेड्डिमहोदयः, राष्ट्रपितपुरस्कारभाजिनः बी. नरसिंहाचार्युलुमहोदयः, के. कमलामहोदयाश्च यथाशक्तिवित्तसहायतां कृतवन्तः। अनन्तरं राष्ट्रियसंस्कृतसस्थानेन वित्तीयसहाय्यं कृतम्।

अनन्तरं पूर्वनिर्देशकाः, राष्ट्रपतिपुरस्कारभाजिनः प्रो. श्रीनिवास बरखेडीमहोदयाः राज्यसर्वकारेण सह परिचर्च्य आर्थिककष्टान् उन्मूलितवन्तः।

राजकीय निकायः

संस्कृत अकादम्याः सर्वेऽपि कार्यक्रमाः पञ्चसमितीनां मार्गदर्शने एव सञ्चाल्यन्ते। ते च कार्यकारीसमितिः, शैक्षिकसमितिः, प्रबन्धसमितिः वित्तसमितिः, भवनसमितिः च।

- तेलङ्गाना राज्यपालः कार्यकारीसमितिं पर्यवेक्षयति।
- उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य कुलपतिः शैक्षिकसमितिं, प्रबन्धसमितिं, वित्तसमितिं, भवनसमितिञ्च पर्यवेक्षयति।

गतिविधयः

- अप्रकाशितपाण्डुलिपीनां, दुर्लभसंस्कृतकार्याणां सम्पादनम् प्रकाशनञ्च।
- पत्रिकायाः सम्पादनं प्रकाशनञ्च।
- संस्कृतपाम्डुलिपीनां दुर्लभसंस्कृतकार्याणां संरक्षणं सङ्ग्रहश्च।
- सङ्गोष्ठीनां, कार्यशालानाम् च आयोजनम्।
- व्याख्यानकार्यक्रमाणां, व्याख्यानमालानाम् च आयोजनम्।
- संस्कृते विभिन्नविषयेषु पाठ्यक्रमानां निर्माणम् सञ्चालनञ्च।
- स्वप्रकाशितग्रन्थानां, पाण्डुलिपीनां प्रदर्शनीनाम् आयोजनम्।
- परियोजनानाम् स्वीकरणम्।

- अनुसन्धानां पर्यवेक्षणम्।

उपलब्धयः

संस्कृत अकादम्याम् अनेकानि पुस्तकानि, ग्रन्थानि च प्रकाशितानि। विविधकार्यक्रमाणां समायोजनेन संस्कृतस्य प्रचारं कुर्वन्ति। संस्कृताध्यापनकार्यक्रमाः निरन्तरम् आयोजयन्ति। विविधछात्रेभ्यः कौशलप्रदर्शनकार्यक्रमाणां समायोजनम्, कार्यशालानां, सङ्गोष्ठीनाञ्च आयोजनम्। विदुषेभ्यः व्याख्यानमालानाम् सायोजनम्। एतत्सर्वमपि संस्कृत अकादम्याः अल्पसङ्ख्येभ्यः कार्यकर्तृभ्यः समर्पणप्रतिबद्धतया एव सुसम्पन्नं जातम्।

ग्रन्थालयः

संस्कृत अकादम्यां दुर्लभानि पुस्तकानि वर्तन्ते। अत्र नवसहस्राधिकपुस्तकानि विद्यन्ते। तेषु वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-पुराण-धर्मशास्त्र-आयुर्वेद-इतिहास-कोश-तन्त्रशास्त्र-भाषाशास्त्रादि पुस्तकानि सन्ति। तदर्थम् पठितारः, छात्राः, गवेषकाश्च निरन्तरम् अत्र समायान्ति।

प्रकाशनानि

१९५४ तः एतावत् पर्यन्तं विंशत्यधिकेकशताधिक (120) पुस्तकानि प्रकाशितानि। आवर्षेषु एकस्य वा पुस्तकस्य सम्पादनं करणीयमिति दृढसङ्कल्पं स्वीकृत्य कार्यं कुर्वन्ति तत्रत्यः कार्यकर्तारः। तेषु अविस्मरणीयानि बुहुप्रसिद्धानि च पुस्तकानि वर्तन्ते। ते च – सूक्तिमाला (2009), गणकपाणिनीयम् (2009), सूरिविजयः (2010), The Journal of Sanskrit Academy (Vol. XXI- 2011), दयानन्दगैर्वाणी (2011), आगमविमर्शः (2011), भरतरसप्रकरणम् (2011), संस्कृतवाङ्मये तृतीयाविभक्तिः (2011), शिल्पश्रीः (2011), सारमञ्जरी (2011), वरदाभ्युदयचम्पू (2011), The Journal of Sanskrit Academy (Vol. XXII- 2012), ब्रह्मसूत्रवृत्तिः (२०१२), वाचस्पतिमिश्रकृत व्यवहारचिन्तामणिः (२०१२), The Journal of Sanskrit Academy (Vol, XXIII- 2013), संस्कृतसङ्गणकशब्दकोशः (2013), ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका नाम

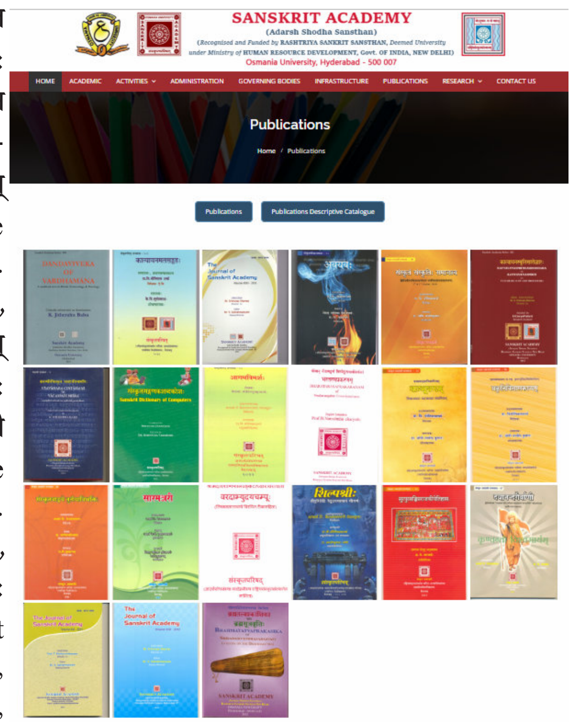

सुरपुरसङ्क्षिप्तराजकीयेतिहासः (2013), कात्यायनस्मृतसङ्ग्रहः (2013), अवयवः (2013), संस्कृतं संस्कृतिः समाजश्च (2013), कात्यायनस्मृतिसारोद्धारः (2013), वाग्भूषणम् (2013), प्रकृतिविलासकाव्यम् (2013), Dandaviveka of Vardhamana (2013) इत्यादयः अनेकाः अमूल्यग्रन्थाः प्रकाशिताः प्रकाशयिष्यन्ते च।

संस्कृतपरियोजना

Development of Sanskrit Computational Linguistic Tools and Sanskrit-Hindi Machine Translation System इति परियोजनया संस्कृत-अध्येतृणां महत्त्वपूर्णं योगदानं वर्तते। चतुर्वर्षात्मिकां परियोजनां एतां सप्त संस्थाः सम्भूय अकुर्वन्। तेषु संस्कृत अकादमी अपि अन्यतमा वर्तते।

ई-पाठ्यसामग्र्याः निर्माणम्

समासप्रकरणं, कारकप्रकरणं, काव्यप्रकाशः, तर्कसंङ्ग्रहः, सांख्यकारिकाः इत्यादीनां संस्कृतग्रन्थानां पठनपाठनाय ग्राफिक्-चित्रसहितां ई-पाठ्यसामग्री निर्मिता। वीडियोचित्राणि अपि निर्मितानि। संस्कृतच्छात्राः अनया पाठ्यासामग्र्या लाभान्विताः भवन्ति।

उपसंहारः

अनेन ज्ञायते यत् संस्कृत अकादम्यां बहूनि कार्याणि निरन्तरं वर्तते। तेलङ्गाणाराज्येऽपि सुरभारतीसमुपासकाः सदा स्वकार्यक्रमैः गीर्वाण्याः प्रचारप्रसारञ्च कुर्वन्तीति सन्तोषोऽयं विषयः। अनेन न केवलं संस्कृत अकादम्याः नाम विख्यातम् अपि तु उस्मानिया विश्वविद्यालयस्य, तेलङ्गाणा राज्यस्यापि नाम सुप्रसिद्धिम् अवाप।

सन्दर्भग्रन्थसूची

- **सूक्तिमाला,** सम्पादनम् डॉ. के. वरलक्ष्मीः, मुद्रणम् संस्कृत अकाडमी, उस्मानियाविश्वविद्यालयः, २००९
- **गणकपाणिनीयम्,** सहसम्पादनम् डॉ. के. वरलक्ष्मीः, मुद्रणम् संस्कृत अकाडमी, उस्मानियाविश्वविद्यालयः, २००९
- **सूरिविजयः**, सम्पादनम् डॉ. के. वरलक्ष्मीः, मुद्रणम् सस्कृत अकाडमी, उस्मानियाविश्वविद्यालयः, २०१०
- **संस्कृतावाङ्मये तृतीयाविभक्तिः**, सम्पादनम् डॉ. वि. सुब्रह्मण्यम्, मुद्रणम् संस्कृत अकाडमी, उस्मानियाविश्वविद्यालयः, २०११
- **संस्कृतसङ्गणकशब्दकोशः**, सम्पादनम् डॉ. श्रीनिवास वरखेडी, मुद्रणम् संस्कृत अकाडमी, उस्मानियाविश्वविद्यालयः, २०१३
- संस्कृतं संस्कृतिः समाजश्च सम्पादनम्, डॉ. जोषि सन्तोषकुमारः, मुद्रणम् संस्कृत अकाडमी, उस्मानियाविश्वविद्यालयः, २०१३
- https://www.osmania.ac.in/sanskritacademy/
- https://www.osmania.ac.in/sanskritacademy/publications.html
- https://www.osmania.ac.in/sanskritacademy/images/publications.pdf
- https://www.osmania.ac.in.sanskritacademy/images/descriptive.pdf
- https://www.osmania.ac.in.sanskritacademy/images/administration.html

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

न्यायनये प्रयोजनपदार्थस्य तात्पर्यम्

पौषाली मण्डल*

सारसंक्षेपः *– मनुष्यस्य एकः स्वभाविकधर्मः प्रवृत्तिः। मनुष्यः तेषु कार्येषु प्रवृत्तं भवति यत्र सः प्रयोजनमनुवति। प्रयोजनं विना कार्यस्य अनस्तित्वत्वात् व्यवहारिकजीवने अस्य गुरुत्वम् अनस्वीकार्यम्। शास्त्रकाराः प्रयोजनविषये चिन्तयित्वा शास्त्रं विरचयन्ति। न्यायशास्त्रे प्रयोजनमेकं पदार्थत्वेन वर्णितम्। व्यवहारिकजीवने प्रयोजनस्य गुरुत्वम् अनुभूय महर्षिगौतमः न्यायस्य पूर्वाङ्गरूपेण प्रयोजनं स्वीकरोति पृथक्पदार्थस्य स्थानं च ददाति।*

सूचकशब्दसमूहः *– प्रयोजनम्, उद्देश्यम्, प्रवृत्तिः, यशप्राप्तिः, जनविनोदनं, पदार्थः, सुखप्राप्तिः, दुःखहानी, पूर्वाङ्गं, विचारः, स्वतःप्रयोजनम्, गौणप्रयोजनम् ,नव्यन्यायः, गुणः, प्राचीनन्यायः, मौलिकपदार्थः च।*

भूमिकाः – मानवाः प्रवृत्तिशीलाः। स्वीयविचारानुसारेण मानवमात्रं प्रवर्त्तते निवर्त्तते वा। अस्याः प्रवृत्तेः निवृत्तेः वा मूलं भवति प्रयोजनम्। यस्मिन् विषये जनाः प्रयोजनं न अनुभवन्ति तस्मिन् विषये ते कदापि न प्रवर्त्तन्ते निवर्त्तन्ते वा। उच्यते यत्– ''**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।**''[१] अतः मनुष्यस्य प्रधानप्रयोजकः भवति प्रयोजनम्। प्र पूर्वकं युज् धातोः ल्युट् प्रत्ययेन सिद्धं 'प्रयोजनम्' इति पदस्य अर्थः हेतुः, उद्देश्यं, लक्ष्यम् इत्यादयः''प्रयुज्यतेऽनेनेति प्रयोजनम्''– इति व्युत्पत्त्यानुसारेण प्रयोजनपदस्य अर्थः भवति– येन हेतुना कारणेन वा प्रेरितं भूत्वा जीवाः कर्मं प्रति प्रकृष्टतया प्रयुज्यन्ते। उद्देश्यविहीनकर्मे जनाः कदापि न प्रवर्त्तन्ते। पूर्वकल्पितोद्देश्यं स्थिरीकृत्वैव जनाः कर्मयुक्ताः भवन्ति। एतत् उद्देश्यं लक्ष्यमेव वा 'प्रयोजनम्' इति नाम्ना परिज्ञायते। एतदपि वक्तुं शक्यते यत्– यदा यस्मिन् विषये अभावोऽनुभवति तदा तस्य विषयस्य अभावपुरणार्थं यत् समर्थं भवति तत् प्रयोजनपदवाच्यम्। यथा तृष्णारूपः जलाभावः निवारणार्थं मनुष्यः जलस्य प्रयोजनमनुभवति, अपि च ज्ञानाभावात् मनुष्यः ज्ञानार्जनस्य प्रयोजनमनुभवति। अनेन प्रकारेण जनाः व्यवहारिकजीवने प्रतिक्षणे प्रयोजनस्य आवश्यकता अनुभवन्ति।

व्यवहारिकजीवने प्रयोजनम्

व्यवहारिकजीवने जीवमात्रमेव स्वप्रयोजनकृते कार्यं करोति। सृष्टेः प्रथमावस्थायां प्राणीनां प्रधानप्रयोजनमासीत् क्षुधानिवृत्तिः। तस्मात् ते खाद्यानुसन्धानार्थं प्रवृत्तवन्तः। परवर्त्तिकाले पशुपक्षीनां कृते प्रयोजनमेतत् परिलक्ष्यते, परन्तु मनुष्यस्य प्रयोजनं न केवलं ख्याद्यानुसन्धाने आवद्धमस्ति। मनुष्यस्य क्रमोन्नत्या सह तस्य प्रयोजनस्य परिधिरपि वर्धते। वर्तमानकाले मानवाः जागतिकसुखलाभाय सदा सचेष्टाः भवन्ति। सुखप्रदायकवस्तुनां प्रयोजनं ते सदानुभवन्ति। यथा क्षुधानिवृत्तये खाद्यस्य, तृष्णानिवृत्तये जलस्य, लज्जानिवृत्तये परिधानस्य, क्लान्तिनिवृत्तये निद्रायाः, जीवनधारणाय जीविकायाः, पुण्यार्जनाय धर्मकार्यस्य,

* शोधार्थी (M.Phil), संस्कृत विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल

अज्ञाननिवृत्तये ज्ञानस्य इत्यादि अगणितविषयस्य प्रयोजनं मनुष्यः दैनन्दिनजीवने सदा अनुभवमन्ति। अधुना मनुष्यस्य प्रयोजनसिद्धये विज्ञानस्य अग्रगतिः। वर्तमानकाले अत्याधुनिकपृथिव्याः यत् सुसज्जितं रूपं वयं पश्यामः तत् मनुष्यस्य प्रयोजनसिद्धेः फलस्वरूपम्। न केवलं दैनन्दिनजीवने वैज्ञानिकाविष्कारे, शास्त्रार्थप्रतिपादने, अध्यात्मजिज्ञासायां प्रयोजनस्य भूमिका स्पष्टतया परिलक्ष्यते। यदि शास्त्रारम्भे शास्त्रकाराः शास्त्रस्य प्रयोजनं न अनुभवन्ति तर्हि तत् शास्त्रं केनापि न गृह्यते। अतः शास्त्ररचनात् प्राक् शास्त्रकाराः यस्मिन् विषये अग्रे चिन्तयन्ति तत् खलु प्रयोजनम्। श्लोकवार्त्तिके कुमारिलभट्टेन उच्यते –

''सर्वस्य एव शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते।।''[२]

शास्त्रान्तरे प्रयोजनमेतत् भिन्नरूपेण वर्णितम्। वेदस्य कर्मकाण्डे यागाद्यानुष्ठानेन स्वर्गलाभस्य वर्णनमस्ति। अतः तत्र स्वर्गरूपफलप्राप्तिः प्रयोजनरूपेण वर्णिता। भारतीयदर्शने चार्वाकव्यतिरेके इतरदर्शनाः जीवस्य परमपुरुषार्थः मोक्षरेव इति मन्यन्ते। यतः अज्ञानस्य दुःखस्य वा आत्यन्तिकनिवृत्त्या मनुष्यः मोक्षलाभे समर्थः भवति, अतः दुःखस्य अज्ञानस्य वा निवृत्त्येव दर्शनशास्त्रस्य मुख्यप्रयोजनम्। 'भामती' इति टीकायाः प्रारम्भे वाचस्पतिमिश्रेण उच्यते – ''यत् असन्दिग्धम् अप्रयोजनञ्च न तत् प्रेक्षावत्।'' अर्थात् असन्दिग्धाप्रयोजनविषये च विवेचकजनानां जिज्ञासा न जायन्ते। न केवलं दर्शनशास्त्रे व्याकरणशास्त्रेऽपि प्रयोजनस्य भूमिका परिलक्ष्यते। भाषायाः कृतेव्याकरणस्य गुरुत्वं सर्वजनवेदितम्। परन्तु प्रयोजनं विना व्याकरणमिव जटिलशास्त्रपाठे कोऽपि न प्रवर्त्तते। एतस्मात् महाभाष्यकारेण व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनविषये उच्यते– ''**रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।**''[३] अर्थात् वेदानां रक्षा, ऊह अर्थात् समयविशेषे याज्ञिकमन्त्रपाठस्य परिवर्तनम्, आगमः, लाघवः, असन्देह इत्यादि षट्प्रयोजनार्थं पुरुषः व्याकरणशास्त्राध्ययने प्रवृत्तः भवति। एतानि सर्वाणि व्याकरणपाठस्य मुख्यप्रयोजनम्। एतद् व्यतिरिक्तं महाभाष्यकारः त्रयोदशगौणप्रयोजनमपि उल्लेखयति।

काव्यशास्त्रस्य आलङ्कारिकाः काव्यरचनायाः विविधानि प्रयोजनानि वर्णयन्ति। तेषु काव्यप्रकाशे काव्यरचनायाः षट्प्रयोजनविषये मम्मटार्येण उच्यते –

''काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृत्तये कान्तासंम्तितयोपदेशयुजे।।''[४]

अर्थात् यशप्राप्तिः, अर्थप्राप्तिः, लोकव्यवहारः, अमङ्गलविनाशः, परमानन्दस्य प्राप्तिः, कान्तासम्मितोऽपदेशः इत्यादि षट्प्रयोजनाय कविः काव्यं विरचयति।

नाट्यशास्त्रप्रणेताभरतेन उच्यते जनविनोद एव तस्य नाट्यशास्त्ररचनायाः मुख्यप्रयोजनम्।[५]

अतः प्रत्येकं शास्त्रमेव प्रयोजनकृते विरचयति। शास्त्रेषु प्रयोजनमेतत् अपरिहार्यरूपेण स्वीकृतसत्वेऽपि प्रयोजनस्य स्वरूपानुधावनार्थं न्यायशास्त्रस्य अवदानमवश्यमेव स्वीकार्यम्। व्यवहारिकजीवने प्रयोजनस्य गुरुत्वमेतत् उपलब्ध्रिं कृत्वा न्यायशास्त्रकारः महर्षिगौतमः एकमौलिकतत्त्वरूपेण प्रयोजनं वर्णयति।

न्यायदर्शने प्रयोजनपदार्थस्य स्वरूपम्

गौतमीय न्यायशास्त्रे प्रयोजनम् एकपदार्थरूपेण वर्णितम्। महर्षिः शास्त्रारम्भे षोडशपदार्थानामुद्देशं करोति। एतेषु प्रयोजनं चतुर्थम् – ''**प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावय-वस्तर्कनिर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः-**

श्रेयसाधिगमः।''[६]

न्यायभाष्यकारेण प्रयोजनपदार्थस्य व्युत्पत्तिविषये उच्यते– **''येन प्रयुक्तः प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्।''** अर्थात् येन जीवः कर्मप्रयुक्तः भवति तत् प्रयोजनम्। तेन उच्यते **''यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्म्मारमते''**– यं पदार्थं लब्धुं त्यक्तुं वा इष्ट्वा मनुष्यः कर्ममारभते तदेव प्रयोजनम्। केवलं ईप्सितपदार्थ एव प्रयोजनपदवाच्यमिति न वक्तव्यम्। भाष्यकारस्य मतानुसरेण त्याज्यपदार्था अपि प्रयोजने अन्तर्भवन्ति। येन पदार्थेन दुःखमुत्पद्यते सैव त्याज्यम्। अतः तान् पदार्थान् त्यक्तुमिष्ट्वा जीवः कर्मयुक्तः भवति। प्रयोजनं प्रमेयान्तर्गतं भूत्वाऽपि अस्य पृथक् स्थानं कल्पते महर्षिणा। अस्य कारणव्याख्याप्रसङ्गे तेन उच्यते– **''तेनानेन सर्वे प्राणिनां सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः। तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्त्तते।''** अर्थात् सर्वप्राणिनः, सर्वकर्माणि, सर्वविद्याश्च प्रयोजनेन व्याप्तम्। एतानि सर्वाणि सप्रयोजनम्। अस्य प्रयोजनस्य आश्रयं भूत्वा न्यायः प्रवर्त्तते। आश्रयः पदस्यार्थः भवति उपकारकः। यथा पण्डितः राजाश्रितः भवति अर्थात् पण्डितस्य उपकारकरूपो आश्रयः यथा राजा तथा न्यायप्रवृत्तेः उपकारकरूपमाश्रयः भवति प्रयोजनः। **''प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः''** अर्थात् न्यायशब्देन परीक्षारूपकार्यमेव बोद्धव्यम्। परन्तु प्रयोजनव्यतिरेकेन परीक्षा असम्भवः। अतः परीक्षायाः न्यायस्य वा पूर्वाङ्गं भवति प्रयोजनम्। न्यायवार्त्तिके उद्योतकरेण उच्यते– **''या खलु निष्प्रयोजना चिन्ता नासौ न्यायस्याङ्गमिति। परीक्षाविधेस्तु प्रधानाङ्ग प्रयोजनमेव, तन्मूलत्वात् परीक्षाविधेरिति।''**[७] अर्थात् यः विचारः निष्प्रयोजनः स कदापि न न्यायाङ्गं भवितुमर्हति। तस्मात् प्रयोजनस्य पृथकोल्लेखं सङ्गतम्।

प्रयोजनपदार्थस्य आक्षरिकार्थः सर्वैः बोध्यतेऽपि पदार्थस्य पृथक्सत्ताप्रतिपादनार्थं तस्य लक्षणकथनमावश्यकम्। अतः सूत्रकारेण प्रयोजनस्य लक्षणविषये उच्यते– **''यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्।''**[८] यं पदार्थमधिकृत्य अर्थात् ग्राह्यं त्याज्यमिति वा निश्चितं कृत्वा जीवः प्रवर्तते निवर्तते वा तदेव प्रयोजनम्। भाष्यकारेण अस्य सूत्रस्य व्याख्याप्रसङ्गे उच्यते– **''यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वा व्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति प्रयोजनं तद्वेदितव्यम्।''** अर्थात् जीवः यं पदार्थं प्राप्तव्यं त्यक्तव्यमिति निश्चयित्वा तस्य प्राप्तेः त्यागस्य वा उपायमनुष्ठयति तत् प्रयोजनम्। परन्तु कः पुनः आप्तव्यं हातव्यं पदार्थः, अस्मिनविषये प्रश्नः जायते। न्यायवार्त्तिककारेण उक्तम्– **''सुखदुःखयोरवाप्तिहानाभ्यामयं लोकः प्रयुज्य इति सुखदःखाप्तिहानी प्रयोजनमिति।''** अर्थात् सुखप्राप्तये दुःखत्यागाय वा मनुष्यः सदा प्रवर्तते, अतः सुखप्राप्तिः दुःखहानी च मनुष्यस्य प्रयोजनम्। वाचस्पतिमिश्रः मुख्यगौण इति भेदेन प्रयोजनं विभजयति। यस्मिन् विषये जीवः स्वत इच्छति तद् मुख्यप्रयोजनं। सुखप्राप्तिं दुःखप्राप्तिं प्रति जीवस्य इच्छा स्वतः जायते, अतः उभयप्रयोजनमेव मुख्यम्। मुख्यप्रयोजनसिद्धये साधनं यत् सर्वं तत् गौणप्रयोजनम्। वाचस्पतिमिश्रस्य मतानुसारेण सूत्रकारः सूत्रस्थ 'अर्थ' इति पदेन उभयप्रयोजनं सूचयति।

प्राचीननव्यञ्च भेदेन न्यायः द्विविधः। प्राचीनन्याये एव प्रयोजनमेकं पदार्थत्वेन वर्णितम्, नव्यनैयायिकैः यन्न स्वीकृयन्ते। तेषां मतानुसारेण सुखप्राप्तेर्हेतुत्वात् प्रयोजनं गुणान्तर्गतं भवति दुःखनिवृत्तेर्हेतुत्वात् च तत् अभावेऽपि अन्तर्भवति।

अतः पदार्थत्वेन उद्देश्यरूपेण वा गृहीतं प्रयोजनं विना अस्माकं जीवनस्य अग्रगतिः कदापि न भवितुमर्हति। व्यवहारिकजीवने प्रयोजनस्य एवं गुरुत्वमनुभूय न्यायशास्त्रे प्रयोजनमेकं मौलिकपदार्थरूपेण स्वीकृतं वर्णितञ्च।

सन्दर्भ-सूची

१. श्लोकवार्तिकम्

२. श्लोकवार्तिकम् १.१.१७

३. महाभाष्यम्, सू. ६

४. काव्यप्रकाशः, प्रथम उल्लास, का. २

५. वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोद-जननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। नाट्यशास्त्रम् १.११९

६. न्यायसूत्रम् १.१.१

७. न्यायवार्तिकम् १.१.२४

८. न्यायसूत्रम् १.१.२४

ग्रन्थ-सूची

- न्यायदर्शनम्, प्रथमोऽध्याय, फणिभूषण तर्कवागीश, पश्चिमवङ्गराज्यपुस्तकपर्षत्, कलकाता, १९८१
- न्यायवार्त्तिकम्, प्रथमोऽध्याय, श्रीनिवास शास्त्री, इण्डो-विजन-प्राइवेटलिमिटेड, गाजियाबाद, १९४६
- न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, अनन्तलाल ठाकुर, भारतीयदार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, १९९४
- वेदान्तसारः, विपदभञ्जन पाल, संस्कृत पुस्तक भाण्डार, कलकाता।
- वेदान्तदर्शनम्, राजेन्द्रनाथ घोष, पश्चिमवङ्ग राज्यपुस्तक पर्षद्, कलकाता, १९९१
- महाभाष्यम्, गङ्गाधर कर, संस्कृत बुॅक् डिपो, कलकाता, २००२
- भरत-नाट्यशास्त्रम्, सुरेशचन्द्र वन्दोपाध्याय, नवपत्र प्रकाशन, कलकाता, १९८०
- काव्यप्रकाशः, कल्पिका मुखोपाध्याय, श्रीलक्ष्मी प्रेस, वोलपुर, २००२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्र : प्रणीत 'चित्रपर्णी' कथा-संग्रहे जीवनमूल्यानि

डॉ. शोभा भारद्वाज*

मानवजीवने पराजैविक आधारस्य महत्त्वपूर्णस्थानं अस्ति। जीवने स्थूलशरीरस्य अतिरिक्तं सामाजिकसांस्कृतिकश्च व्यक्तित्वम् अपि प्राप्तं भवति यस्य निर्माणे जैविक तत्वस्य अतिरिक्तं परिवार-संस्कार-प्रथा-परम्पराणां च महत्त्वपूर्णं स्थानं भवति। जीवनमूल्यस्य विकासक्रमे जैविकमूल्यस्य अनन्तरं पराजैविक मूल्याः सन्ति। पराजैविकमूल्याः निम्नाः सन्ति।

धर्मः - भारतीयसंस्कृत्यां धर्मव्यापकरूपेण स्थितोऽस्ति। धर्मः सर्ववस्तु प्रतिष्ठापको भवति। धर्मः स पदार्थो येन राष्ट्रं धार्यते, जातिः धार्यते, मानवोर्धार्यते। धर्मतः एव अत्र भौतिकमपि कार्यं क्रियते। धर्मच्युतकार्यं विनाशकारकमेव भवति। अधुनापि अस्माकं सामाजिको नियमो धर्मः संविधान धर्मः जीविकायां कर्तव्यपालनं धर्मः तेनाद्य वयं क्षणमात्रमपि धर्मं बिना न तिष्ठामः। नियमपालनपूर्वकं कार्यकरणेन न केवलं कार्यसुकरं भवति अपितु उन्नतिं प्रतिवर्धयति अन्यथा अवनतिः एव भवति। अतः एवोक्तम्-

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।। (मनुस्मृति ८.१५)

भारतीयबौद्धिकगवेषणा प्रायोः धर्म- प्रवणः एवाऽभवत् तद्यथा प्रतिपादितं मैक्डोनल महोदयेन-

"The intellectual life of Indians has in fact all along been more dominated by religious throught than that of any other race." (A History of Sanskrit Leterature)

एडवर्ड टायलर शब्देषु -

"Religion is that believe in spiritual being." (Primitiwecuttare Edwaral Biytor-424)

धर्मः जीवनयापनस्य आचरणसंहिता अस्ति अतः जीवनमूल्येषु धर्मः महत्त्वपूर्ण जीवनमूल्योऽस्ति।

दर्शनम् - मानवजीवनस्य चरममूल्यानाम् अन्वेषणं दर्शनस्य विषयो अस्ति। 'दर्शनम्' शब्दस्य सर्वप्रथमोन्मेषो वैदिकऋचासु भारतस्य पावनधरायामभवत्। 'दर्शन' शब्दस्य निष्पत्तिः 'दृश्' प्रेक्षणे, धातोः भावकरणयोरर्थे 'ल्युट्' प्रत्यय-योजनेन भवति। पाश्चात्य साहित्यदर्शनस्य कृते 'फिलॉसफी' इत्याख्यस्य शब्दस्य प्रयोगः भवति। अस्य शब्दस्यार्थः 'ज्ञानं प्रति अनुरागः' इति भवति। दर्शनजीवनयोः मध्ये घनिष्ठसम्बन्धोऽस्ति। व्यावहारिकजीवनस्य शङ्कासमाधानाभ्यामेव दर्शनस्योद्भवो जातः अतः दर्शनं जीवनस्य प्रत्येकं पक्षं स्पर्शयति। एतद् कारणेनैव जीवनमूल्यस्य निर्माणेऽपि विविधता भवति।

नीतिः - भारतीयसमाजे 'नीतिः' सफलजीवनयापनस्य एका चिन्तनप्रधानकला अस्ति। 'नीतिः' इति

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग (डी. ई. आई.), दयालबाग, आगरा (उ. प्र.)

शब्दस्य सिद्धिः 'नी' धातोः भवति। नीतिः सम्बन्धिः कार्यमेव नैतिकमिति कथ्यते। सः उपायः यः मनुष्यं लक्ष्यं प्रति गमयति 'नीतिः' इति कथ्यते –

नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादयः।

एहिकामुष्मिकार्था वा अनया।। (संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ-६२८)

नालन्दा विशालशब्दसागरे नीतिः शब्दस्य विविधाः अर्थाः सन्ति –

''व्यवहारस्य रीतिः, आचार पद्धतिः, समाजस्य

कृते निश्चितः आचार-व्यवहारः इत्यादयः।

(नालन्दा विशालशब्दसागरः – ७२५)

देशकाल एवं परिस्थितीनामनुसारेण समाजस्य स्वरूपे व्यवस्थायां च परिवर्तनं भवति। तदानुसारेण जीवनमूल्यापि तदानुसारेण परिवर्तितं भवन्ति।

साहित्यम् – भारतवर्षस्य पुरातनः साहित्यिकनिधिरतिशयसमृद्धो वर्तते। तत्र प्रथमं स्थानं वैदिकसाहित्यैवास्ति। वैदिकसाहित्येन वेदसंहितानां, ब्राह्मणग्रन्थानामारण्यकोपनिषदां च निर्देशो अस्ति। तत्पश्चात् श्रौतगृह्यधर्मसूत्राणां स्मृतीनां च ग्रन्थाः वर्तन्ते। प्रायोऽस्मिन्नेव युगे महाभारतरामायणो रचना कृता। इमे द्वे संस्कृतिज्ञानायाकररूपे स्तः। आभ्यां सह पालिग्रन्थानां रचना समारब्धा। पालिसाहित्यस्य त्रिपिटकानि मूलग्रन्थाः। इमानि समाश्रित्य परिवर्तियुगे दर्शनधर्मादिकमाधिकृत्य विपुलसाहित्यं विरचितं। वेदाङ्गानां शिक्षाकल्पनिरुक्तच्छन्दोज्योतिष-व्याकरणविषयाणां ग्रन्थाः वैदिकयुगे विरचिताः। रामायणमहाभारतयोः शैलीमनुकृत्य परिवर्तितयुगेऽष्टादश पुराणानि, उपपुराणानि च विरचितानि सङ्कलितानि वा। एषु ग्रन्थेषु सृष्टेरादिकालात् एव मानवजीवनस्य सर्वाङ्गीणा विशदा गाथा प्राप्यते। अपराणि च तत्र सन्त्येव नीतिशास्त्राणि कामशास्त्राणि च, यैः समकालिक जीवनस्य लौकिकपक्षः प्रकाश्यते। अनुपदमेव अश्वघोष-कालिदास-भारवि-भवभूति-बाणभट्ट-माघ-दण्डी- सुबन्धु-श्रीहर्ष-कल्हणप्रमुखा असंख्यास्ते महाकवयो येषां कृतयोऽधुनापि लभ्यन्ते। वर्तमानेऽपि एतत्सर्वानि पुस्तकानि वर्तन्ते।

दार्शनिक मूल्यानि – इह जगति जीवनकाले सुखलाभाय कथं व्यवहर्तव्यमिति मानवाः स्वज्ञानानुरूपमेव निर्धारयन्ति। पंचभूतमये भौतिकजगति पशूनामप्यैन्द्रियसुखलाभः सम्भवति। विज्ञानजनितेन नैसर्गिकनैश्वर्येण सूक्ष्माणि इन्द्रियसुखानि मानवेभ्यः सुलभानि भवन्ति। रसवृत्या काव्यकलाशिल्पादीनिनामानन्दः प्राप्यते। तथा च जगतो यदाध्यात्मिकमाधिभौतिकं वा स्वरूपं तस्य ज्ञानमेव दर्शनम्। तस्य ज्ञानस्य अर्जनस्य प्रक्रियापिदर्शनमेव। दर्शनस्य प्रकाशे मानवः स्वजीवनोद्देश्यं कर्तव्यपथं च विचिनुते। यत् किञ्चिद्विज्ञानं विवेचयति तदेव संकलय्य दर्शनमुपसंहरति। **मिश्रोऽभिराजेन्द्रः** कृत **'चित्रपर्णी'** कथासंग्रहे मानवीयजीवनदर्शनं दृष्टिगोचरं भवति। व्यावहारिकजीवनस्य शङ्कासमाधानाभ्यामेव दर्शनस्योद्‌भवो जातः अतः दर्शनं जीवनस्य प्रत्येकं पक्षं स्पर्शयति। यथा हि लयेरिका (लोरी) माध्यमेन कथं मानवजीवनदर्शनं प्रभावितं भवति। तस्य वर्णनं 'लयेरिका' इति कथायां वर्णयति।

वस्तुतः को नु खल्वेतादृशो यो जननीमुखाद् बाल्ये लयेरिका न श्रुतवान्। लयेन गीतिरागेण ईरयति शिशुं निद्रातं प्रेरयतीति कृत्वाऽसौ गीतिर्लयेरिका। ग्रामः स्यान्नगरं वा। प्रासादः स्यात्कुटीरं वा। भाषा स्यादपभाषा वा। लयेरिकेयं सर्वत्रैव गीयते। लयेरिका माध्यमेन जीवनदर्शनं प्रभावितं भवति तथा च दार्शनिकमूल्योऽपि –''**लयेरिकाऽपि जीवनदर्शनं विवृणोति। कस्मादिति चेत् शृणु। लयेरिकायां गीयते यद् बालकः कुतश्चिद् द्वे वराटिके लब्धवान्। स तद् वराटिकाद्वयं भगवत्यै गङ्गयै**

दत्तवान्। प्रसन्ना गङ्गा बालकाय बालुकां दत्तवती। बालकस्तां बालुकां भ्राषट्रभूर्जकाय प्राददात्। प्रह्वभूतो भूर्जकस्तस्मै लाजा दत्तवान्।'' (चित्रपर्णी, पृ. ३९)।।

अतः स्पष्टमस्ति यत् आत्मनः रूपद्वयम् अस्ति परमात्मा जीवात्मेति च। ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वव्यापकः सर्वशक्तिमानमस्ति। जीवोऽल्पज्ञोऽक्तश्चास्ति। जीवा अनेके, ईश्वरस्तु एकएव। तथैव हि जीवनमूल्यानां मार्गाः विविधाः सन्ति परं लक्ष्यत्वेकमेव अस्ति। लयेरिका तु केवलं एकं मार्गमस्ति किन्तु जीवनसार्थक्यं तु अस्यां एवं निहिता अस्ति।

''नेयं गीतिर्मनोरञ्जनमात्रलक्ष्या। नेयं केवलं बालानां निद्रार्थं गीयते अपितु सकलमेव मानवजीवनसाफल्य रहस्यं विवृणोति। अपरतः किञ्चिदप्य वाप्तुमावश्यकं भवति। आत्मनीनस्य वस्तुनः दानं समर्पणं वा। प्रदत्तात् सम्प्राप्तं वस्तु सर्वदैव महीयते।'' (चित्रपर्णी, पृ. ४०)।

धार्मिक मूल्यानि – अस्मिन् ब्रह्माण्डे यत्किञ्दिपि विद्यते तस्य सर्वोत्तमोपयोगः केन प्रकारेण कर्तव्य इति धर्मशास्त्रस्य प्रमुखः विचार-विषयः। धर्मशास्त्रानुसारं मानवजीवनमेकान्तं नास्ति। पूर्वामपि जीवनमासीत् प्रायशः पश्चादपि जीवनं भविष्यति। आस्यां स्थितौ वर्तमानजीवने तथा व्यवहर्तव्यं येन भावीजीवनेऽपि सुखं भवेत्। ततो मुक्तिर्नाम मरणान्तरं सर्वोच्चाभ्युदतः। यदि प्रयत्नैः सा कदाचिन्न लब्धा भवेत्तर्हि येन केन प्रकारेण स्वर्गसुखाय यत्नः करणीयः। अथवा संसारे पुनर्जन्मनि पुनरपि स्वाभ्युदयात्मक स्थितीनां शाश्वती करणाय वर्तमानजीवने उपायः करणीयः इति विपश्चितां मतम्। दतधिकृत्य धर्मस्य परिभाषा कृता– **'यतोऽभ्युदयानि निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'** मानवताया अभ्युदयार्थ समीचीनानि विधानानि कृतानि। तथा हि ब्रह्मे मुहर्ते उत्तिष्ठेत्। अपरिचितेन सह यात्रां न कुर्यात्। कुलपद्धतिं न त्यजेत्। सत्यम् आचरेत्। द्वेशदम्भमानक्रोधक्रौर्याणि परित्याक्यानि। लघुजनानां तिरस्कारमुपेक्षेत्। मिश्रमहोदस्य कृत चित्रपर्णी कथा-संग्रहे एतानि लक्ष्यन्ते यथा हि **'साक्ष्यम्'** इति कथायां सत्यं प्रतिष्ठापनां अभवत्।

कस्मिश्चित् ग्रामे नन्दलाल नामकः एकः पुरुषः आसीत्। तस्सिन्नेव ग्रामे नोखईराम नामकः एकः वराकः प्रतिवसति स्म। नन्दलालः कुतन्त्रेण तस्य भूमिखण्डं बलात्कारेण स्वायत्तं कृतवान्। नोखईराम न्यायालयं गत्वा स्वव्यथां प्रवत्तां घटनां च न्यायाधिकारिणे न्यवेदयत्। किञ्चित् समयानन्तरं वादः प्रारब्धः। साक्षिः त्रिलोचनः पार्श्वस्थकाष्ठगृहे (कटघरा) तिष्ठन् अस्ति। न्यायालयसम्बन्धी कश्चन् पुरुषः श्रीमद्भगवद्गीतां आनीय साक्षिणः हस्ते स्थापयित्वा 'अहं यत्किञ्चिदपि कथायिष्यामि सत्यमेव कथायिष्यामि। सत्यादृते नाऽन्यत् कथयिष्यामि।' इति प्रतिज्ञां कारितवान्। त्रिलोचनः न केवलं धर्मभीरुः किन्तु सत्यप्रियोत्यासीत्। अतः सः सत्यस्य पक्षे अवदत् –

''कम्पितगात्रो हृदुद्वेल्लितसंशयसागरो धर्मभीरुस्त्रिलोचनो यथाकथञ्चित् न्यायलयपुरुषस्य प्रतिज्ञावचनं पुनरुक्तवान्, निस्तब्धतालद्रुम इव च निर्भयमवतस्थे। त्रिलोचनोऽवादीत् हुजूर। सर्वदाऽसत्यमिदम्। न मत्समक्षं किञ्चिद्घटितम्। वस्तुतः मम वञ्चकमातुल एव नोखईरामरूपेण पापनाट्यमिदं निर्व्यूढवान। श्रीमन्। भद्रचरितोऽयं हरिजनो भवद्भिः रक्षणीयः।'' (चित्रपर्णी, पृ. २७)।

अनुपदमेव 'देवकृपाऽनुभवः' इति कथायां ज्ञातुं शक्नुमः यत् धर्मः एव मनुष्यस्य रक्षा करोति। कथायां वर्णितमस्ति यत् श्रावणमासे बहवाः जनाः महादेवदर्शनस्य कृते वाष्पयान माध्यमेन इन्दौरनगरमुपावर्तमान आसीत्। परन्तु यावदेव यानं प्रस्थातुमुपचक्रमे तावदेव कश्चित्कालसर्पः कमपि

पृष्ठभागस्थं यात्रिणं दक्षिणपदेनावेष्टितवान्। सर्पवृत्तान्तश्रवणमात्रेणैव वाष्पयाने हाहाकारस्समजनि। तदा यानचालकमवदत्- **''बन्धोः! अलं मच्चिन्तया। यदि पार्वती पतिकणकण्ठाभरणभूतात् कालसर्पादेव मृत्युर्मे निश्चितस्तर्हि तीर्थक्षेत्रेऽस्मिन्नेव मरणं मे श्रेयस्करम्। अतः परम सौभाग्यप्रदं मरणं पुनर्न सम्भविष्यति। अतएव मृत्युभयमनपेक्ष्याऽहमपि यानादवतर्तुं प्रयते।''** (चित्रपर्णी, पृ. ४९)।

अतएव अग्रिमदिनाङ्के समाचारपत्रे प्रकाशितं - **''पश्चात्समाचारपत्रेषु पठितं सर्वैर्यद्वाष्प्यानं तत् गर्ते निपत्य विनष्टम्। चालकमेकं विहाय सर्वेऽपि यात्रिणो मृताः।''** (चित्रपर्णी, पृ. ५०)।

अतैव इदं कथितुं शक्यते यत् बहूनां लोकानामनवरतचिन्तनानुभवैर्भारतीयधर्मस्य शाश्वतसंस्कारोसमजनि। देशेऽस्मिन् सर्वेषु धर्मेषु अध्यात्मतत्त्वं सर्वोच्चं समुपस्थापितम्। शान्ति करुणादीनां निर्झरः सर्वेषु धर्मेषु प्रवहति। तत्रावगाहमाना लोका इहलोके विशुद्धि परत्र च मुक्तिं लभन्तामिति योजना महामनीषिणामाचार्याणां प्रतिभासते।

साहित्यकलात्मकञ्च मूल्यानि - नास्ति किञ्चिदपि जगति यदधिकृत्य कवयः काव्यं कर्तुं न समर्था काव्यरचना क्वचित् स्वान्तः सुखाय भवति, क्वाचित् श्रोतृणामास्वादनाय भवति, क्वचिदपि च देवादीनां स्तवनार्थं भवति। काव्यस्वरूपमुपयुक्तैः सर्वैः प्रकरणे निर्धार्यते। इह जगति ऋग्वेदः महाभारतं रामायणं च महाकाव्यानि नाटकानि गेयकाव्यानि कथाः इत्यादयः साहित्यकलात्मकञ्ज मूल्यानामन्तर्गतं परिगणनीये। साहित्ये कथानां लोकप्रियता स्वाभाविकी प्रतिभाति। भारतीयकथानां प्रथमः संग्रहः इतिहासपुराणेषु जातककथादिषु च प्राप्यते। आसु कथासु प्रायो जीवनयात्राया विविधमार्गेषु कथं प्रवर्तितव्यम् इति विषयः प्रदर्शितः। कथासु मनोरंजकसामग्री प्रचुरं विद्यते। आधुनिककाले मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः कृत 'चित्रपणी' कथासंग्रहेः सर्वेषां साहित्यकलात्मकञ्ज मूल्यानां प्रवर्तितव्यम्। विविधाः शिक्षाप्रदकथाः अत्र वर्णिताः यथा **'कोऽनुकरणीयः'** इति कथायां 'सत्यवाक्यस्य पालनं करणीयम्' इति वर्णितम्। कथायां पिता स्वपुत्रं प्रति कथयति यत् द्वारस्य समीपे गत्वा कथय यत् मम पिता गृहे नास्ति इति। जनकस्य वचनं श्रुत्वा आत्मजाः किङ्कर्तव्यविमूढः इव पर्यलक्ष्यत। असत्यकथनमसामञ्जस्य मत्वा सः जनकं प्रति प्रत्ययवादीत् -

''तात! गुरुवर्यस्तु माम् अध्यापयति वत्स। सत्यं वद। भवानपि पदे-पदे शिक्षयति आसत्यभाषी जनो जीवने किञ्चिदपि कर्तुं न प्रभवति। असत्यं तु... ।'' (चित्रपर्णी, पृ. ४६)।

तं श्रुत्वा जनकस्य मनसि विचार द्वन्द्वमिव समुत्थितमासीत् - **''भो! को न खल्वनुकरणीयः। असत्योपदेष्टाऽहं सत्यपक्षधरो ममात्मजो वा।''** (चित्रपर्णी, पृ. ४६)।

एतद् शिक्षात्मकः मूल्यः साहित्यमाध्यमेन एव प्राप्तुं शक्यते।

'चित्रपर्णी' कथासंग्रहे संस्कृत भाषायाः महत्त्वमपि वर्णितम्। यथा **'संस्कृत वर्षम्'** इति कथायां प्रो. पाण्डेयः प्रोक्तवान् - **''मान्या विद्वज्जनाः। अद्येदं विचारणीयं यत् संस्कृतस्य रक्षा कथं भवितुमर्हति? केवलं सहानुभूतिं प्रकटय्य, केवलं विद्यालये संस्कृतग्रन्थानां पाठनं विधाय संस्कृत रक्षा न भविष्यति। वस्तुतः संस्कृतरक्षायै संस्कृतानुरागरंजितहृदयाः।''** (चित्रपर्णी, पृ. ११०)।

वस्तुतः संस्कृतभाषायाः भावाभिव्यञ्जनक्षमत्वं वैदिककालतः सुप्रसिद्धम्। संस्कृतभाषायाः वैशिष्टयं परिलक्ष्य विलियम जोन्समहोदयेनाशांसितम् - "Sanskrit language is of a wonderful structure,

more perfect than greek more copious than latin and more exquisitely refind than either." (Asiatic Research, Vol.-I, Pg. 422)

अस्यां चित्रपर्णी कथासंग्रहे साहित्यकलात्मकानि मूल्यानि च प्रस्तुतानि।

पारिवारिकमूल्यानि – समाजस्य द्वितीयं संस्थानं कुटुम्बं परिवारं वा अस्ति। प्राचीनकालतः एव वृहत्कुटुम्बस्यायोजनं दृश्यते। कुटुम्बस्य शाश्वतरूपेण सदस्याः – माता, पिता, पुत्रः, कन्या, भ्राता, स्वसा, पतिः भार्या चासन्। कुटुक्बेन सम्बद्धाः सुहृदो भृत्याश्च भवन्ति। अपरेऽपि सत्पुरुषाणां कुटुम्बे वसन्ति स्म। तथा हि महाभारते –

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सदा दरिद्रो भगिनी चानपत्या।।

(महाभारत, उद्योगपर्व ३३.७०)

भारते 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि' इति प्रसिद्धमेव मातृगौरवप्रतिष्ठात्मकं वाक्यम्। पितरौ देवौ मतौ। तद्यथा मातृदेवो भव, पितृ देवो भव इति निर्दिष्टम्। मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः कृत '**चित्रपर्णी**' कथा संग्रहे '**वृद्धामहिषी**' इति कथायां वृद्धस्य सम्मानं दरीदृश्यते –

''**एवम्भूतेऽपि पितामह्या मरणं न कोऽपि वाञ्छति। किञ्च तत्कल्प नयैव कदलीपत्रमिव कम्पये समेषां हृदयं। नाऽहं किमप्यन्तरमपश्यं पितामहीमहिष्योः। उभेऽपि कुटुम्बपालिके। उभेऽपि सम्प्रति सम्प्रति श्लथशरीरे निरुपयोगे च। तथापि उभेऽपि कुटुम्बिजनस्नेह समुदाचार सेवासहानुभूतिमात्रजीविते सम्प्रति।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ३८)।

परिवारमाध्यमेन अहिंसायाः पालमपि ज्ञातुं भवति यथा '**छागबलिः**' इति कथायां निरीह छागानां दृष्ट्वा लेखकः व्यथितः जातः। सः एतत् हिंसायाः विरोधं कुर्वन् कथयति –

''**साधु। सम्यगाह भवान्। पङ्कः जलेन प्रक्षालयितु शक्यते, न पुनः पङ्केन। रामदीन! सर्वथा तथैव पुण्येनैव पुण्यमवाप्तुं शक्यते। पशुहिंसारूपेण पापेन कथं खलु भगवती परितोषरूपं पुण्यमुपलब्धं स्यात्।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ३४)।

अन्ते अहिंसायाः एवं विजयः भवति। अहिंसायाः पालनं मनसा वाचा कर्मणा च कर्तव्यम्। कस्यापि विषये कटुवाक्प्रयोगः हिंसैव गण्यते अतः प्रत्येकं भारतवासिनः कर्तव्यमस्ति यत् ते सर्वदा सहृदयः परोपकारिणश्च भवेयुः। यथा हि '**वाहनसार्थक्यम्**' इति कथायां लेखकः स्वयं वृद्धस्त कृते सम्मानभावना प्रदर्शयति एवं सहायतामपि करोति –

''**पितामह। स्वपौत्रस्यमेव वाहनं मत्वाऽऽगच्छतु भवान्। अहमपि ग्रामस्यैव मृत्तिकायां जातोऽस्मि। तेजीबाजार समीपस्थो दोनईग्रामो मम जन्मभूमिः। वृद्धां जननीं दृष्टुं ग्रामं गच्छामि। अलं संकोचेन आरोहतु भवान्।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ३६)।

'चित्रपर्णी' कथासंग्रहे मातृप्रेम अपि दृश्यते। यथा '**वात्सल्यामृतम्**' इति कथायां भूकम्पः समयेऽपि कोऽपि पुत्रः स्वमातुं त्यक्तुं न वाञ्छति। अन्ते मातृवात्सल्यकारणात् एव सर्वे सुरक्षिताः सञ्जातः – ''**परन्तु जननीवात्सल्यपाशनिबद्धो न कोऽपि तां व्यक्तवान्। ततश्चकस्मादेव पञ्चभूमिक भवनसंलग्ना सोपानवीथी धराशायिनी सञ्जाता। तस्याञ्च सोपानवीथ्यामात्मत्राणाय अवतरणं कुर्वाणा चतुस्त्रिंशज्जनास्तत्क्षणमेव कालकवलिताः सञ्जातः। हर्षदेव कुटुम्बो जनन्या वात्सल्यामृतमहिम्नैव सुरक्षितोऽतिष्ठत्।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ११९)।

मात कृते पुत्रस्य वात्सल्यभावानन्तरं पिता-पुत्री मध्ये स्नेहभावमपि दृष्टिगोचरः भवति। **'पितुर्हृदयम्'** इति कथायां दुर्दन्ति दस्यु लाखनसिंहस्य कृते सर्वाः कन्याः पुत्री इव अस्ति। अतः रुदतीं कन्यां दृष्ट्वा अकस्मादेव कातरीभूतः एवं स सवात्सल्यं तामपृच्छत्।

''वस्ते! म भैषीः। ब्रूहि, किमर्थरोदिषि? ततश्च सर्वमपिमुषितमलङ्कारजातं गृहमहिलाभ्योनिर्यात्य, कालीदीनमपि निर्बन्धं कारयित्वा जीपयानमारूह्य स्वस्थानकं प्रत्यावृत्तः।'' (चित्रपर्णी, पृ. ७०)।

सामाजिकमूल्यानि - मनुष्यः सामाजिकप्राणी अस्ति। अतः समाजेन निर्धारित संस्था यथा मनुष्य-कुटुम्ब-राज्य इत्यदिभिः व्यवहारे निर्लिप्तः। इदं व्यवहारं प्रति निर्मितजीवनदृष्टि एव 'सामाजिक-मूल्यानां' निर्धारणं करोति। सामाजिक-मूल्यानां कारणेनैव मनुष्य श्रेश्ठः जीववत् आचरति। वस्तुतः यानि मूल्यानि समाजेन सम्बद्धानि भवन्ति, यैः समाजप्रभावितं भवति, तानि मूल्यानि 'सामाजिक-मूल्यानि' इति कथ्यते। अस्मिन् कथासंग्रहे संकलिताः कथाः लघुरूपा सन्ति। अतः समाजस्य विविधानां पक्षाणां अभिव्यक्ति नोपलभ्यते; किन्तु एक सामाजिकस्य समाजस्य च कृते पारस्परिकव्यवहारस्य कृते यानि-यानि तत्त्वानि आवश्यकं भवन्ति, यथा सत्य स्नेह गुरुजनानां प्रति सम्मानम् इत्यादयः मूल्यानां प्रस्तुति मनोहरतया कृतं लेखकेन। मिश्रोऽभिराजराजेन्द्र प्रणीत 'चित्रपर्णी' कथासंग्रहे 'सत्यं वद, धर्म-चर' इति वाक्यस्य प्रतिष्ठा अभवत् अतः 'साक्ष्यम्' इति कथायां साक्षिः त्रिलोचनः सत्यस्य पक्षे एव स्व प्रमाणं प्रस्तूयते -

''त्रिलोचनोऽवादीत् हुजूर। सर्वथाऽसत्यमिदम्। न मत्समक्षं किंञ्चिद् घटितम्। वस्तुतः मम वञ्चकमातुल एव नोर्ख्वराम रूपेण पापनाट्यमिदं निर्ष्यूठवान्। श्रीमन् भद्रचरितोऽयं हरिजनो भवद्भिः रक्षणीयः।'' (चित्रपर्णी, पृ. २६)।

'स्नेहभावः' मनुष्यस्य एकः प्रमुखः भावः अस्ति किन्तु अन्येषु शब्देषु अयं मनुष्यस्य एकः गुणः अपि अस्ति। स्नेहभावः एव मनुष्यं मनुष्येन सह बध्नाति। अनेनैव संवेदना, सहानुभूति इत्यादयः गुणाः प्रादुर्भवन्ति। समाजे सर्वमानवाः स्नेहस्य पात्राः भवन्ति। यथा हि **'अभिनयः'** इति कथायां शिक्षिका उक्तवती-

''सर्वेऽपिबालका भगवत्स्वरूपाः। न कोऽपि सुदर्शनो रूपहीनो वा। न कोप्यनाथस्सनाथो वा। प्राप्त खलु सम्बले संरक्षणे निर्गुणोऽपि सगुणो जायते। दरिद्रोऽपि समृद्धो भवति। अनाथोऽपि सनाथो जायते। वत्साः! यूययपि स्वजीवने आदर्शमिमं परिपालयत्।'' (चित्रपर्णी, पृ. १३)।

'यूयमपि स्वजीवने आदर्शमिमं परिपालयत्' अस्मिन् प्रसङ्गे कथाकार परस्पर सौहार्द भावनायाः परिचयं ददन् **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** इति आदर्शवाक्यस्य संस्तुति करोति।

भारतीयसमाजे गुरुजनानां सम्मानं प्राचीन परम्परा अस्ति। अद्यापि सा परम्परा दृष्टिगोचरा भवति। **'गुरुदक्षिणा'** इति कथायां कार्यालये आगतं गुरुं प्रति शिष्यः सम्मानः प्रदर्शयन् कथयति - **''श्रीमन' कियन्मात्रं देयक धनराशि दातुमिच्छति भवान्? ..... तद्धाक्षिण्यगर्वितो महदानन्दनिर्भरस्सन् यावदेवाहं स्वासन्दिकातरस्समुत्थातुं चेष्टमानोऽभवं स भद्रपुरुषस्तावदेव सप्रणयं मामवोचत् - गुरुवर्य! कृपया क्षणं तिष्ठतु भवान्। चायपानं बिना गन्तुमितो नार्हति भवान्।''** (चित्रपर्णी, पृ. ४४)।

'वाहनसार्थक्यम्' इति कथायां लेखक स्वयं वृद्धस्य कृते सम्मान भावना प्रदर्शयति -

''**पितामह! स्वपौत्रस्येव वाहनं मत्वाऽऽगच्छतु भवान्। अहमपि ग्रामस्यैव मृत्तिकायां जातोऽस्मि। तेजीबाजारसमीपस्थो दोनईग्रामो मम जन्मभूमिः। वृद्धां जननीं द्रष्टुं ग्रामं गच्छामि। अलं संकोचेन। आरोहतु भवान्।**''

वृद्धानां सम्मानं, तेषां प्रति कर्तव्यबोध मानवस्य सर्वोपरि जीवनमूल्यमस्ति। अग्रजानां आशीर्वादेन अनुजानां जीवनं सुखीसमृद्धश्च भवति। अतः लेखकेन इदं कल्पितं यत् वृद्धजनाः अस्माकं अनमोलसम्पत्तिः अस्ति अतः ते रक्षणीयाः आदरणीयाः। यदि समाजः अस्ति तर्हि समस्याऽपि अस्ति। '**चित्रपर्णी**' कथासंग्रहे वहव्यः सामाजिकसमस्याऽपि उद्घाटिता संदृश्यते। तासु '**मद्यपानः**' एका महद् समस्या अस्ति। मद्यपान कारणेनैव दुर्विचाराः प्रादुर्भूता सन्ति एवं मनुष्यः व्यभिचारं प्रति उन्मुखः भवति। मद्यमान व्यसनम् अस्ति यस्मिन् सुरसामुखमिव धन–बल–स्वास्थ्य–शक्ति–कर्म इत्यादये सर्वेऽपि समाहिताः। अनेन सर्वं भक्षितम् येन सामाजिकमूल्यानि क्षरित भवन्ति। भारतसर्वकारः अपि मद्य निषेधस्य कृते विविधरूपाणां प्रोत्साहनं दीयते। अतः निन्दनीयकार्यं न करणीयम् इति अपि समाजे अनुकरणीयम्। अतएव 'मद्यनिषेधः' इति कथायां मंत्रिवर्यस्य सम्बोधयति –

''**वस्तुवस्तु मद्यपानमेव समेषां विपज्जालानां मूलम्। मद्यपो जनो धर्ममर्यादां विस्मरति, नैतिकतां जहाति, न खलु परिचिनोति कुटुम्बिजनान्। मद्यपस्तु धृतमानवशरीरोऽपि पशुवज्जीवनं यापयति।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ४३)।

दुर्व्यसनेन समाजे जीवनमूल्यानां क्षरणं भवति अतः दुर्व्यसनेन केन प्रकारेण मानवस्य भवति इदमपि कथाकारस्य चिन्ता अत्र दृष्टव्यम्। यथा हि '**पिशाचः**' इति कथायां पुत्रः बहुविध दुर्व्यसनेन संलिप्ता सञ्जातः तर्हि जनकः कथयति –

''**ब्राह्मणगृहे समुत्पन्नोऽपि भवान् स्वैरं मांसमश्नाति किमयं संस्कारस्ते जन्मत एव त्वयि संसक्तः? तव पितामह चरणास्तु लोकचर्चिता भागवतकथावक्तार आसन्। श्रुतं यत्ते जीवन यावदात्मक्वमेव भोजनं गृहीतवन्तः। का कथा मांसस्य, ते तु लशुनं पलाण्डुमपि नऽस्पृशन्। तव पितृचरणोऽपि आचारव्यवहारादिष्टया पितामहाचरणमेवानुहरन्तिस्म। तत् त्वमेवैक कस्माद् भिन्नमार्गः सञ्जातः।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ९८)।

अन्यच्च मनुष्य स्वार्थभावनया वशीभूत्वा अकरणीयकार्यं प्रति प्रवृत्तः भवति। निहितस्वार्थे एकः वाक्कीलः अपि स्वशिक्षा, संस्कारमपि विस्मृत्य भिक्षुकवत् आचरणं करोति। यथा '**भिक्षुकः**' इति कथायां भिक्षुकः कथयति –

''**हा घात। को नु भेदोविशेषो वा भिक्षुक वाक्कीलयो? उभावेव तुल्यवृत्ती। भिक्षुकस्तावद वाक्कीलाद् गुणितरः प्रतीयते यतो हि सवैवश्यं सविनयं सार्जवमसौ भिक्षां याचते। परन्त्वेते शितिवस्त्रधरा शिक्षितास्तु सशाठ्यं सतिसन्धानञ्च भिक्षावृत्तिं सम्पादयन्ति धिगेतान् शिक्षितजाल्मान्।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ११६)।

'**चित्रपर्णी**' कथासंग्रहे एवंविधानी जीवनमूल्यानि प्राप्तानि।

आर्थिक मूल्यानि – मूल्येषु 'अर्थः' स्थानं द्वितीयं वर्तते। समाज एवं राष्ट्रस्य विकासः अपि अर्थे आधारितः भवति। संसारे कार्यसिद्धये अर्थस्य महती आवश्यकता अस्ति। यथा हि प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते, तथा हि अर्थं विना मनुष्य कोऽपि कार्यं कर्तुं न पारये।

अर्थमाध्यमेन मनुष्यस्य सर्वानि प्रयोजनानि सिद्धाः भवन्ति अतः कथ्यते –

''**यतः सर्वप्रयोज सिद्धिः स अर्थः।**'' (वैशेषिक सूत्र १.१.२)

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः प्रणीत '**चित्रपर्णी**' कथासंग्रहे अर्थस्य महिमा सर्वत्र वर्णितोऽस्ति। समाजे यदि मानवः गुणवियुक्तः; किन्तु अर्थयुक्तः अस्ति तर्हि अपि सः प्रतिष्ठा लभते। अतैव सत्यमेतत् –

''**सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।**'' (भर्तृहरि, नीतिशतकम्)।

यथा हि '**पितुर्हृदयम्**' इति कथायां एका शिक्षिता कन्या अर्थकारणात् एवं सुशिक्षितकुले परिणीता–

''**तात्! नाहमतीव शिक्षिता तथापि प्रभूतं यौतुकं सुवर्णालङ्कारजातञ्च दत्वा सुशिक्षिते कुले परिणीताऽस्मि। सम्प्रत्यलंकारजातेऽपहृते सति श्वसुरालये महतीमवमाननामुपगामिष्यामि। किम्मया तवापकृतम्? परकीयाऽस्मि। तवाऽपि पुत्रीकल्पाऽस्मि।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ७०)।

एकतः तु कन्या अशिक्षिता धनयुक्तास्ति तर्हि अपि उच्चस्थानं लभते अपरतः शिक्षिता धनवियुक्त कन्या समाजे तिरस्कार इव प्राप्यते। '**जामाता**' इति कथायां कन्याया पिता समादधति यत् कन्यायाः पिता सर्वदा विवशः एव। कुत इति चेत् विना धनं किमपि कर्तुं न पारये –

''**वत्स! ममदुहिता सर्वगुणसम्पन्ना, शीलसौजन्यमूर्तिः रूपकलानिष्णाता प्रतिभाशालिनी च वर्तते। वस्तुतः नायं वरः मम पुत्र्यास्तुलामधिरोहति। तथापि सम्बन्धोऽयं मयाऽङ्गकृतः यतो हि वरस्य पिता विंशतिसहस्त्रमात्रेण प्रसन्नो जातः। अन्ये तु पञ्चाशत्सहस्त्रं तदधिक वा कामयन्ते।**'' (चित्रपर्णी, पृ. १०)।

जीवनस्य कृते आर्थिकमूल्य अत्यावश्यकास्ति। '**आर्थिक मूल्यानि**' उद्योगस्य परिश्रमस्य च बहु महत्त्वमस्ति। परिश्रमेण असंभवमपि सम्भवः भवति। उक्तं च – '**परिश्रमेण हि सिद्धयन्ति कार्याणिः न मनोरथैः**' यथा हि '**वेतनम्**' इति कथायां एकामहिला पाषाण शकलान् त्रोटनं कृत्वा स्वकुटुम्बस्य उदर पोषणं करोति। धनस्य कृते एव सः एतत् कार्यं कारोति –

''**स्वाभिन्नहं निवेदये। वयं सर्वेऽपि मध्यप्रदेशस्य विलासपुर जनपदे वनाञ्चले निवसामः। दैन्यजर्जरा उदरपोषणाय समागता अत्र। पाषाणशकलान् स्फोटयित्वा दैनिकं वेतनं लभामहे। इयं वराकी दिनत्रयात् ज्वरार्दिता। न किमपि कर्तुं शक्ता। तथापि वेतनलोभादागतवती। वेतनमलब्ध्वा कथन्नु तान् भोजयिष्यति।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ३३)।

'**पितृर्हृदयम्**' इति कथायां दुर्दान्तदस्यु लाखनसिंह धनस्यकृते एव दस्युकार्यं करोति –

''**लाखनसिंहः कुलिशपातोपमस्वरेण सहचरमादिदेश सर्वमपि तदलङ्करणजातं संग्रहाण। यदि स्वेच्छया न दद्यात्तर्हि सबलात्कारं स्वायत्ती कुरु। अनर्थाशङ्कया सन्त्रस्ताऽसौ स्वयमेव गृहाभ्यन्तरं प्रविश्य पुत्र्या अलङ्करण पेटिकामानीय दस्युहस्ते स्थापितवती। कङ्कणकेयूर-ताटङ्क-नुपूर-ग्रैवेयक- नासाभूषणादीनि रजतसुवर्ण घटितान्यलङ्करणनि दृष्ट्वा लाखनसिंहः स्वाभिमानस्य सार्थकतां मेने।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ७०)।

धनस्य कृते एव विविधेषु कार्येषु सम्पादयन्ति। अधुना तुं आत्मीय सम्बधानां महत्त्वमपि नास्ति। धन एव माता धन एव पिता च अस्ति यथा हि '**भिक्षुकः**' इति कथायां लिपिकः धनस्य एव महिमा वर्णितुम्–

''**बन्धो ! न्यायालयोऽयम्। यत्र धनमेव माता, धनमेव पिता, धनमेव भ्राता, धनमेव च मित्रम्। तत् यथा निर्दिष्टं धनराशि मानयेत्यपरे न्यायार्थिन प्रबोधितवन्तः।**'' (चित्रपर्णी, पृ. ११६)।

अतः 'चित्रपर्णी' कथासंग्रहे आर्थिकमूल्यमपि दृष्टिगोचराः भवन्ति।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

हेत्वाभासभेदप्रदर्शनम्

सुरजित् मण्डलः*

"तत्त्वनिर्णयविजयप्रयोजकत्वात्"[१] ननु हेत्वाभासत्वस्य केवलान्वयित्वादितरभेदसाधाकत्वं न संपनीपद्यत इत्याशङ्क्य तत्तदनुमितिहेत्वाभासत्वस्येतरभेदसाधकत्वात्तन्निरूपणं युज्यत इति शङ्कोत्तराभ्यामाह- [२]यद्यपि हेत्वाभासत्वं केवलान्वयित्वान्नेतरभेदसाधकं, तथापि तत्तदनुमितिहेत्वाभासत्वस्य तादृशत्वात् तन्निरूप्यते।

ननु हेत्वाभासत्वं दुर्निरूपं, विकल्पासहत्वादिति शङ्कते तच्च [३]तत्तदनुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगि-ज्ञानविषयत्वं वा? तत्तदनुमितिकारणीभूतज्ञानाविषयत्वं वा? व्याप्तिपक्षधर्मताशून्यत्वं वा?" तत्तदनुमितौ कारणीभूतो योऽयमभावः व्यभिचारादिज्ञानाभावः, तत्प्रतियोगिज्ञानं व्यभिचारिज्ञानं, तद्विषयत्वमित्यर्थः नन्विदमसंगतम्। वह्निव्यभिचारी धूमः इति भ्रमविषयीभूतधूमादावतिव्याप्तेः। न च तादृशार्थाज्ञानविषयत्वं तत् अतो नोक्तातिव्याप्तिरिति वाच्यं ज्ञानस्य विशेषणत्वे अज्ञायमानतादशायां नित्यदोषे साधारणानैकान्तिकादावव्याप्तेः। उपलक्षणत्वेऽसाधारणसत्प्रतिपक्षोत्तीर्णतादशयां सद्धेतावति-व्याप्तेरित्यरूचेराह [४]तत्तदनुमितिकारणीभूतज्ञानाविषयत्वं वा? तत्तदनुमितौ कारणीभूतं यज्ज्ञानं परामर्शः, तदविषयत्वमित्यर्थः। सिद्ध्यसिद्धिपराहत्वेन तादृशज्ञानविषयत्वस्य वक्तुमशक्यत्वादित्यस्वरसादाह [५]व्याप्तिपक्षधर्मताशून्यत्वं वा? व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमित्वशून्यत्वं वा? प्रमितत्वस्य सिद्धत्वे तच्छून्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् तस्यासिद्धत्वे सुतरां वक्तुमशक्यत्वदिति दूषणं बोध्यम्। तदेवं विकल्प्य यवद्देशं दूषयति नाद्यः। [६]समूहालम्बनेन यत्र घटपटथोर्गुवत्त्वं गृहीत्वा तथैव व्याप्तिं स्मृत्वा, तथैव लिङ्गपरामर्शादेकत्र द्रव्यत्वमपरत्रानित्यत्वमेकत्रेव वा द्वयमनुमीयते, तत्र समूहालम्बनरूपतृतीयलिङ्गपरामर्शविषयस्य गुणत्त्वस्य घटद्रव्यत्वसाधने हेत्वाभासत्वप्रसङ्गात्, अनुमितिकारणीभूतज्ञानविषयत्वस्यैव विद्यमानत्वात्। एवमन्ययत्राप्यूह्यम्। तृतीयः। शब्दनित्यत्वसाधने कृतकत्वे श्रावणत्वेन प्रतिपक्षिते तस्यां दशायां हेत्वाभासत्वं न वर्तते। नापि चतुर्थः पूर्वदूषणेनैव निरस्तत्वात्, व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमितीनां सत्वात्। यद्वातथाविसमूहालम्बन एवातिव्याप्तिः। अपि च यत्किंचिद्व्याप्तिपक्षर्मतादिव्यतिरेकस्य चाप्रसिद्धः, प्रतियोगिनोऽप्रमितेः।

ननु हेतुलक्षणरहितत्वे सति हेतुवदवभासमानत्वं हेत्वाभासत्वमिति चेत् मैवम्, विकल्पासहत्वात् पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपरहित्वमिति। पक्षधर्मत्वं, सपक्षधर्मत्वं, विपक्षासत्वं, अबाधितत्वं, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति गमकतौपयिकानि पञ्चरूपाणि। यस्य हेतोर्यानि रूपाणि सन्ति, तदन्यतररूपरहित्वं वा? नाद्य व्यतिरेक्यादावतिव्याप्तेः। न द्वितीयः, अननुगमापत्तेः। एवं च सति हेतुवदवभासमानत्वस्य वैयर्थ्यं स्यात्। ननु धूमानुमाने घटादावतिव्याप्तिनिवृत्तये तद्विशेषोपादानमिति चेत् न, तस्य तत्र हेत्वाभासत्वादेव। न च वाच्यं घटे न कथं हेत्वाभासपदप्रयोग इति। अपि च हेतुवदवभासमानत्वमिति वदता वक्तव्यम्- यत्किंचिद्रूपेण हेतुवदवभासमानत्वं वा? नाद्यः, घटादावतिव्याप्तेः तस्य तत्र सत्त्वात्। न द्वितीयः, पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः।

* शोधच्छात्रः, न्यायवैशेषिकविभागः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नवदेहली

किञ्च पूर्वलक्षणस्याज्ञायमानतादशायां नित्यदोषे साधारणानैकान्तिकादावव्याप्तेरिति पूर्वपक्षसंक्षेपः।

[७]उच्यते तत्तदनुमितिकारणीभूततृतीयलिङ्गपरामर्शप्रमात्वनिरूपकव्याप्तिपक्षधर्मतावैशिष्ट्यव्यतिरेक एव हेत्वाभासत्वम्। तथाहि विरुद्धसव्यभिचारयोर्व्याप्तयभावात्प्रमाभूतलिङ्गपरामर्शव्यतिरेकः। आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धयोः पक्षधर्मताविरहात्। व्याप्यत्वासिद्धेः ज्ञानस्यैव विरहात्। सिद्धसाधनस्य यदि दोषत्वं तदा पक्षधर्मतविरहादेव। पक्षधर्मतावच्छेदकस्य संदेहस्य विरहाद्बाधोऽपि यदा व्याप्तिविरहात्। प्रतिपक्षे तु परस्परप्रतिबन्धात् तृतीयलिङ्गपरामर्शानुदय इत्यग्रे वक्ष्यते।

वस्तुतस्तु अनुमितिप्रतिबन्धकज्ञानविषयतावच्छेदकरूपवत्वं हेत्वाभासत्वम्। यद्यपि सत्प्रतिपक्षे परामर्शस्य ज्ञानं न प्रतिबन्धकम्, तथाप्यनुमितिप्रतिबन्धकत्वेनैतद्विषयः प्रतिसाधनम्। यद्विषयतावच्छेदकं पूर्वसाधनम्, स्वरूपसंबन्धेन तद्वता पूर्वसाधतात्वस्त्येव। तथा च दुष्टहेतौ हेतुदोषव्यभिचारादौ च हेत्वाभासपदप्रयोगे तत्साहित्यासाहित्याभ्यामुभयलक्षणमप्युक्तं भवति। यद्यपि 'धूमो वह्निव्यभिचारी' इति ज्ञानस्यानुमितिप्रबन्धकत्वेन तद् विषयतावच्छेदके व्यभिचारो भवत्येव तथापि तद्वत्वं न धूमेऽस्तीति नातिव्याप्तिः, अत्रनुमिति तत्करणान्यतरसाक्षात्प्रतिबन्धकत्वपुरस्कारेणानुमितिप्रतिबन्धकत्वस्योक्तत्वात्। अत एव – अनुमितिप्रतिबन्धकत्वं साक्षाद्वा? परम्परया वा? नाद्यः, व्यभिचारादावव्याप्तेः। न द्वितीयः व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञानविघटकोपाधावतिव्याप्तेः बाधसत्प्रतिपक्षयोरव्याप्तेश्चेत्यादि दूषणं निरस्तमिति दिक्।

[८]ते च सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमासिद्धबाधिताः पञ्च। असिद्ध एक एव हेत्वाभास इति केचित्। व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमित्यन्तमव्यतिरेकस्य सर्वत्रसत्वात्। अन्ये तु सकलकार्यसाधारणदोषत्वात् प्रतिबन्धस्य नासाधारणहेत्वाभासत्वं, प्रतिपक्षस्य। बाधस्याप्यनैकान्तिकेऽन्तर्भावान्न पृथक्त्वमिति। आधिक्यं विभागस्य न्यूनमपि। तथा च लीलावतीकारः– पदैकदेशवृत्तिरमध्यवसितोऽधिकः इति।

[९]तत्र सव्यभिचारत्वं पक्षातिरिक्तसाध्यवन्मात्रवृत्यन्यत्वे सति पक्षातिरिक्तसाध्या–भावन्मात्रवृत्यन्यधर्मत्वम्। साध्यवन्मात्रवृत्यन्वत्वे सति साध्याभाववन्मात्रवृत्त्यन्यत्वमिति केचित्।

साधरणनिरूपणम्

ननु साध्यव्यधिकरणधर्मवद्वृत्तित्वे साध्यव्यधिकरणस्यैवनुमितिप्रतिबन्धकत्वादि सामर्थ्येऽधिकवैयर्थ्यमिति चेत् अन्यविशेषणत्वेनोपात्तस्यान्यविशेषणत्वं कृत्वा दूषणभिधानस्येति। साध्याधिकरणावृत्तित्वे सतीति यदि हेतौ विशेषणं दीयते, तदा तज्ज्ञानस्यैवानुमितिप्रतिबन्धकत्वात्तदितरांश वैयर्थ्यं स्यात्। अत्र साध्याधिकरणावृत्तिर्यो धर्मस्तद्वद्वृत्तित्वमित्यधिकरणविशेषणीभूतधर्मविशेषणतयोक्तमिति निरुक्तज्ञानस्य हेतौ साध्याधिकरणावृत्तित्वानवगाहनान्न प्रतिबन्धकत्वमिति न वैयर्थ्यमिति भावः। न च वाच्यम्– पक्षे व्याभिचारसंदेहस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽनुमानमात्रोच्छेद इति, अनुकूलतर्कादिना व्यभिचारसंदेहनिवृतावनुमानप्रवृत्तेः। अथवा निश्चितहेतुमति साध्यव्यभिचारसंशयातिरिक्त व्यभिचारसंशयत्वेनानुमितिप्रतिबन्धकत्वान्नानुमानमात्रेच्छेद इति। [१०]पक्षसपक्षवृत्तिः साधारणः।

असाधारणनिरूपणम्

असाधारणं लक्षयति– [११]पक्षवृत्तित्वे सति सपक्षविपक्षावृत्तिरसाधारणः। विपक्षव्यावृत्तोऽसाधारण इत्युक्तेऽन्वयव्यतिरेकिणि सद्धेतावतिव्याप्तिः। तत्परिहाराय सपक्षव्यावृत्त इति।

नन्वेवं सपक्षव्यावृत्तिरेव दूषकतायामुपयुज्यते। न तु विपक्षव्यावृत्तिरपि तस्या अनुगुणत्वात्। अपि च परं प्रति तदुद्भावनदशायां विपक्षव्यावृत्युपन्यासे साध्यसाधको व्यतिरेकसहचार एवोपन्यस्तो भवेत्। अपि च परामर्शोत्तरकालमिदमुद्भाव्यं वा? तत्पूर्वकालं वा? नाद्यः वाधसत्प्रतिपक्षयोरभावेनुमितेब्राह्मणापि

वारयितुमशक्यत्वात्। न द्वितीयः शब्दो नित्यः शब्दत्वात्, इत्युक्त्वा वादिनो निवृते सति न्यूननिग्रहोद्भावनेनैव वादिनिवृत्तेः। न च स्वार्थानुमाने दोषो भविष्यतीति वाच्यम्, तत्रपि सपक्षव्यावृत्तत्वमात्रस्य दोषत्वात्। अत्र वदन्ति– नित्यः शब्दः शब्दत्वात्' इत्युक्तावादिनि निवृत्ते सति न्यूननिग्रहोद्भावनेनैव वादिनिवृत्तेः। न च स्वार्थानुमाने दोषो भविष्यतीति वाच्यम्, तत्रपि सपक्षव्यावृत्तत्वमात्रस्य दोषत्वात्। अत्र वदन्ति– नित्यः शब्दः, शब्दत्वत्' इत्यत्र शब्दत्वं साध्यवतस्तदभाववतश्च व्यावृत्तम्। एवं च यत्र यत्र नित्यत्वं तत्र तत्र शब्दत्वाभावः। यत्र यत्र नित्यत्वाभावस्तत्र तत्रापि शब्दत्वाभावः। एवञ्च साध्यतदभावाव्यापकाभावप्रतियोगिता शब्दत्वेन वक्षे किं साधनीयमिति साध्यतदभावोत्थापकतया स्वार्थानुमाने परार्थानमाने वा साधारणो दोषः।

ननु सत्प्रतिपक्षादसाधारणस्य कथं भेदः? परामर्शद्वयस्योभयत्रप्यविशिष्टत्वादिति चेत् न, द्वौ हेतू सत्प्रतिपक्षे साध्यतदभावोत्थापकौ। अत्र त्वेक एव हेतुरिति भेदः। न च न्यूनोद्भावनेनैव वादिनिवृत्तिर्भवति कथं परार्थानुमानोद्भावनमिति वाच्यम्। विपक्षव्यावृत्ततया यथा साध्यं साधयति तथा पक्षव्यावृत्तत्वेन साध्याभावमपि साधयतु अविशेषादिति प्रतिबन्दितया दृष्टान्ततया वास्योद्भावनम्। न्यायोत्तरं साधारणवद्बोध्यम्। सर्वसपक्षव्यावृत्तत्वं लक्षणम्। न त्वधिकम्, व्यर्थत्वात्। विरुद्धस्य विरुद्धत्वेनाज्ञायमानतादशायामेतद्रूपेणावगमेऽसाधारणतैव, अन्यथा हेत्वाभासाक्यिापत्तेः।

ननु तथोप्युदाहरणाभावादेवासाधारणे न पृथक्। तथाहि – अनित्यः शब्दः, शब्दत्वात् इति सद्धेतुरेव। शब्दोनित्यः, शब्दत्वात्' इति विरुद्ध एव। भूर्नित्या गन्धवत्वात् इति साधारण एवेति चेत्, उच्यते– संदेहघटितपक्षतादशायां साध्यतदभावानिश्चयदशायां तस्य दोषत्वम्। यद्यपि निश्चयभावः पुरुषदोषोऽज्ञानं, न हेत्वाभासः, तथापि ज्ञायमानतयानुमितिप्रतिबन्धकत्वेन हेत्वाभासत्वात् तथोक्तम्। अथवा सपक्षव्यावृत्तत्वेन निश्चयदशायामेव तेषामुदाहरणानामसाधारात्वमिति संक्षेपः।

अनुपसंहारी

[१२]अनुपसंहारी तु नानैकान्तिकेऽन्तर्भवति। व्याप्तिग्रहानुकूलैकधर्म्युपसंहाराभावो यत्र स हेत्वभिमतोऽनुपसंहारी। व्याप्तिग्रहानुकूल एकत्र धर्मिण्युपसंहारः सहचारः तदभावो यत्रेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह– [१३]दूषकताबीजस्य संदेहजनकत्वस्याभावात्। संशयजनकत्वाभावः कथमित्याशङ्क्याह– [१४]न हि सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात् इत्यत्र प्रमेयस्यान्वयमुखेन असाधारणधर्मवद्व्यतिरेकमुखेन संशयजनकतवमस्त्वित्याशङ्क्याह– व्यतिरेकमुखेन वा संशयजनकत्वं संभवति। प्रमेयत्वहेतोः संशयजनकत्वमस्त्व्याशङ्क्याह– [१५]अपि च सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् इत्यत्र संशयजनकत्वमसंभावितमेव, अभिधेयत्वानधिकरणस्य तस्याप्रसिद्धत्वात्। तस्मात् व्याप्तेरग्रहणात् व्याप्तत्वासिद्ध एवान्तर्भवति।

वस्तुतस्तु केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षक एवानुपसंहारी। तथा च सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् इत्यादौ विप्रतिपत्या साध्यानिश्चयदशयामानुपसंहारित्वमेव।

ननूपसंहाराभावज्ञाने सति व्याप्यत्वासिद्धेर्ज्ञानमाश्यकमिति व्याप्यत्वासिद्धिरेव दोष इति चेत्, व्याप्यत्वासिद्धस्य ज्ञान उद्भावने च व्यभिचारवदुपजीव्यत्वाद्दोष इति दिक्। [१६]सपक्षविपक्षाप्रसिद्धेः। केवलान्वयिनि साध्ये विपक्षाप्रसिद्धेः, केवलव्यतिरेकिणि साधे सपक्षाप्रसिद्धेरिति भावः।

विरुद्धः

सव्यभिचारनिरूपणानन्तरमित्यर्थः। निरूप्यतं इति शेषः। विरुद्धलक्षणमाह– [१७]साध्यासमानाधिकरणत्वं विरुद्धत्वम्। साध्याभावाधिकरणाधिकरणकत्वमित्यर्थः। अत्र साध्यासमानाधिकरणः साध्याभावो बोध्यः। अन्यथा 'इदं संयोगि, द्रव्यत्वात् इत्यादावतिव्याप्तिर्भवेत। अयं

चाभावो भावाभावसाधारणो बोध्यः। तेन अयं गुणाभाववान् द्रव्यत्वात्' इत्यादौ गुणक्त्वाभावः।' अवगुणवत्त्वव्याप्यत्वेऽपि नाव्याप्तिः। एकदेशिमतं दर्शयति [18]साध्याभावव्याप्यत्वं इति'। साध्याभावनियतसामानाधिकरण्यमित्यर्थः। महाखण्डनकारोक्तं दूषणं दूषयितुमुपन्यस्यति [19]एततु खण्डनकृता दूषितम्। साध्याभावव्याप्यत्वं साध्याभावसामानाधिकरण्यविशेषः। तत्र साध्याभावसामानाधिकरणत्वादित्यस्यैवासाधकतासाधकत्वात् अतोऽधिकं व्यर्थमिति।

ननु हेत्वाभासान्तरसंकीर्णता विरुद्धस्येत्याशङ्क्योपाधिभेदात् उपजीव्योपजीवक भावभेदाच्च तद्भेद इत्याह– [20]तदस्य वाधाश्रयासिद्धिस्वरूपासिद्धिसाधारणानैकान्तिकसंकीर्णत्वं क्वचित् व्याप्यत्वसिद्धिसंकीर्णत्वं सर्वत्र। प्रतिपक्षे तु पूर्वोक्तैव गतिः। विरुद्धस्य केवलान्वयिनि साध्ये हेतौ चासंभवः। साध्याभावव्याप्तत्वाभावेनासंभव इति भावः।

सत्प्रतिपक्षः

सत्प्रतिपक्षलक्षणमाह– [21]एकधर्मनिष्ठतद्व्याप्यत्वप्रकारकविषयतापक्षवृत्तित्व प्रकारकविषयताद्वय प्रतियोगिज्ञानसमान देशसमानकालत्वे सत्येकधर्मनिष्ठतदभावव्याप्यत्वप्रकारकविषयता पक्षवृत्तित्वप्रकारकविषयताद्वयप्रतियोगिज्ञानत्वं सत्प्रतिपक्षत्वम्। एकस्मिन् धर्मिणि शब्दे, निष्ठं यत्साध्यमनित्यत्वं, तद्व्याप्यं कृतकत्वं, तस्य भावस्तद्व्याप्यत्वं प्रकारो यस्यास्तद् व्याप्यत्वप्रकारिका, सा च सा विषयता च, या च पक्षधर्मता, सा प्रकारो यस्याः, सा च सा विषयता च, ते एव द्वयं, तत्प्रतियोगिज्ञानं परामर्शो यस्य, कृतकत्वहेतोस्तृतीयलिङ्गपरामर्शविषयीभूतस्य तत्समानदेशकालत्वे सतीत्यर्थः।

ननु सत्प्रतिपक्षे परामर्शद्वयस्याविरोधेऽनुमितिरेव स्यात्। विरोधे एकत्र व्याप्तिभङ्गज्ञानमावश्यकमित्यसिद्धिरेव स्यादिति चेत् न, परस्परविरोधिपरामर्शद्वयस्य प्रतिबन्धकत्वज्ञानान्तरं व्याप्तिमङ्गज्ञानमित्युपजीव्यत्वेन व्यभिचारवदस्य दोषत्वात्। अत एव सद्धेतौ सत्प्रतिपक्षतापन्ने व्याप्तयादिभङ्गाभावेऽप्यनुमितिप्रबन्धकज्ञानं विरोधिपरामर्शसहितं जनकपरामर्शरूपमेव, तद्विषयश्च पूर्वसाधनं तद्विषयतावच्छेदकं प्रतिसाधनमेव, तद्वत्वं च तस्मिन्नविकलमिति प्रतिबन्धकज्ञानविषयतावच्छेदकरूपवत्त्वाद्धेत्वाभासता।

असिद्धः

असिद्धलक्षणमाह– [22]तत्साध्यव्याप्यत्वप्रकारकप्रमाव्यतिरेकतत्पक्ष धर्मताप्रकारक–प्रमाण्यतिरेकान्तरत्वम् सिद्धत्वम्। तत्साध्यव्याप्यत्वं प्रकारो यस्याः, सा च सा प्रमा च, तद्व्यतिरेकश्च पक्षधर्मताप्रकारकप्रमाण्यतिरेकश्च, तदन्यतरत्वमित्यर्थः। अन्यतरत्वं निर्वक्ति [23]तदन्यतरत्वं तदन्यान्यत्वम्। अतो यत्र व्यतिरेकद्वयं तत्र नाव्याप्तिः लक्षणान्तरमाशङ्क्याह– [24]न तु व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यां रहितोऽसिद्ध इति लक्षणम्, तद्व्याप्तिपक्षधर्मतावैशिष्ट्यस्याप्रसिद्धत्वेनासिद्धेरुद्भावयितुमशक्यत्वात्, अन्यस्यातिप्रसञ्जकत्वात्। एवमन्यान्यपि लक्षणानि दूषणीयानि।

व्याप्तिविरहमात्रस्य पक्षधर्मतारहितेऽव्याप्तेः पक्षधर्मतारहितस्य व्याप्तिरहितेऽव्याप्तेः उभयाभाववत्त्वस्य प्रत्येकाभाववदादाव्याप्तेः। न च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मत्वाभावो विशेषणादनुगतः सर्वत्रैवाऽस्तीति वाच्यम्। इदमाधकम्, व्याप्तिविरहवत्त्वात्' इत्यस्यैव गमकत्वेऽधिकवैयर्थ्यात्, प्रत्येकाभावमात्रोद्भावने वादिनिवृत्तेश्चेत्यादिदोषे सत्येव दोषान्तरमाह– [25]तद्व्याप्तिपक्षधर्मतावैशिष्ट्यस्याप्रसिद्धत्वेनासिद्धेः।

असिद्धं विभजते– [26]तदयमाश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धव्याप्यत्वासिद्धभेदेन त्रिविधः। आश्रयविशेषणासिद्धहेतु–स्वरूपविशेषणासिद्धयोः सत्वात् कथमसिद्धस्त्रिविध इत्याशङ्क्याह–

[२७]आश्रयविशेषणासिद्धहेतुस्वरूपविशेषणासिद्धावप्यत्रैवान्तर्भवतः।

आश्रयासिद्धमुदाहरति– [२८]अयं काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्, काञ्चनमयधूमवत्त्वात् इति। ननु पक्षविशेषणाभावादाश्रयासिद्धिर्वाच्या। तथा च तज्ज्ञाने सत्यपि विशेष्यधर्मिणिलिङ्गपरामर्शसंभवेनानुमित्यप्रतिबन्धेन कथं हेत्वाभासतेति चेत्, तज्ज्ञाने विशिष्टपक्षकानुमितिप्रतिबन्धकत्वेनैव हेत्वाभासत्वाद्धेतोर्विशिष्टपक्षवृत्तित्वाभावेनासिद्धसामान्यलक्षणेन संग्रहश्च। भागासिद्धस्य कुत्रवान्तर्भाव इति जिसायामाह – एवमिति। भागासिद्धोऽपि। [२९]व्याप्यत्वासिद्धस्तूपाधिदर्शनानुकूलतर्का भावादितः। व्यभिचारविरुद्धयोस्तु यद्यपि व्याप्तेरज्ञानम्, तथाप्युपजीव्यत्वाद्यथा पृथग्दूषणत्वं तथा प्रागुक्तमेव।

वाङ्मनसे अनित्ये, कार्यत्वात्' इति भागासिद्धोऽपीत्यर्थः। एभिरेव प्रकारैरसिद्धोद्भावनं वादिनिवृत्तिः, अनुमितिप्रतिबन्धः असाधकतानुमानं चेति प्रत्येकमेव दोषत्वमिति भावः। आश्रयासिद्धादिज्ञानमात्रदेव स्वार्थानुमितेरिव प्रतिबन्धकत्वसम्भवेन परं प्रत्यपि तदुद्भावनमेवोचितम्, न त्वसाकतानुमानमपि। अन्यथा अर्थान्तरत्वै स्यादिति चेत् परोपन्यस्तसाधकान्मध्यस्थादीनामनुमित्युत्पादाभावः। तस्य चासाधकत्वेन ज्ञानं चेति द्वयमप्युद्देश्यं दोषदातुः। तत्र चाद्यं दोषोद्भावनोदेव। अपरं च इदमसाकम् असिद्धत्वात्, इत्यादिप्रकारेण लिङ्गोपन्यादेव। अथवा कथकसप्रदायानुरोन दोषाद् भावनानुमितिप्रतिबन्धवदेतादृशलिङ्गोपन्यासेनैव परापकर्षो बोध्यः नान्यथेत्यसाधकतानुमानस्यावश्यकत्वादित्यास्तां विस्तरः।

नन्वेवं प्रत्येकज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वे हेत्वाभासाधिन्येन पञ्चैव हेत्वाभासा इति विभागव्याघात् इति चेत्न। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मत्वाभावेन परामर्शविषयाभावत्वेन च त्रयाणामप्यसिद्धत्वेन महर्षिणा विभागः कृत इति न विभागविरोध इति।

बाधितः

[३०]तत्तल्लिङ्गादतिरिक्तप्रमाणेन स्वपक्षे साध्याभाव प्रमा बाधः। अत्र साध्याभावज्ञानमात्रं बाध इत्युक्ते अधिकबलाज्ञान इति। साध्याभावज्ञाने प्रमाणत्वनिश्चयभाव इत्यर्थः। तृतीयलिङ्गपरामर्शो विशेषदर्शनत्वेन साध्याभावज्ञानं परिभूय साध्यं साधयेत् 'पर्वतेधूम इव वह्निम्। एवं चासंभवः। तत्परिहारार्थं प्रमापदम्। सा च प्रमात्वेन ज्ञाता प्रतिबन्धिका तस्या अधिकबलत्वेनावगतत्वात्। साध्याभावप्रमा बाध इत्युक्ते, सव्यभिचारादावतिव्याप्तिः। तदर्थं पक्ष इति। अनैकान्तिकै पक्षे साध्यसंदेह एवेति नोक्तदोषः। एतावति कृते विरुद्धेऽतिव्याप्तिः। तदर्थं तल्लिङ्गादतिरिक्तप्रमाणेनेति। विरुद्धे तु तल्लिङ्गादेव तत्प्रमा, न तु लिङ्गान्तरेणेतिनोक्तदोष इति दिक्। असाकतानुमानसौकर्यार्थे हेतुनिष्ठतयोक्तिः स्वीकर्त्तव्येत्यभिप्रायेणाह– [३१]साध्याभाववत्तया निश्चितपक्षकत्वं हेतोर्बाधितत्वम्। पक्षपदस्य प्रयोजनमाह– [३२]अनैकान्तिके पक्षे साध्यसंदेह एव। विरुद्धसांकर्यमाशङ्क्याह– [३३]विरुद्धे यद्यपि पक्षे साध्याभावप्रमा, तथापि साध्यसाधकतयोपन्यस्तल्लिङ्गादेव, न तु तत्पूर्वमन्स्मात्कुतश्चित्प्रमाणात्। बाधिते त्वमेव। अत एव बाधस्य पृथग्दूषणत्वम्। सत्प्रतिपक्षे तु परस्परप्रतिबन्धात् ज्ञानोत्पत्तेरभावात्प्रमाण्यतिरेक एव। असिद्धे च साध्ज्ञानसामग्रीव्यतिरेकमात्रम्, न तु व्यतिरिक्तज्ञानसामग्रीति महानेव विशेषः।

अत एव यत्कैश्चिदुच्यते– असिद्धानैकान्तिकयोरेव बाधितस्यान्तर्भाव इति, तदपि निरस्तस उपजीव्यत्वात्। तथाहि – यावत्प्रमाणान्तरात्पक्षे साध्याभावप्रमा नोत्पन्ना, तावदसिद्धानैकान्तिकावप्युद्भावयितुं न शक्येते। सा चेदुत्पन्ना, कथं तस्यां विद्यमानायां तद्विरोधिसाध्यप्रमोत्पादः अत एवोपजीव्यत्वाद्बध एव पृथग्दूषणम्।

नन्वेवमसंकीर्णोदाहरणाभावाद्बाधो न पृथक् हेत्वाभास इति चेत् न। रूपप्रागभावावच्छिन्नो घटो

रूपवान्, पृथिवीत्वात् इत्यादौ व्यभिचाराभावात् बाध एव दूषणम्। स च प्रागभावरूपसाध्यविरहप्रमैव। अथ प्रागभावविशिष्टो घटः पक्षः, तथा च विशिष्टे प्रागभावाभावादत्यन्ताभाव एव, कालत्रयेपि विशेषणांशे रूपावृत्तेः। अतो व्यभिचार एवेति चेत्– मैवम्। न तत्र प्रागभावविशिष्टोपक्षः किन्तु पक्षतावच्छेदके प्रागभावावच्छिन्नेति विशेषणम्। तथा च पक्षतावच्छेदकविशिष्टे पक्षे विशेषणांशे साध्यावृत्तित्वेन यदि व्यभिचारी स्यात्, तर्हि 'शब्दोऽनित्यः, शब्दत्वात्' इत्यादौ शब्दत्वरूपपक्षतावच्छेदकविशेषणविशिष्टे कालत्रयेऽप्यनित्यत्वस्यावृत्या बाध एव स्यादिति बहुव्याकुली स्यात्। न च वाच्यं गन्धप्रागभावावच्छिन्न इत्यादि। तत्काले प्रतियोगिसत्त्वप्रसङ्गादित्युत्तरेण न च वाच्यमित्यस्य योजना। 'घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्' इत्यादौ गन्धात्यन्ताभावऽवश्यं वाच्यः, अन्यथा एतादृशं वाक्यं योग्यं स्यात्। न च यत्र हि धर्मिणि यत्प्रागभावस्तत्र न तदत्यन्ताभाव इति वाच्यम्, तत्काले प्रतियोगिसत्त्वप्रसङ्गादिति। 'गन्धप्रागभावावच्छिन्नो घटो गन्धवान' इत्यादि वाक्ये यद्युक्तकाल उपलक्षणत्वेन वक्तुस्तात्पर्यविषयः, तदैकस्य द्वययोग्यत्वादिति। घटस्य आद्यक्षणावच्छेदेन गन्धप्रागभाववत्त्वस्य द्वितीयादिक्षणावच्छेदेन गन्धवत्त्वस्य च सत्त्वादित्यर्थः। यदि च विशेषणत्वे तात्पर्यम्, तर्हि विशेषणांशे रूपासत्त्वादयोग्यमेव। अनुमितौ च तात्पर्यादिरनुपयोगात्पक्षतावच्छेदकावच्छिन्ने प्रकृतस्थले बाध एव।

[३४]तदयमुपजीव्यबाधानुपजीव्यबाधभेदेन द्विविधः। तत्राश्रयसाध्यलिङ्गव्याप्तयादीनामुपजीव्यत्वेन तद्ग्राहकप्रमाणविराधादुपजीव्यबाधो बहुविधः। उदाहरणं प्रसिद्धमेव अनुपजीव्यबाधस्तु यथा पर्वतवृत्तिवह्न्यभावं पश्यन्नेवानुमानेन वह्निं साधयतीत्यादिस्वरूपः स्वयमूहनीयः। आश्रयविशेषणासिद्धानैकान्तिकव्याप्यत्वासिद्धसंकीर्णता सर्वत्र। इतरसंकीर्णता तु क्वचित्। दूषकबीजमुक्तमेव।

सन्दर्भ-सूची

१. न्यायरत्नम्, पृ. १५८
२. न्यायरत्नम्, पृ. १५८
३. न्यायरत्नम्, पृ. १५९
४. न्यायरत्नम्, पृ. १५९
५. न्यायरत्नम्, पृ. १५९
६. न्यायरत्नम्, पृ. १६०
७. न्यायरत्नम्, पृ. १६१
८. न्यायरत्नम्, पृ. १६३
९. न्यायरत्नम्, पृ. १६३
१०. न्यायरत्नम्, पृ. १६६
११. न्यायरत्नम्, पृ. १६६
१२. न्यायरत्नम्, पृ. १७१
१३. न्यायरत्नम्, पृ. १७१
१४. न्यायरत्नम्, पृ. १७१
१५. न्यायरत्नम्, पृ. १७१-१७२
१६. न्यायरत्नम्, पृ. १७२
१७. न्यायरत्नम्, पृ. १७३
१८. न्यायरत्नम्, पृ. १७३
१९. न्यायरत्नम्, पृ. १७३
२०. न्यायरत्नम्, पृ. १७४
२१. न्यायरत्नम्, पृ. १७५
२२. न्यायरत्नम्, पृ. १८०
२३. न्यायरत्नम्, पृ. १८०
२४. न्यायरत्नम्, पृ. १८०
२५. न्यायरत्नम्, पृ. १८०
२६. न्यायरत्नम्, पृ. १८१
२७. न्यायरत्नम्, पृ. १८१
२८. न्यायरत्नम्, पृ. १८१
२९. न्यायरत्नम्, पृ. १८०-१८२
३०. न्यायरत्नम्, पृ. १८२
३१. न्यायरत्नम्, पृ. १८२
३२. न्यायरत्नम्- १८०
३३. न्यायरत्नम्, १८२-१८३
३४. न्यायरत्नम्- १८७

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

कविचन्द्रभुवनेश्वररथशर्मणः संस्कृतसाहित्यं प्रति योगदानम्

वीणापाणि दास*

सारांशः - कीर्त्तिमालिनी, वीरप्रसविनी ओडिशा काले काले बहु योगीज्ञानी तथा विद्वान्व्यक्तीनां जन्माय जातेः देशस्य च महिमा युगे युगे वर्द्धयति। अमरम् एतत् संस्कृतसाहित्यम्। अस्याभिवृद्धये उत्कलस्य महाकवयः जयदेव-विश्वनाथकविराज-गदाधरराजगुरु-गोपिनाथ-रघुनाथरथ-पण्डितभुवनेश्वररथप्रभृतीनां कवीनां महती योगदानमासीत्।

एतेषु कविषु पण्डितभुवनेश्वररथ अन्यतमासीत्। सः 'कविचन्द्र' इत्युपाधिमपि प्राप्तवान्। उत्कलनिवासी विश्वनाथदेववर्मणः सभाकविना कविचन्द्रभुवनेश्वररथशर्मणः विरचितं महाकाव्यद्वयं विराजते। इतोऽपि नैकाः रचनाः अस्माकं नयनपथमारोहन्ति। संस्कृतसाहित्ये तस्य महत् योगदानं अस्माकं मुख्य-आलोच्यविषयः अस्ति।

१. कवेः जन्मपरिचयम्

पण्डित-श्रीभुवनेश्वररथशर्मन् महोदयो उत्कलप्रदेशस्थस्य कटकमण्डलान्तर्गतम् 'आठगड' नामकं ग्रामं स्वप्रतिभया महिमामण्डितं कृतवान्। पुरीमण्डलस्य षोडशब्राह्मणशासनेषु अग्रगण्य ''वीरहरेकृष्णपुरम्'' इति ब्राह्मणशासने नीलकण्ठरथस्य पुत्र आशुकवि पण्डितविष्णुरथस्य पुत्र कविचन्द्रपण्डितभुवनेश्वररथः आसीत्। तस्य माता आसीत् पार्वती देवी।

२. विद्याध्यनम्

भुवनेश्वरस्य बाल्यशिक्षा तस्य पितुः प्रत्यक्षतत्तावधानेन समभवत्। पण्डितपितरं विष्णुरथं बाल्यशिक्षकरूपेण प्राप्य भुवनेश्वरः महाभाग्यवान् अभवत्। तस्य पिता वाराणसीसंस्कृतविद्यालये पठितवान्। वाराणसेयाः पण्डिताः तस्य प्रतिभां दृष्ट्वा तम् ''उत्कलेषु विष्णुरेव'' इति उक्तवान्। तदा तस्य श्लोक रचनां दृष्ट्वा अन्ये पण्डिताः आश्चर्यान्विताः बभुवुः। तै तर्कितं यत् स्वयं सरस्वती तस्य रसनाग्रे वसति किम्।[१]

महाकविः भुवनेश्वरः १९ वर्ष वयसि वङ्ग-विहार-उत्कलेषु संस्कृते प्रथमश्रेण्यां उत्तीर्णः भूत्वा स्वर्णपदकं प्राप्तवान् एवं २१ वर्ष वयसि विश्वविख्यातसंस्कृतमहाकाव्यं रुक्मिणीपरिणयम् लिखितवान्। रुक्मिणी परिणयम् तत् संलग्न च टीका राजा-राज्ञी नाम्ना नामाङ्कितानन्तरं प्रकाशितं च।

३. कर्मजीवनम्

पुरीण्डलस्य षोडशब्राह्मणशासनेषु अग्रगण्य ''वीरहरेकृष्णपुरम्'' ब्राह्मणशासने नीलकण्ठ रथस्य पुत्र आशुकवि पण्डितविष्णुरथस्य पुत्र कविचन्द्रः पण्डितभुवनेश्वररथः भवन्ति। कटकमण्डलस्य ''आठगडस्य'' गडराजा पुण्यश्लोकः राजाविश्वनाथदेववर्मणः सभापण्डित कार्यरतो भूत्वा स्वीय प्रतिभादीप्तः जीवनारम्भं कृतवन्तः। तेषां बहु विशाल प्रतिभायाः उदय-अस्तस्य च कथा यादृशि उदीप्तः तादृशि करुणं भवति। विश्वनाथदेववर्मणः सभाकविः कविचन्द्रभुवनेश्वररथशर्मा अनेकेषां काव्यानां रचयिताऽस्ति। भयङ्करभावेन

* शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला, त्रिपुरा

निर्भीकस्पष्टवादीं च कवि: भुवनेश्वरस्य जीवने बहु सुयोग सम्मानं च तदर्थं न प्राप्तवन्त:। आठगडस्य महाराजा विश्वनाथ देववर्मणं विश्वविख्यात तथा आन्तर्जातिकपण्डितमण्डल्यां बहु चर्चित एवं सम्मानस्य सुयोगदाता कविचन्द्र: भुवनेश्वरस्य तस्य स्पष्टवादिता हेतु: एकदा राज्ञ: विरागभाजनं भूत्वा राजद्रोहापराधेन दण्डित: कवि: स्ववासस्थानं आठगडात् निर्वासित सन् दारुणं दुर्भाग्यं वरणं कृतवन्त।

उत्कलप्रदेशे लब्धजन्माकविरसौ पण्डितभुवनेश्वररथशर्ममहोदय: उच्चविद्यालये शिक्षक: आसीत्। नियतिचक्रेण पीड़ित: आसीत् तस्य जीवनपथ:। नासौ यशसा सुखेन वा अर्थात् श्रीदेव्या अनुग्रहलाभेन कृतार्थ: अभूत्। दारिर्द्यदावाग्निना सुतरां सन्तप्त: कथमपि स्वजनै: सह जीवनमतिवाहयतिस्म। दारिद्रहेतो: स्वल्पार्थविनिमयेन स्वरचितान् ग्रन्थान् विक्रीय हृदये नितरां पीड़ां अनुभवतिस्म। ते च ग्रन्था: कविरचिता: विक्रीता: सन्त: नामान्तरै: अङ्कित: आत्मप्रकाशनं लेभिरे। एवं दुर्भाग्य-पीड़ित: अयं सज्जन: विद्वान् परहितव्रती छात्रवत्सल: महान् सारस्वतसाधक: स्वप्रतिभानुसारेण जीवने यथोपयुक्तस्थानं न लेभे। तस्मै अस्माकं हृदयस्थं श्रद्धातिशयं निवेदयाम:।

४. तद्रचिता: ग्रन्था:

१. रुक्मिणीपरिणयमहाकाव्यम्
२. लक्ष्मणपरिणयमहाकाव्यम्
३. नृसिंहाविर्भावनाटकम्
४. विश्वनाथदेववर्मवंशावली (कविवंशावली)
५. चण्डीस्तोत्रार्थदीपानुवाद:
६. विशाखापाटणावर्णनम् (उत्कलभाषायाम्)
७. उत्कलभाषायां विरचितावामण्डाराजप्रशस्ति-संस्कृतानुवाद:
८. भगवत्कविरत्नकृता-गुण्डिचाशतकव्याख्या
९. विदग्धचिन्तामणिटीका
१०. लावण्यवतीटीका
११. गदाधरपद्धति:
१२. अष्टदुर्गपरिचय:
१३. भारतवन्दना

एतेषां ग्रन्थानां सम्क्षिप्तपरिचय: अध: प्रदीयते ।

४.१ रुक्मिणीपरिणयमहाकाव्यम्

अस्मिन् महाकाव्ये द्वारकाधिपति: श्रीकृष्ण: नायक:, विदर्भाधिपतिर्भीष्मकराजनन्दिनी रुक्मिनीनायिका च भवत:। अस्य महाकाव्यस्य प्रथमसर्गे मंगलाचरणात् परं कवि: विदर्भराजस्य भीष्मकस्य प्रतापं वर्ण्यति। तत: विदर्भराजकन्याया: रुक्मिण्या: उत्पत्तिं सूचयित्वा तस्या: शैशवं यौवनं च चारुतया चित्रयति। तस्या विवाहविषयचिन्तनेन् सह प्रथमसर्गस्य परिसमाप्ति: जायते।

द्वितीयसर्गस्य प्रारम्भे रुक्मिणीवरनिर्वाचनकार्यार्थं राजा भीष्मक: राजसभामाह्वयति। तत्र स रुक्मिण्या: योग्यवरत्वेन वरयितुं चिन्तयति। अत: परं राज्ञी जामातृरूपेण शिशुपालस्य नाम श्रुत्वा आनन्दं प्रकाशयति। एतदेव द्वितीयसर्गस्य कथावस्तु।

तृतीयसर्गस्य प्रारम्भे सख्य: शिशुपालस्य जामातृविषयम् अवलम्ब्य रुक्मिणीं प्रति परिहासवचनानि

प्रकाशयन्ति। तत् श्रुत्वा दु:खिता रुक्मिणी श्रीकृष्णं विहाय अपरं कमपि वररूपेण वरीतुं नाङ्गीकरोति।

चथुर्थसर्गस्य प्रारम्भे कृष्णविरहिणी रुक्मिणी सखिभि: सार्धं भ्रमणकाले उपवनमध्यस्थित पुष्करिणीसमीपे रुद्राक्षमालाविभूषितमेकं द्विजवरं पश्यति। सख्य ब्राह्मणाय रुक्मिण्या: अवस्थां निवेद्य तस्या: साहाय्यर्थं निवेदयन्ति।

कृष्णविरहेण रुक्मिणी न जीविष्यति इति सखीमुखात् श्रुत्वा ब्राह्मण: कृष्णं प्रति रुक्मिणी लिखितं पत्रं गृहीत्वा द्वारकां याति। श्रीकृष्णस्य आतिथ्यवर्णने सर्गोऽयं समाप्तिमेति।

पत्रपाठानन्तरं श्रीकृष्ण: कुण्डिनपुरं प्रचलति। तदा दमघोषस्य पुत्र: शिशुपाल: रुक्मिणीं ग्रहीतुं समायाति। एवं द्वयो: जामात्रौ: कुण्डिनगरप्रवेशं सूचयित्वा कवि: षष्ठसर्गस्य समाप्तिं घोषयति।

सप्तमसर्गस्य प्रारम्भे विदर्भनगर्य्यां शिशुपालस्य जरासन्धस्य च ससैन्यप्रवेश: यथा सूचितोऽस्ति तथा श्रीकृष्णवलरामयो: विदर्भनगरागमनमपि कीर्त्तितमस्ति। तत: ब्राह्मणात् श्रीकृष्णस्य आगमनवार्त्तां श्रुत्वा रुक्मिण्या: ब्राह्मणाय पारितोषिकदानं प्रकाशितमस्ति।

अष्टमसर्गस्य प्रारम्भे मंगलवाद्येन साकं प्रात: श्रीकृष्णस्य विदर्भराजधानीप्रवेश: वर्णितोऽस्ति। श्रीकृष्णभयेन राज्ञ: भीष्मकस्य सेना यथा रुक्मिण्या: सुरक्षार्थं तत्परास्ति तथा शिशुपालस्य सेना जागरुका वर्त्तते। परन्तु प्रत्यागमनसमये श्रीकृष्ण: स्वरथमध: आनीय जनसमुद्रात् रुक्मिन्नीय च पलायित:। तदा देवानां पुष्पवृष्ट्या अयं सर्ग: समाप्त:।

नवमसर्ग: युद्धसर्गरूपेण कविना वर्णितोऽस्ति। अत्र श्रीकृष्णेन साकं जरासन्धस्य शिशुपालस्य रुक्मणस्य च युद्धं सर्वेषां च पराजय: वर्णितोऽस्ति।

दशमसर्गस्य प्रारम्भे पराजितशिशुपालस्य खेदं श्रुत्वा जरासन्धप्रबोधना प्रकाशिताऽस्ति। तत: रुक्मण नर्मदातीरे श्रीकृष्णमाक्रामति। क्रुद्ध: श्रीकृष्ण: शरप्रयोगं कृत्वा रुक्मणस्य केशराशिं छिनत्ति। पराजित रुक्मण: भोजकटकमधिवसति। तत: रुक्मिण्या सह वन्दिभि: अभ्यर्थित: श्रीकृष्ण: स्वपुरं प्रविशति। एतेन दशमसर्गस्य परिसमाप्ति जायते।

एकादशसर्ग काव्यस्य अन्तिमसर्ग: भवति। तत्र सर्गारम्भे इन्द्रादिदेवपरिवेष्टित: श्रीकृष्ण: ब्राह्मणानामाशीर्वादं गृह्णन् स्वपुरं प्रविशति। तत: गणकमाहूय ज्येष्ठमासस्य शुक्लपक्षगतामेकादशीतिथिं विवाहदिवसत्वेन निश्चिनोति। अत: अन्तिमे कामिन्य: नवदम्पत्यो: केलिगृहगमनकाले कृष्णस्य बहुविधावतारं तर्कयन्ति। अस्मिन् प्रसंगे श्रीकृष्णस्य अष्टविधा वतावरणां वर्णनं प्रकाश्य कवि: महाकाव्यमिदं परिसमाप्नोति।

४.२ लक्ष्मणापरिणयमहाकाव्यम्

मद्रनरेशस्य कन्याया: लक्ष्मणाया: श्रीकृष्णेन सह विवाहवर्णनं अस्मिन् महाकव्यस्य मुख्यविषयवस्तु भवति। तत्र प्रथमसर्गे लक्ष्मणाया: विवाहार्थं नारदस्य श्रीकृष्णं प्रति अनुरोध:, द्वितीयसर्गे लक्ष्मणाया: यौवनवर्णना, तस्या: विवाहविषये मद्राधिपस्य विचारश्च, तृतीयसर्गे स्वयम्वरायोजनं तत्र योगदानार्थं श्रीकृष्णदुर्योधनप्रभृतीनाम् उपस्थितिकथनं च, चतुर्थसर्गे सभामण्डपवर्णनं लक्ष्मणाया: पुरत: सखीनां श्रीकृष्णगुणवर्णनं च, पञ्चमसर्गे स्वयम्वरसभायां द्रौपदीविवाहवत् मत्स्यनयनभेदव्यवस्था तत्र लक्ष्यभेदपरीक्षायामर्जुनादीनां वीराणां विफलता, षष्ठसर्गे श्रीकृष्णस्य लक्ष्यभेद:, लक्ष्मणायाश्च श्रीकृष्णस्य कण्ठे वरणमालार्पणम्, विफलानां राज्ञां दुश्चिन्ता च, सप्तमसर्गे श्रीकृष्णं प्रति जरासन्ध–शाल्ब–पौण्ड्र–दन्तवक्र–दुर्योधन–कर्ण–कृतवर्मप्रभृतीनां आक्षेप:, बलदेव–जरासन्धयो: युद्धञ्च, अष्टमसर्गे लक्ष्मणया सह

श्रीकृष्णस्य द्वारकाप्रत्यागमनम्, नवमसर्गे श्रीकृष्णस्य विवाहवर्णनम्, कामोद्दीपकवर्षाकालवर्णनं च कृतमस्ति।

लक्ष्मणापरिणयस्य एकस्मात् श्लोकात् ज्ञायते यत् कविचन्द्रभुवनेश्वररथशर्मा रुक्मिणीपरिणयमहाकाव्यस्य रचयिताऽसित्।[२] तत्र मद्रनरेशस्य कन्याया: लक्ष्मणाया: श्रीकृष्णेन सह विवाहवर्णनं मुख्यविषयवस्तु भवति। एतस्य ग्रन्थस्य रचनाकालोऽस्ति १९०६ ख्रिष्टाब्द:। पौराणिककथाश्रितं महाकाव्यमिदं १९२१ संवत्सरे कलिकातानगरे मुद्रितमासीत्।

४.३ नृसिंहाविर्भावनाटकम्

इदं नाटकं सप्तांकविशिष्टम्। तत्र प्रथमाङ्के आशीर्वादात्मकं मंगलाचरणात् परं मृतहिरण्याक्षविनाशजनित: हिरण्यकशिपो: शोक: विष्णुवधप्रतिज्ञा च, द्वितीयाङ्के हिरण्यकशिपो: तपश्चर्यार्थं गमनं, इन्द्रस्य कयाधुं प्रति बलात्कार:, नारदस्य प्रवेश:, कयाधो: नारदाश्रमं प्रति गमनं च, तृतीयाङ्के विश्वावस्तुपरावसुगन्धर्वयो: आगमनं, देवराक्षसोत्सवविध्यो: तुलनात्मकविमर्ष:, हिरण्यकशिपो: प्रत्यावर्तनं, शुक्राचार्यहिरण्यकशिपो: कथोपकथनम्, देवान् प्रति स्पर्धाभावप्रदर्शनं च, चतुर्थाङ्के कयाधुहिरण्यकशिपोर्मध्ये प्रह्लादविद्याध्ययनविचार:, पंचमाङ्के राक्षसानां देवपीडा, षष्ठाङ्के विष्णुभक्तप्रह्लादस्य विनाशाय हिरण्यकशिपो: विविधयत्न:, सप्तमाङ्के स्तम्भात् भक्तवत्सलस्य नृसिंहस्य आविर्भाव: हिरण्यकशिपो: विनाशश्च वर्णितोस्ति। नाटकमिदं अधुना पाण्डुग्रन्थरूपेण वर्तते।

४.४ कविवंशावली

अनेन कविना भुवनेश्वररथशर्मणा कविवंशावलीनामकं काव्यं रचितम्।[३] अस्मिन् काव्ये विश्वनाथदेववर्मण: वंशावली वर्णिताऽस्ति। इदं वंशावलीकाव्यं विश्वनाथदेववर्मण: रुक्मिणीपरिणयमहाकाव्यस्य ललितगोविन्दगीतिकाव्यस्य च अन्तिमभागे वर्त्तते। उभयत्र श्लोका: समाना: परन्तु ललितगोविन्दगीतिकाव्यस्य कविवंशावल्यां पंचश्लोका: अधिका: सन्ति। यत: रुक्मिणीपरिणयमहाकाव्यान्त: स्थितकविवंशावलीश्लोकसंख्या चतु: षष्ट्यधिकमेकशतं (१६४) ललितगोविन्दगीतिकाव्यस्य कविवंशावलीसंख्या एकोनसप्तत्यधिकैकशतं (१६९) च भवति।

४.५ चण्डीस्तोत्रार्थदीपानुवाद:

चण्डीस्तोत्रार्थदीपानुवादग्रन्थस्य उत्कलानुवादोऽपि अस्य अपरा कृतिर्भवति।

४.६ विशाखापाटणावर्णनम्

विशाखापत्तनस्य प्राकृतिकसौन्दर्यवर्णनपरकं कवे: अपरमेकं काव्यम् उत्कलभाषया विराजते।[४]

४.७ वामण्डाराजप्रशस्त्यनुवाद:

मधुसूदननामकेन कविना वामण्डाराजप्रशस्तिखण्डकाव्यम् उत्कलभाषया विरचितम्। कवि: भुवनेश्वररथशर्मा तत् काव्यं संस्कृतेन अनुवादितवान्।[५]

४.८ गुण्डिचाशतकव्याख्या

भगवत् कविरत्नकृतस्य गुण्डिचाशतककाव्यस्य व्याख्या रथशर्मणा विरचिता।[६] एतस्या व्याख्यया तस्य पर्यालोचनसामर्थ्य ज्ञायते।

४.९ विदग्धचिन्तामणिटीका

आर्त्तवलभमहान्तिनाम्ना प्रकाशितम्। (प्राचीनसंस्थानं विकीत:)।

४.१० लावण्यवतीटीका

कटकस्य कश्चित पुस्तकभण्डारं कियत् अर्थविनिमये विक्रीतम्। तदपि तस्य ग्रन्थसंस्था नाम्ना प्रकाशितम् ।

४.११ गदाधरपद्धति

उत्कलगौरवः पण्डितः गदाधरराजगुरो प्रणीतम् एतत् स्मृति ग्रन्थस्य उत्कल-भाषान्तरं भिङार्पुरस्य जमिदारवंशीयं विक्रीतम् एवम् अद्यापि अप्रकाशितम्।

४.१२ अष्टदुर्गपरिचयः

अष्टकं यत् रुक्मिणीपरिणयं काव्ये प्रकाशितम्।

४.१३ भारतवन्दना

कविवरराधानाथस्य नाम्ना भणितः ''सर्वेषाम् नो जननी भारत'' संस्कृतरचना कविना कृतज्ञतायाः शङ्कुरूपेण प्रदत्तम्।

५१.५ महाप्रयाणः

कविचन्द्रभुवनेश्वररथशर्मा १९०४ तमे ख्रीष्टाब्दे पुरीनिकटस्थ-भिङारपुरग्रामनिवासिनः गंगाधरचौधुरीनामधेयस्य शिष्यस्य गृहं गतवान्। तदा श्रीपञ्चमी आसीत्। स वंगविहारकाउन्सिल् मध्ये योगदानाय तत्परः आसित्। तस्मिन् काले हृदि यन्त्रणामनुभूय स दिवंगतः। तत्रैव तस्य अन्तिमसंस्कारः सञ्जातः।[७] अयं सुपण्डितः राज्ञः विश्वनाथदेवस्य काव्यानां संशोधकरूपेण ख्यातिं प्राप्तवान्।

अन्तिमे वयं वक्तुं शक्यते यत् बहु कष्टं स्वीकृत्वेनापि अयं कविदासकल्पकविचन्द्रभुवनेश्वररथः संस्कृतसाहित्ये तस्य यथायथ स्थानं न प्राप्तुम् शक्यते। तर्हि विषयमिदम् आधारीकृत्य मम एतद् शोधपत्रं सर्वजनसमक्षेस्भुवनेश्वररथशर्मणः उपस्थापनाय किंचित् प्रयासमात्रम्।

सन्दर्भसूची

१. समाज साप्ताहिकी साहित्य आलोचना . पृ ७, ता. १०,१२,७१।

२. लक्ष्मणापरिणयमहाकाव्यम् ३./७७

३. कविवंशावली, श्लोक सं. १६९।

४. चण्डीस्तोत्रार्थदीपानुवाद-विशाखापाटवर्णननामकं ग्रन्थद्वयं कविना भुवनेश्वररथशर्मणा विरचितम् इति कविनप्तुः निरंजनरथशर्मणः सकाशात् ज्ञातम्।

५. लक्ष्मणापरिणयमहाकाव्यस्य पंचमसर्गे अन्तिमश्लोकः।

६. लक्ष्मणापरिणयमहाकाव्ये चतुर्थसर्गे अन्तिमश्लोकः।

७. कविनप्तुर्निरञ्जनरथमुखात्।

सहायकग्रन्थाः

- आप्टेवामनशिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९६
- उपाध्यायः बलदेव, भारतीय साहित्य का अनुशीलन; शारदासंस्थान वाराणसी, १९८५
- त्रिपाठी राधावल्लभः, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २०१०
- पतिनिरञ्जन, श्रीविश्वनाथदेववर्मणः संस्कृतकाव्यानां साहित्यिकामूल्याङ्कानम्, श्रीजगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी, २०१२
- श्रीलक्ष्मणापरिणयमहाकाव्यम्, पण्डितश्रीभुवनेश्वररथशर्म्माः, राधाप्रियाट्राष्टिफण्ड, कलकाता, १६२४

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

महाभारते सांख्यदर्शनस्य प्रभावः

पार्थः कर्मकारः*

महाभारतमिदं न केवलम् आख्यानम् अपि तु समग्रस्यापि संस्कृतवाङ्मयस्य सारभूतम्। सर्वलोकप्रियत्वाय निखिलमपि वैदिकं लौकिकं च तथ्यम्, दर्शनम्, शास्त्रसारम्, आख्यानम्, नीतिशास्त्रम्, आचारशास्त्रम् अन्यच्चापि लोकोपयोगि तत्त्वम् अत्र संगृह्य प्रस्तूयते। महाभारते क्वचिद् ग्रन्थोऽयं जयनाम्ना, क्वचिद् भारत-नाम्ना, क्वचिच्च महाभारत-नामोल्लिख्ययते। सूक्ष्मेक्षिकयाऽवलोकनेन विज्ञायते यद् महाभारतस्य प्रगतेः चरणत्रयं वर्तते। प्रथमेचरणे जयनामकं काव्यमेतत् ८८०० श्लोकपरिमितं व्यासकृतं धर्मचर्चाम् आश्रित्य वैशम्पायनाय श्रावितमभूत्। द्वितीयचरणे भारतनामकं महाकाव्यमेतद् वैशम्पायनकृतं २४००० श्लोकपरिमितं जन्मेजयस्य नागयज्ञे जन्मेजयाय श्रावितमभूत्। तृतीयचरणे महाभारतनामकं महाकाव्यमेतद् सौतिकृतम् एकलक्ष्मश्लोकपरिमितं नैमिषारण्ये यज्ञकाले शौनकादिभ्यः ऋषिभ्यः श्रावितमभवत्। अत्र प्रधानतः कौरव-पाण्डवानाम् इतिवृत्तं विवादो गीतोपदेशो महाभारतयुद्धे पाण्डवानां विजयावाप्तिश्च वर्ण्यते।

अस्य कर्तृत्वरूपेण व्यासो वेदव्यासो वा प्राधान्येन प्रकीर्त्यते। व्यासस्य जन्मादिविषये बहुविधा किंवदन्ती श्रूयते। परं वेदानां यथायथं विभाजनाद् वेदव्यासः समासतो व्यास इति नामान्तरं सङ्गच्छते।

ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया।
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्मात् व्यास इति स्मृतः।।[१]
व्यासो वर्षत्रयेण महाकाव्यमेतद् प्रणिनायेति तद्वचनादेव विज्ञायते।
त्रिभिवर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्।।[२]

लक्षश्लोकपरिमितत्वादेव गुप्तकालीनशिलालेखेषु '**शतसाहस्त्री संहिता**' इति नाम्ना ग्रन्थोऽयं निर्दिश्यते। अत्र कथाविभागम् आश्रित्य १८ पर्वाणि सन्ति। महाभारतकृतोऽवर्तते महत्त्वाकाङ्क्षेयं यद् धर्मार्थ-काम-मोक्ष विषयकम् अखिलमपि जिज्ञासितं तथ्यम् अत्रावाप्यते। न च किंचिद् उच्छिष्यते। अतएवोच्यते –

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[१]

महाभारतस्य विशालं परिणामपि विलोक्यास्य महत्त्वविषयं प्रोच्यते यद् महनीयोऽयं ग्रन्थो यथैव वपुषा विशालस्तथैव भावगम्भीर्येण अर्थगौरवेण च। ज्ञानाग्निसमेधितत्वाच्च एतस्य महत्त्वं न कथञ्चिदपि अपलपितुं पार्यते। अतएव महत्त्वमेतस्य उद्गायता प्रोच्यते – **महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।**

महाभारतेऽस्मिन् काव्यं, दर्शनम्, अध्यात्मं, वैदिकतत्त्वम्, ऐतिह्यम्, आख्यानं, नीतितत्त्वं,

* शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, कलासंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी (उ. प्र.)

राजनीतिसारः अन्यच्चापि लोकोपयुक्तं तत्त्वजातं सुमधुरया शैल्या संगृह्योपस्थाप्यते। अतएव ग्रन्थकर्तुः इयम् उद्घोषाणा न विप्रतिपत्तिम् आश्रयते यद् –

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[४]

संख्यशब्दस्यार्थः सम्यक् ख्यातिः विवेकज्ञानम् एतदेव सम्यक् विज्ञानं सांख्यशब्देन अभिधीयते– प्रकृति–पुरुषान्यथाख्यातिः। प्रकृति–पुरुषयोर्भेददर्शनं सांख्याभिमतम् इत्येवाश्रित्य दर्शनस्यैतस्य कृते सांख्यशब्दः प्रयुज्यते। भागवते (३–३५) इदं दर्शनं तत्त्व–संख्यानम् उदीर्यते। महाभारते तत्त्वगणानाम् आश्रित्येदं दर्शनं सांख्यम् इत्यभिधीयते। तथा चोक्तं महाभारते –

संख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम्।
संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।।
तत्त्वानि च चतुर्विशत् परिसंख्याय तत्त्वतः।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पंचविंशकः।।[५]

सांख्यदर्शनं नितरां प्राचीनदर्शनम्। उपनिषत्स्वपि दर्शनस्यास्य राद्धान्ता यत्र तत्रावलोक्यन्ते। दर्शनस्यैतस्य प्रणेता आदि विद्वान् कपिलो वर्तते। आदिविद्वान् इति विशेषेन सम्यग् एतदवधार्यते यत् कपिलः प्राचीनतमः तत्त्वज्ञो बभूव। स ग्रन्थरत्नद्वयस्य प्रणेताङ्गीक्रियते तत्त्वसमासस्य सांख्यसूत्रस्य च।

महाभारतस्योद्योगपर्वाणि चत्वारिंशदध्यायादारभ्य षट्चत्वारिंशदध्यायपर्यन्तं सनत्सुजातेन धृतराष्ट्रं प्रति सांख्यमतमवलम्ब्य तत्त्वानामुपदेशः कृतः।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णं बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाम्।
अजो! प्रेको! जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।[६]

इति श्वेताश्वतरोपनिषदानुसारं प्रकृतेर्लोहितकृष्णश्वेतरूपाणि प्रतिपादितानि। तथैव महाभारतस्योद्योगपर्वणि सनत्सुजातीयेऽपिचत्वारिंशदध्याये प्रकृतस्त्रिरूपत्वं प्रतिपादितम् –

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा।
यद् ब्राह्मणः पश्यति यत्र विद्वान् कथं रूपं तदमृतमक्षरं परम्।।[७]

लिङ्गपुराणस्य पूर्वार्द्धेऽपि –

तामजां लोहितां शुक्लां कृष्णामेकां बहुप्रजाम्।
जनित्रीमनुशेते स्म जुषमाणः स्वरूपिणीम्।।
तामेवाजामजोऽन्यस्तु भुक्तभोगां जहाति च।
अजा जनित्री जगतां साजेन समाधिष्ठिता।।[८]

तत्त्वसमासेन अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः इति सूत्रभ्यां यथा षोडशाष्टकरूपेण सांख्यीयतत्त्वान्युपस्थापितानि तथैव तानि महाभारतस्य शान्तिपर्वाणि अपि निर्दिष्टानि सन्ति।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकारा चापि षोडश।
तत्र तु प्रकृतिरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः।।[९]

शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मप्रकरणे त्रिंशततमेऽध्याये युधिष्ठिरप्रश्ने –

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगं द्विजातयः।
वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै।।

अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रुकर्शन।
वदन्ति कारणैः श्रेष्ठं योगाः सम्यङ्मनीषिणः।।[१०]

इत्यादिना सविस्तरं योगविषयं प्रतिपाद्य भीष्मपितामहेन एकाधिकत्रिंशततमेऽध्याये सांख्यदर्शनस्य सर्वोत्कृष्टत्वं प्रतिपादितम् –

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम्।
विदितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरी वरैः।।[११]
सांख्या राजन्! महाप्रज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम्।
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते।।[१२]
ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन्! वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र।।[१३]
हित्वा च देहं प्रविशन्ति देवं दिवौकसोद्यामिव पार्थ सांख्याः।
अतोऽधिकं तेऽभिरता महार्हेसांख्ये द्विजाः पार्थिवशिष्टजुष्टे।।[१४]

सांख्ये यथा पञ्चविंशतितत्त्वानि स्वीकृतानि, तथैव महाभारतस्य शान्तिपर्वाणि मोक्षधर्मे एकाधिकत्रिंशत्तमेऽध्याये तानि स्वीकृतानि। सांख्ये पुराणे च यथा सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः –

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणत्रयमुदाहृतम्।
साम्यावस्थितिरेषां प्रकृतिः परिकीर्तिता।।[१५]

प्रकृतेर्महात् महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि च, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः स्वीकृतः। तथैव महाभारतेऽपि तत्त्वोत्पत्तिक्रमे वर्णितः। सांख्ये यथाऽचेतनापि प्रकृतिर्जगज्जनयति संहरति च, तथैव महाभारतस्य शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मं चतुर्दशाधिकत्रिंशत्तमेऽध्यायेऽप्युक्तम् –

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यापि।।[१६]

सांख्ये यथा जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वं स्वीक्रियते तथैव महाभारतस्य शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मप्रकरणे पुरुषबहुत्व प्रतिपादनमुपलभ्यते –

बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
नैतच्छिन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोकद्वह।।[१७]
वायुपुराणस्योपसंहारपादे च –
बहुत्त्वाच्च शरीराणां शरीरी बहुधा स्मृतः।
यस्मात् प्रतिशरीरं हि सुखदुःखोपलब्धिता।।
तस्मात् पुरुषनानात्वं विज्ञेयं तु विजानता।।[१८]

सांख्ये यथा प्रकृतिपुरुषसंयोगात् सर्ग उत्पद्यत इति स्वीक्रियते, तथैव महाभारतेऽपि स्वीकृतम्। शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे षट्त्रिंशदधिकद्विशततमेऽध्याये एकोनत्रिंशच्छ्लोकादाराभ्य एकचत्वारिंशच्छ्लोकपर्यन्तं सांख्ययोगयोवैलक्षण्यस्य विवेचनं कृतमस्ति। भीष्मपर्वणि च पञ्चविंशत्यघ्यायादाराभ्य द्विचत्वारिंशदध्यायपर्यन्तमष्टादशस्वध्यायेषु श्रीमद्भगवद्गीतायां

सांख्यसिद्धान्तवर्णनं विस्तरतो भगवता श्रीकृष्णेन कृतम्।

सांख्ये यथा त्रिविधं दुःखमस्ति, तदत्यन्तनिवृत्तिर्हानम्। प्रकृतिपुरुषसंयोगद्वारा चाविवेको हेयहेतुः, विवेकख्यातिस्तु हानोपायः, त्रिविधदुःखात्यन्तिकनिवृत्तिः पुरुषार्थो वर्णितः, तथैव गीतायामपि शोकक्रान्तस्यार्जुनस्य मोहमपाकर्तुं प्रवृत्तो भगवान् श्रीकृष्णः प्रोक्तवान् –

अशोच्यानन्वशोच्यस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।[११]

अपि च सांख्ये यथाऽऽत्मनो नित्यत्वं विभुत्वं निर्गुणत्वं च प्रदर्शितम्, तथैव गीतायामपि द्वितीयाध्याये द्वादशतः पञ्चविंशतिश्लोकपर्यन्तं श्लोकैरात्मस्वरूपः प्रदर्शितः एवं सांख्ययोगदर्शनं पुराणेतिहासाभ्यां सर्वथा समुपवृंहितमिति तयोस्तत्र प्रभावस्वीकारे न काप्यनुपपत्तिः।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
स्मदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।
य एनं वेत्ति हन्तारं य चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।
नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।[२०]

सन्दर्भ-सूची :

१. महाभारतम्, आदिपर्वः १.६६.६८
२. महाभारतम्, आदिपर्वः १.६३.५२
३. महाभारतम्, आदिपर्वः १.६३.५३
४. महाभारतम्, आदिपर्वः १.६३.५३
५. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, मोक्षधर्मपर्वः ३०६.४२.४३
६. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.५
७. महाभारतम्, उद्योगपर्वः, ३३.९
८. लिङ्गपुराणम्, पूर्वभागः ३.१३
९. महाभारतम्, शान्तिपर्वः १२.३१०.१०
१०. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, १२.३००.२-३
११. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, १२.३०१.३
१२. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, १२.३०१.१००
१३. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, १२.३०१.१०८
१४. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, १२.३०१.११२
१५. मत्स्यपुराणम् ३.१४
१६. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, १२.३१४.१२
१७. महाभारतम्, शान्तिपर्वः, १२.३५०.२
१८. वायुपुराणम् १०२.३८
१९. श्रीमद्भगवद्गीता २.११-१४
२०. श्रीमद्भगवद्गीता २.१५-२५

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची :

- महाभारतम् - वागीश शास्त्रीः, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ, १९८७
- महाभारतम्, आदिपर्वः एवं सभापर्वः, व्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०४५
- महाभारतम्, शान्तिपर्वः, व्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०४५
- महाभारतम्, उद्योगपर्वः, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पारडी, वलसाड, १९६९
- श्रीमद्भगवद्गीता-व्यास, मोतीलाल वनारसी दास, वाराणसी, १९८१
- श्वेताश्वतरोपनिषद्- ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०६८
- वायुपुराणम्, रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९८७
- लिङ्गपुराणम् (पूर्वभागः) -व्यास, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९९५
- मत्स्यपुराणम्-व्यास, नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, १९८३
- महाभारतसर्वस्वम्-कुबेरनाथ शुक्लः, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९९६

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

भागवते स्मरणभक्त्या जीवस्य मुक्तेः अवधारणा

तरणीकुमारपण्डा*

मुख्यशब्दाः (Key Word): *उपोद्घातः-मुक्तेः संज्ञा- का भवति स्मरणभक्ति?-विषयवासनापरित्यागः-गुणानुचिन्तनम्-इन्द्रियसंयमनम्-हृदयासने स्थापनम्-ध्यानम्-पादपद्म-चिन्तनम्-स्मरणभक्त्या जीवस्य मुक्तिः- उपसंहारः।*

उपोद्घातः

भारतीयसंस्कृतेः महामूल्यं रत्नं भवति पुराणशास्त्रम्। अभिजात-आर्यचैतन्यस्य उत्समुखात् पुराणस्य कथासरितं प्रवाहितं भवति। यथा वैददिकधर्मस्य स्वरूपं ज्ञातुं वेदस्यास्ति अपेक्षा तथा धर्मशास्त्रस्य आवश्यकता विद्यते तथैव भारतस्यास्यातीतज्ञानाय अत्युपयोगिनां पुराणानां पर्यालोचनम् अनविार्यं वर्तते। वस्तुतस्तु भारतीयसंस्कृतेः भव्यं रुपम् अस्मिन् साहित्ये चतुरस्रतया प्रफुल्लतां गतम् अवलोक्यते। अष्टादश पुराणेषु भागवतपुराणस्य एकं विशिष्टस्थानम् अस्ति। उच्यते- **विद्यावतां भागवते परीक्षा**। मोक्षप्रदायके, सर्वपापहरे अस्मिन् पुराणे जीवस्य परमकाम्ये मुक्तिविषये विविधसरलमार्गस्य वार्ता उद्घोष्यते। भारतीयजनतासु धाार्मिकविधानाय, सांस्कृतिककृत्याय, सामाजिकोपकाराय, आध्यात्मिकज्ञानाय च भागवतपुराणात् पर्याप्त प्रेरणा प्राप्यते। संसारारण्येऽस्मिन् बंभ्रम्यमाणानां जीवानां कृते भागवतपुराणम् अस्ति सरलः आलोकमार्गः। तर्हि सात्त्विकपुराणमिदं वैष्णवानां समीपे भवति जीवनदर्शनम्। परमत्त्वदृष्ट्या भागवतं तु अवश्यमेव मोक्षशास्त्रम्। का भवति मुक्तेः संज्ञा? उच्यते यदा जीवः भोगासक्तिसम्पन्नं जड़देहं त्यक्त्वा आत्मस्वरूपं जानाति तदा तस्य मुक्तिर्भवति। भागवतपुराणे उल्लिखितम् अस्ति-

''मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।''[१]

वस्तुतस्तु जीवः अविद्यावशात् कर्म करोति तदर्थं स पुनः पुनः जन्ममरणचक्रम् याति आयाति च। संसारपाशेन आबद्धः सन् जीवः बहुविधं दुःखं सहते। केवलं भागवतपुराणस्य निर्देशितमार्गेण तद्दुःखम् सुकरभावेन निराकृतं भवति अर्थात् जीवः मुक्तिभाक् भवति। तस्मात् अस्य पुराणस्य उपदेशः सर्वथा पालनीयः। अत्र यद्यपपि अवगाहन-सत्कर्म-स्मरण-भक्ति-सेवा-जप -भूमिदान-तड़ागनिर्माण-उद्यानस्थापन-अर्चनादिभिः जीवस्य मोक्षलाभविषयो वर्णितः भवति, तथापि सर्वेषु उपायेषु स्मरणभक्तिः उत्तमा। जीवस्य मोक्षलाभविषये स्मरणभक्त्याः भूमिकां रम्यालोचनं प्राप्यतेऽस्मिन् पुराणे । शोधसन्दर्भेऽस्मिन् स्वचिन्तनं मया उपस्थाप्यते ।

अपि च निरालम्वोपनिषदि कथ्यते-

''नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसमस्तसंङ्कल्पक्षयो मोक्षः।''

अर्थात् यदा वस्तुविचारेण नित्यं वस्तु निर्णितं भवति तदा अनित्यसंसारस्य समुदयसंकल्पस्य विनाशो भवति। सकलसंकल्पनाशात् जीवस्य मुक्तिर्भवति। पुराणे पञ्चविधाः मुक्तयः उल्लिखिताः सन्ति। ताः

* शोधच्छात्र, संस्कृत-पालि-प्राकृतविभागः, विश्वभारती शान्तिनिकेतनम्, पश्चिम बंगाल

खलु यथा– सालोक्यमुक्ति, सामीप्यमुक्तिः, सायुज्यमुक्तिः, सार्ष्टिमुक्तिः, सात्मतामुक्तिश्च। भागवतपुराणे एतादृश्यः मुक्तयः परिलक्ष्यन्ते।

का भवति स्मरणभक्तिः?

येन तेन प्रकारेण कोऽपि यदि तस्य चित्तं भगवता श्रीकृष्णेन सह नित्यसम्बन्धास्य चिन्तायां निबद्धं करोति, तर्हि तं स्मरणमुच्यते। नवधा–भक्तिषु स्मरणभक्तिः अन्यतमा। स्मरणविषये विष्णुपुराणे रम्यभावेन विवरणं प्राप्यते। तत्रोच्यते यत्, केवलं परमेश्वरं भगवन्तं स्मरणमात्रमेव जीवस्य सर्वविधाम् अभीष्टं सिध्यति। तस्मात् मुमुक्षुः तं अजं, नित्यं, शाश्वतं परमेश्वरं स्मर्तुमिच्छति। पद्मपुराणेऽपि स्मरणसम्बन्धो विशद–विवरणं प्राप्यते। तत्रोच्यते, साधकस्य परमेश्वरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य श्रीपादपद्मे नित्यं सश्रद्धं प्रणमेत्। यतः जीवदशायाम् उत मरणकाले यदि कोऽपि तं परमेश्वरं स्मरति, तर्हि स पुरुषोत्तमः मोक्षप्रदाता भगवान् तं जीवं सर्वविधपापेभ्यः उद्धरति। पुराणतिलके भागवते उच्यते–

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यास्यामित्यर्पितं मनः।।[२]

भगवति वासुदेवे सर्वकर्माणि, तस्य फलानि च समर्प्य जगति साधकः उत भगवद्भक्तः आत्मानं कृतार्थं मन्यते। वस्तुतस्तु कायेन मनसा वाचा च भगच्चिन्तनं करणीयम्। यः मानवः अनेन कर्माणुष्ठानमिदं सम्पादयति, स अवश्यमेव पूजार्हः भवति। अनेन ब्रजवासिगणः जगत्–संसारे पूजास्पदं कृतकृत्यञ्च भवितुमर्हति।

विषयवासना–परित्यागः

स्मरणभक्त्या जीवः मुक्तिभाक् भवति। ईश्वरे परिपूर्णरूपेण आत्मनिवेदनकाले आदौ विषयासक्तिं परित्यजेत्। यतः अस्माकम् इन्द्रियाणि अतीव लोलानि भवन्ति। तानि सदैव विषयाभिमुखे धाावन्ति। तेभ्यः विषयेभ्यः तानि संयमनस्य प्रयासः अतीव दुरुहविषयः। तस्मात् वाह्यविषयान् प्रति निःस्पृहः भवेत्। अधुना समस्या भवति यद् वाह्येन्द्रियाणि संयमनस्य प्रयासकृते सति अन्तरिन्द्रियं मनः परन्तु विषय–कसारसे सिक्तं भवितुमिच्छति।अस्यार्थं मनसः निग्रहस्य आवश्यकम्। मनसः निग्रहं शम इत्युच्यते। अतः बाह्येन्द्रियैः सह अन्तरिन्द्रियस्य संयमनं मुख्यं कर्तव्यम्। संक्षेपेण कथ्यते, यदा शमः दमश्च मिलित्वा संयमनं भवति, तदा साधकस्य विषयासक्तिं परिहारः सम्भवेत्। नोचेत् मिथ्याचारः सम्भवति। यस्तु विषय–वासनारश्मिं संयम्य मनोरथं नियन्त्रणं कर्तुं समर्थो भवति, तेन नियमपूर्वकं स्वयं श्रीभगवति आत्मानं नियुक्तं शक्यते। तदा स सत्यमेव योगिपदवीम् अलंकरोति। यं भगवद्भक्त–सनकादि–ऋषिगणः योगपदेन अभिहितं करोति। परमपुरुषेण भगवता श्रीकृष्णेन उच्यते–

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा।।[३]

गुणानुचिन्तनम्

अस्मिन् संसारे यः मानवः मनोमधुकरं भगवतः श्रीकृष्णस्य चरणारविन्दं पाययति अर्थात् भगवतः गुणान् नित्यं स्मरति, तस्य सर्वप्रायश्चित्तकार्यं परिसमाप्तं भवति। असौ मानवः स्वप्नेऽपि कदापि वा कृतान्तम् उत तस्य पाशधाारिणं दूतञ्च न पश्यति। भगवन्तं स्मृत्वा उद्दिष्टः मानवः इत्थं पूतचरितं भवितुमर्हति। शुकदेवेन उच्यते–

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
निर्वेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः।।[४]

इन्द्रियसंयमनम्

यः मानवः प्रगाढ़भक्तियुक्तः सन् एकाग्रचित्ते श्रीभगवतः ध्यानं करोति, तस्य वाणी कदापि मृषा न भवति। न केवलं तद् उद्दिष्टः मानवः संयतात्मा भवितुमर्हति। तस्य इन्द्रियाणि कदापि किमपि अपकर्मसु न लिप्यन्ते। ब्रह्मा नारदं प्रति उक्तवान्-

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।।
न मे हृषीकानि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः।।[५]

ज्ञानं (आत्मनं अनात्मनम् अन्तरा विवेकज्ञानम्) योगानुष्ठानं (अष्टाङ्गयोगं) स्वधर्मानुचारणं सम्यग् पालयित्वा जीवनं अन्तिमकाले भगवद्स्मरणोपयोगी कुर्यात्। इदमेव मनुष्यजीवनस्य श्रेष्ठं कर्तव्यम्। यतः अन्येषु जीवेषु मनुष्यः हि श्रेष्ठः। तस्मात् भगवद्स्मरणेन मनुष्य-जन्मनः सार्थकतां भवति इत्यत्र नास्ति संशयः। भागवते महामतिना शुकदेवेनोच्यते-

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः।।[६]

हृदयासने संस्थापनम्

प्रत्यासन्ने मरणे सतर्कताम् अवलम्बनं कुर्यात्। पूर्ण-शक्तौ मनसः सर्ववृत्तिभिःभगवन्तं श्रीकृष्णं हृद्-सिंहासने स्थापयेत्। एवं ध्यात्वा मुक्तिकामी परमगतिं प्राप्तुमर्हति। तस्माद् मुक्षुजनस्य भगवत्स्मरणं मुख्यकर्तव्यम्। यदि देहान्तकाले मुक्ते मनसि तद् स्मृतं भवेद् तर्हि स पुण्यात्मा उत्तमगतिम् अर्थात् मोक्षं प्राप्नोति। भागवते उच्यते-

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्।
म्रियमानो ह्यवहितस्ततो याति परां गतिम्।।[७]

ध्यानम्

येषां मरणम् आसन्नं, तेषां येन तेन प्रकारेण परमप्रेममयस्य श्रीभगवतः ध्यानकार्ये नियुक्तं भवेयुः। विश्वस्य परमं निधाान-परमात्मा-श्रीभगवतः ध्यानकार्ये नित्ययुक्ताः नराः आत्मस्वरूपे लीनं भवितुमर्हन्ति। तेषां श्रीभगवान् स्व-स्वरूपं प्रयच्छति। भावार्थोऽयं यद् ते ध्यातव्यस्य भगवतः भावं प्राप्नोति। भागवते श्रीशुकेनोच्यत-

म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंशयः।।[८]

पादपद्मचिन्तनम्

भगवतः श्रीकृष्णस्य पादपद्मस्य अविचलस्मरणं सर्वाणि पाप-तापानि अशुभानि च नित्यं दग्ध्वा परम-शान्तिं वितनोति। तेन अन्तःकरणस्य परिशुद्धिर्भवति, भगवद्प्राप्तिर्भवति च। तेन सह परावैराग्ययुक्तं

श्रीभगवतः स्वरूप-ज्ञानं अनुभवितुम् शक्यते। सूतेनोच्यते-

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणत्यभद्राणि शमं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्।।[९]

स्मरणभक्त्या जीवस्य मुक्तिः

भगवन्तं श्रीकृष्णं हृदि ध्यानकृते सति मनः शुद्धं भवति अर्थात् भगवान् पुरुषोत्तमः हृदासने अधिष्ठते सति यथा सम्यग् शुद्धिर्भवति, तथैव शुद्धिः न भवति विद्या-तपस्या-प्राणायाम-समत्वभाव-तीर्थस्नान-दानादिभिः। तस्मात् मुक्तिकामिनः श्रीभगवन्तं स्मरणं कर्तव्यम्। श्रीशुकः महाराजपरीक्षितं प्रति उक्तवान्-

विद्या तपः प्राणनिरोधमैत्री- तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते।।[१०]

यतः कलिकालस्य दोषस्य अन्त्यः नास्ति, सर्वाणि वस्तूनि दूषितानि भवन्ति, स्थानेषु स्थानेषु दोषस्य प्राधाान्यं भवति। सर्वविध-दोषाणां उत्स्यस्थलं भवति मनुष्यस्य अन्तरात्मा हि भवति। परन्तु यदा पुरुषोत्तमः भगवान् मनुष्यस्य हृदि तिष्ठति तदा तस्य सान्निध्यवशात् सर्वे दोषाः क्षणादेव विनश्यन्ति। भगवतः उपस्थितिकारणात् ध्यानकर्तुः द्रव्य-देश-चित्तेषु जात-दोषाः विनश्यन्ति। श्रीशुकेन उच्यते-

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्रमसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः।।[११]

यथा अग्निसंयोगात् स्वर्णस्य धाातुगतमालिन्यादिदोषाःविनश्यन्ति तथैव साधकस्य देहे यदा पुरुषोत्तमः भगवान् विराजते, तदा तस्य सान्निध्यात् सर्वे दोषाः अशुभसंस्काराः वा चिरं नश्यन्ति। ध्याता भगवत्स्मरणेन दोषमुक्तो भवति। तस्माद् हरिस्मरणं मुमुक्षुजनस्य परमं कर्तव्यम्। भागवते उल्लिखितमस्ति-

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुवर्णं हन्ति धाातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्।।[१२]

क्षमासुन्दरः हि भवति श्रीभगवान्। स पापि-तापिनश्च समत्वं पश्यति। स यथा मोक्षास्पदाय मोक्षं प्रयच्छति, तथैव ये मानवाः भगवन्तं प्रति विद्वेषं पोषयन्ति, तेभ्योऽपि स परमगतिं ददाति। वस्तुतस्तु धनवान्-निर्धनः, पापी- पुण्यवान् सर्वे एव तस्य अपत्यस्वरूपाः। तस्माद् सर्वे हि मोक्षस्पदा भवन्ति। भगवत्स्मरणं यथा गुणानुरक्तः सन् निविष्टो भवितुम् अर्हति तथैव विद्वेषकारणादपि मनः भगवच्चरणे निविष्टं भवितुमर्हति। यथा-कंस-शिशुपालादयःजीवाः विद्वेषभावं पोषयित्वाऽपि मोक्षस्पदाः भवन्ति। वैरितावशात् तेषां चित्तमपि सदैव भगवति श्रीकृष्णे निविष्टं भवति। तेऽपि भगवतः मुख्याः भक्ताः आसन्। तस्माद् रणक्षेत्रे ते गरुड्स्कन्धो सुदर्शनधाारिणः श्रीभगवतः नयनसुभगरूपं अपश्यन्। महामतिना उद्धवेन कथ्यते-

अहो वकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धाात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम।।
मन्यऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रमंसे सुनाभायुधमापतन्तम्।।[१३]

अतः निष्काम-महापुरुषगणः तत्त्वज्ञानलाभाद् अनन्तरमपि श्रीभगवन्तं भजते। भगवतः श्रीकृष्णं

अन्तरा मायायां कार्यम् उत तज्जात–पुत्रकलत्रादीन् प्रति पक्षपातित्वादि–लेशमात्रमपि नास्ति। तस्माद् यथार्थ–दीनवात्सल्यं केवलं तस्मिन् भगवति एव सम्भवः। श्रीभगवतः चरणारविन्दस्य निरन्तरम् अनुस्मरणं विना साधूनां अन्यद् किमपि मार्गं नास्ति। केवलं चरणविन्दस्य स्मरणं हि उत्तमं फलम्। महाराजेन पृथुनोच्यते–

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम्।
भवत् पदानुस्मरणादृते सतां निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे।।[१४]

दण्डार्हजनस्य अवश्यमेव दण्डनीयः। पापिनः पापं दण्डभोगेन स्खालनं भवति। परन्तु दण्डभोगकाले यदि तीर्यगादियोनिषु जायते, तर्हि तद् किमपि दोषस्य कारणं न भवति। यतः कर्मफलं सर्वेषां भोक्तव्यम्। जीवः अधमादिषु हीनयोनिषु जनित्वा भगवत्स्मृतिविनाशक–मोहजालेन आबद्धः भवति। तस्माद् हीनजातस्य दण्डभोगिनः सदा भगवत्स्मरणं कर्तव्यम्। भक्तश्रेष्ठः जयविजयः उक्तवान्–

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो यौ नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम्।
मा वोऽनुतापकलयाभगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधो।।[१५]

तस्मात् भगवन्तं निकषा सकरुणम् आवेदनं नित्यं कर्तव्यम्। संसारपाशेन आबद्धः भवत्यपि अस्माकं चित्तं सदैव यथा भगवच्चरणारविन्दे संलग्नं भवति, तथेव भगवत्स्मरणं करणीयम्। कदापि अस्मात् कर्तव्यात् मनुष्यः न विच्युतः भवति । कदापि वा अस्मिन् कर्मसम्पादने न औदासीन्यम् अवलम्बनीयम्। तेषां चित्तं सदैव भगवत्स्मृतिः आच्छादयति। मुमुक्षुजनस्य भगत्स्मरणं कर्तव्यम्। भागवते उच्यते–

तन्नःसमादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसतामिह।।[१६]

भगवति श्रीकृष्णे तद्गत–चित्त–यादवगणः शयनोपवेशन–परिभ्रमणालपन–क्रीड़नावगाहनादिकर्मसम्पादनकालेषु आत्मास्तित्वं न अनुभवति स्म। परमाराध्यःश्रीकृष्णः हि तेषां ध्यानं ज्ञानञ्च। यतः देहं भगवदधीनं तर्हि शरीरकृतानि कार्यानि स्वयं क्रियं यन्त्रवत् स्वयमेव कर्माणि सम्पादयति। यो भगवत्भक्तः तनु–मनः–प्राणांश्व श्रीभगवत् उद्दिश्यं समर्पयति, अपि च यः खलु नित्यं भगवच्चिन्तने निमग्नो भवति, तस्य लोकयात्रां किल भगवान् स्वयमेव सम्पादयति। कर्मसम्पादनविषये काञ्चित् सक्रियभूमिकां नास्त्येव शून्यहृदय–भगवद्भस्य। स्मरणभक्तिकारणात् भक्तस्य यदि ईदृशी अनुभूतिहीना अवस्था जायते, तर्हि तेषां दुःखानुभवस्य काऽपि आशङ्का न तिष्ठति अर्थात् कृष्णगतचित्तस्य भगवद्भक्तस्य कदापि दुःखं न सहते। भागवते श्रीशुकेनोच्यते–

शय्यासनाटनालापक्रीड़ास्नानादिकर्मसु।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः।।[१७]

यस्य भक्तस्य काऽपि आकाङ्क्षा नास्ति, यश्च इन्द्रियानि संयम्य शान्तः समदर्शी च भवति, यस्तु भगवत्स्मरणे तृप्तो भवति, स हि सर्वत्र आन्तिं प्राप्नोति। भावार्थोऽयं यद् भगवद्प्राप्तौ भगवतः "श्रीकृष्णस्य सान्निधयम् अनुभूय सदैव पूर्णं सन्तोषानुभवं लभते। भगवता श्रीकृष्णेनोच्यते–

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।।[१८]

यः आत्मचित्तं भगवति कृष्णे अर्पयति अर्थात् सदैव भगवन्तं स्मरति, स भगवन्तं परित्यज्य कदापि ब्रह्मपदम् इन्द्रपदं वा प्राप्तुं नेच्छति उत अखिल–विश्वस्य अधीश्वरपदं नेच्छति, स्वर्गतः उत्कृष्टं

पाताललोकस्य प्रभुत्वमपि न ईप्सति । अपि च स योगसिद्धिम् उत मोक्षमपि न आप्तुमिच्छति। वक्तव्यमिदं यद् भगवन्तं कृष्णं त्यक्त्वा अन्यद् किमपि वस्तु स न याचते। यतः स हि तेषां परमकाम्यः, परमस्तुत्यश्च। भगवत्स्मरणेन स भक्तः कृतार्थः भवति इत्यत्र नास्ति संशयः। भगवता श्रीकृष्णेन कथ्यते–

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।।[१९]

यः सर्वविधः आकाङ्क्षाशून्यःअर्थात् यस्य कस्यचित् कर्मणः उत तस्य फलेन प्रयोजनं नास्ति, यश्च स्वात्मःकरणं भगवति श्रीकृष्णे सर्वतोभावेन समर्पयति, स हि भगवतः परमान्दस्वरूपं ज्ञातुमर्हति। परन्तु विषयभोगिनः तादृशीं सुखानुभूतिं न आस्वादयति। तद् सुखं विषयसुखेभ्यः उत्कृष्टम्। वस्तुतसु संसारिणः नक्तन्दिवं विषयसुखेषु आसक्ताः सन्तः अपि तादृशं सुखं न लभन्ते। भगवान् श्रीकृष्णः प्रियशिष्यम् उद्धवं प्रति उक्तवान्–

मर्य्यर्पितात्मनःसभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्।।[२०]

शिशुपाल–पौण्ड्रक–शाल्वादयः नृपाः भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति वैरीभावापान्नाः आसन्। तथापि वैरितावशाद् ते नृपाः शरीकृष्णस्य गति–विलास–विलोकन–कथन–स्मरण–ध्यानादिकार्यानि स्मरन्ति स्म। स्मरणमिदं न नियमानुसारेण भवति, परन्तु शयन–उपवेशन–भ्रमणादिकार्यानि इव स्वाभाविकभावेन ते भगवन्तं स्मरन्ति। अनेनापि तेषां चित्तवृत्तयः श्रीकृष्णे द्रवीभूताः भवन्ति। ते सारूप्यमुक्तिं प्राप्नुवन्ति। ये च मानवाः प्रेमानुरागेन जगदीश्वरं श्रीकृष्णं स्मरन्ति मननं कुर्वन्ति च , ते निश्चितभावेन श्रीकृष्णं लभन्ते इत्यत्र नास्ति संशयः। देवर्षिणा नारदेन उच्यते–

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्तःआकृतधियःशयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्।।[२१]

महान् विचारसम्पन्नः दृढ़चेता मुनिगणः आत्ममनः–प्राण–इन्द्रियाणि वशीकर्तुम् अर्हति, हृदयम् अन्तरा भगवन्तं कृष्णम् उपासते। परन्तु आश्चर्यस्य विषयोऽयं यद् पदं मुनिगणः साधनेन अलंकरोति, तद् पदमपि विद्वेषी असुरगणोऽपि लभते। अवश्यं ते भिन्नमार्गेण भिन्नभावेन भगवन्तं स्मरन्ति। यथा व्रजरमणीगणः अज्ञातवशात् भगवतः मदनमोहनविग्रहस्य शेषनागरूपं स्पीतं लम्बितं सुकुमारं बाहुयुगलं प्रति कामभावं पोषयित्वा परमपदं प्राप्नोति। भगवतः श्रीपादपद्मस्य मकरन्दसुधां पीते सति भगवन्तं प्राप्यते। यदि भक्तः भगवन्तं सदैव एकात्मम् अनुभवति, तर्हि तस्य भगवल्लाभः सम्भवः, नोचेत् तद् वृथा आयासमात्रम्। यस्मात् भगवद्दृष्टौ उपासकस्य परिच्छिन्नभावस्य उत अपरिच्छिन्नभावस्य कोऽपि प्रभेदः नास्ति–

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयामपि ते समाः सदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः।।[२२]

भगवन्तं प्रति वेरित्वं प्रदर्श्यापि सर्वे नृपाःअन्तिमकाले श्रीकृष्णं स्मरणात् पूर्वकृत–पापेभ्यः मुक्ताः भवन्ति।

एणः पूर्वकृतं यत् तद् राजानः कृष्णवैरिणः।
जहुस्त्वन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा।।

यथा यथा भगवतो भक्त्या परमया भिदा।
नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः।।[२३]

दृष्टान्तरुपेण भागवते उल्लिख्यते यद् भक्ताः अनन्यभक्त्या भेदभावरहितः सन् भगवतः श्रीचरणं सेवित्वा तं प्राप्तुम् अर्हन्ति, तथैव शिशुपादयः नृपाः अनन्यचिन्तनेन भगवन्तं प्रति द्वेष्यभावं पालयित्वापि तं लभन्ते। यः मानवः विषयचिन्तने नित्यं आसक्तो भवति, तस्य चित्तं विषयरसेषु द्रवीभूतं भवति। अपि च यः मानवः भगवत्स्मरणे उत मनने रतो भवति, तस्य चित्तं भगवता सह एकात्मीभूत्तं भवति। वस्तुतस्तु जीवस्य चिन्तनं हि तं काङ्क्षित– वस्तुलाभे उपयोगी करोति। तस्मात् भगवति श्रीकृष्णे एकात्मलाभार्थं नूनमेव भगवत्स्मरणं नित्यं कर्तव्यम्। भगवता कृष्णेनोच्यते–

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विसज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।।[२४]

श्रीभगवतः पादपद्मस्मरणं सर्वस्मै परमशान्तिं मोक्षञ्च प्रयच्छति। येषां ज्ञानम् अनन्तम् अर्थात् ब्रह्मा–महेश्वरादयः देवाः प्रत्यहं तस्य श्रीचरणारविन्दस्य मधुरस्मृतिं दधाति। वस्तुतस्तु श्रीचरणमिदं हि संसारकूपात् पतित–जीवान् उद्धारार्थं सोपानमेकम्। तस्मात् सदैव श्रीचरणस्य स्मरणं मुमुक्षुजनस्य नित्यं करणीयम्। देवर्षिणा नारदेन कथ्यते–

दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधाबोधौः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्वं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात्।।[२५]

वस्तुतस्तु श्रीपादपद्मस्य नित्या स्मृतिः संसारसागरात् त्रायते। विविध–भोग्यपण्येषु आसक्तः वहुविधाकर्मेषु च नियुक्तः जीवगणः मुख्यम् उद्देश्यं विस्मृत्य कालं यापयति। भगवत्स्मरणार्थं अवसरः तेषां सकाशे नास्ति। यद्यपि तेषां समीपे पर्याप्तं कालमस्ति। केवलं भगवत्कृपया तेषां मतिः धर्मेऽस्ति। धर्मपरायस्य जीवस्य भगवत्स्मरणं नित्यं भवति। अन्ये जीवाः संसारभोगं चिन्तियित्वा वृथा कालं नश्यति। तर्हि साधकस्य भगवन्तं निकषा आवेदनमेकमस्ति यद् तस्य चित्तं यथा सदैव भगवत्स्मरणे नियुक्तो भवति। यतः भगवत्स्मरणेन जीवः मुक्तिभाक् भवति। अगाधबोधसम्पन्नः महायोगिगणः आत्महृद्कमले भगवतः श्रीकृष्णचरणारविन्दस्य ध्यानं नित्यं करोति। श्रीशुकेनोच्यते–

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगैश्वरैहृदि विचिन्त्यमगाधबोधौः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्वं
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः।।[२६]

श्रीपादपद्ममेव संसारकूपतितस्य मानवगणस्य उत्तरणस्य मूख्यसहायकमेकम्। सामान्य–लौकिककार्येषु नियुक्तः सन् यथा क्षणिककालमात्रमपि श्रीभगवत्स्मरणात् विच्युतं न भवेत्। न केवलं तद् भगवतः कृष्णस्य गोपिगणप्रदत्तम् अध्यात्मज्ञानोपदेशं पुनः पुनः स्मरणेनापि जीवकोषं लिङ्गशरीरं वा विनश्यति। नष्टशरीरं श्रीभगवता सह एकात्मीभूतो भवति। अनेन कर्मणा सुचिरंगवन्तं प्राप्यते। महामतिना शुकेनोच्यते–

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षतिः।

तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोषास्तमध्यगन्।।[२७]

तस्मात् जीवस्य अन्यसाधनचिन्तनम् उत तस्य फलचिन्तनं च परित्यजेत्। भगवन्तं कृष्णं विना जगति अन्यद् किमपि नास्ति। यद् किञ्च अस्ति तत्तु स्वप्नवत् अलीकमात्रमेव। तस्मात् भगवन्तने आत्मशुद्धात्। तत्तु सम्पूर्णरूपेण भगवति नियुक्ते सति मोक्षार्थी मोक्षलाभे समर्थो भवति इत्यत्र नास्ति संशयः। उच्यते भागवतपुराणे–

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनोद्भावभावितम्।।[२८]

उपसंहारः

परिशेषे उच्यते यत् वैष्णवानां समीपे साक्षात् जीवनदर्शनं हि भागवतपुराणम्। अस्य कथामृतेन सिक्तः सन् मुमुक्षुजनः स्वयमेव भगवन्तं प्राप्नोति। तस्मात् साक्षात् शब्दचैतन्यस्वरुपं भवति पुराणमिदं। ग्रन्थेऽस्मिन् योग–ज्ञान–सदाचार–व्रतानुष्ठान–जप–सत्सङ्गादिसाधनैः जीवस्य परमगुह्यमोक्षः वर्ण्यते। एतेषु उपायेषु भक्तिः हि श्रेष्ठा। केवलं भक्तिमाध्यमेन नराः परमपदं लभन्ते। नवधासु भक्तिषु स्मरणभक्तिः एकतमा। इह खलु संसारे धनी– निर्धनः, पापी–तापी, पुण्यात्मा ये केचन सन्ति, ते भगवत्स्मरणेन मुक्तिभाजः भवन्ति। अस्मिन् स्थले साधकस्य जाति–वर्ण–वयः–काल–अर्थादीनां प्राधान्यं न मुख्यम्। भगवतः नयनसुभगरूपस्य स्मरणं, तस्य चरणविन्दं हृदासने संस्थापनम्, तस्य लीलाविलास–स्मरणं उत तस्य अमृतमयं गुणमाहात्यस्य स्मरणं अनुक्षणं कर्तव्यम्। प्रेमानुरागचित्ते स्मरणकृते सति श्रीभगवान् प्रसन्नो भवति। प्रीतः सन् स भक्तिनिवेदनकारिणे मुक्तिं प्रयच्छति। अतः निर्मलचित्ते भगवत्स्मरणं मुक्तिकामिनः मुख्यं कर्तव्यम्। पुराणतिलक–भागवतपुराणस्य समग्रे इदं निर्मलं भक्तितत्त्वं आलोच्यते। भक्तितत्त्वस्य वाक्सुधां पीत्वा मुमुक्षुजनः आत्मानं धन्यं कुरुते। अपि च भवार्णवम् उत्तरितुं शक्यते इत्यत्र नास्ति संशयः।

पादटीकाः

१. भागवतपुराणम् २/१०/६
२. भागवतपुराणम् १०/४३/२३
३. भागवतपुराणम् ११/१३/१४
४. भागवतपुराणम् ६/१/१९
५. भागवतपुराणम् ६/२/३४
६. भागवतपुराणम् २/१/६
७. भागवतपुराणम् १२/३/४९
८. भागवतपुराणम् १२/३/५०
९. भागवतपुराणम् १२/१२/५४
१०. भागवतपुराणम् १२/३/४८
११. भागवतपुराणम् १२/३/४५
१२. भागवतपुराणम् १२/३/४७
१३. भागवतपुराणम् ३/२/२३, २४
१४. भागवतपुराणम् ४/२०/२९
१५. भागवतपुराणम् ३/५/३६
१६. भागवतपुराणम् १०/३/३५
१७. भागवतपुराणम् १०/९०/४६
१८. भागवतपुराणम् १०/१४/१३
१९. भागवतपुराणम् ११/१४/१४
२०. भागवतपुराणम् ११/१४/१२
२१. भागवतपुराणम् ११/५/४८
२२. भागवतपुराणम् १०/८७/२३
२३. भागवतपुराणम् ७/१०/३९, ४०
२४. भागवतपुराणम् ११/१४/२७
२५. भागवतपुराणम् १०/६९/१८
२६. भागवतपुराणम् १०/८२/४९
२७. भागवतपुराणम् १०/८२/४८
२८. भागवतपुराणम् ११/१४/२८

ग्रन्थसन्दर्भाः

- उपाध्याय, वलदेव, पुराणविमर्श, चौखाम्बा प्रकाशन, वाराणसी : १८९७ (तृतीय संस्करण), मुद्रित।

- वसु, गिरीन्द्रशेखर, पुराण प्रवेश, विवेकानन्द वुक सेन्टर, कलकाता, २.१२ मुद्रित।
- ब्रह्मपुराण, सम्पा. पञ्चानन तर्करत्न, नवभारत पब्लिशर्स, कलकाता १४२१, मुद्रित।
- शास्त्री, माधवाचार्य, पुराण दिग्दर्शन, माधवापुस्तकालय ,दिल्ली, १९५८ खाीष्टाब्द मुद्रित।
- श्रीमद्भागवत-महापुराण(प्रथम स्कन्ध-अष्टम स्कन्ध), गीता प्रेस, गोरखपुर, २.१५ ख्रीष्टाब्द (एकादश पुनर्म्रुद्रण), मुद्रित।
- श्रीमद्भागवत-महापुराण (नवम स्कन्ध-द्वादश स्कन्ध), गीता प्रेस, गोरखपुरः २.१४ खाीष्टाब्द (अष्टम पुनर्मुद्रण), मुद्रित।
- श्रीमद्भागवत (प्रथम स्कन्ध), अनु-गीता माइति, उद्बोधान कार्यालय, कलकाता, २.१३ खाीष्टाब्द (तृतीय पुनर्मुद्रण), मुद्रित।
- श्रीमद्भागवत (द्वितीय स्कन्ध), अनु-गीता माइति, उद्बोधान कार्यालय, कलकाता, २.१३ खाीष्टाब्द (द्वितीय पुनर्मुद्रण), मुद्रित।
- श्रीमद्भागवत (तृतीय स्कन्ध), अनु-सुमिता वसु, उद्बोधान कार्यालय, कलकाता, २.१२ खाीष्टाब्द (प्रथम पुनर्मुद्रण), मुद्रित।
- Battacharya, Srimohan and Battacharya , Dinesh Chandara, Bharatiya Darsana Kosa (Vedanta), Calcutta: (Kolkata), Sanskrit College , (Vol 3, Part 1, 1981) (Calcutta Sanskrit College Research Series No.121) (Vol.3 Part 2,1983) (Calcutta Sanskrit college Research Series No.124), print.
- Banerji, Sures Chandra, A Companion to Sanskrit Literature, MLBD, Delhi:1989(2nd Edition), print.
- Williams, M.Monier, A Dictionary English and Sanskrit, Motilal Baranarsidass Publishers Private Limited, Delhi : 2012 (Reprint), print.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

भागवत महापुराण में लीलानायक भगवान् श्रीकृष्ण

डॉ. विवेक शर्मा*

संस्कृत वाङमय में पुराणों का विशेष महत्त्व है। पौराणिक साहित्य हमारी धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्कृति का विश्वकोष है। महर्षि वेदव्यास विरचित अष्टादश पुराणों में ''श्रीमद्भागवत'' महापुराण माना जाता है। इस ग्रन्थ में द्वादश स्कन्ध हैं, तीन सौ पैंतीस अध्याय तथा अठारह हजार श्लोक हैं।

श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म सम्मितम्।
तदष्टादश साहस्त्रं कीर्तितं पापनाशनम्।।[१]

भागवत के प्रथम स्कन्ध से लेकर द्वादश स्कन्ध तक एक विहंगम दृष्टि डालने पर लीला नायक श्रीकृष्ण की प्रभा किरणें ही उद्दीप्त हैं। प्रथम स्कन्ध में भगवान् के अवतार गुण-माहात्म्य के स्वर गूंज रहे हैं, द्वितीय स्कन्ध में ध्यानविधि ध्वनित है, तृतीय में उद्धव द्वारा भगवान् की लीलाओं का मार्मिक वर्णन अद्भुत रूप से हृदयग्राही है, चतुर्थ में ध्रुव द्वारा भगवान् से वर प्राप्ति की सुप्रभावी कथा है, पंचम में संकर्षण देव की महिमा का प्रख्यापन है, षष्ठ स्कन्ध में अजामिल का उद्धार है। सप्तम में नृसिंह द्वारा प्रहलाद के संरक्षण का प्रभावयुक्त वर्णन है, अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्र द्वारा भगवान् की अतिसुन्दर स्तुति की गई है, नवम में श्रीराम के उदात्त चरित्र का निरूपण है। भागवत के हृदय स्वरूप दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण के लीला विलास का वैभव है। एकादश में भगवान् के विविध अवतारों के उज्ज्वल प्रसंग हैं और द्वादश में मार्कण्डेय को भगवान् ने अपनी महिमा का दर्शन कराया है।

श्रीमद्भागवत भगवत-तत्त्वज्ञान का प्रकाशक है। जैसे नदियों में गंगा, देवताओं में विष्णु, वैष्णवों में शंकर, सम्पूर्ण क्षेत्रों में काशी सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही पुराणों में श्रीमद्भागवत का स्थान सबसे ऊँचा है।[२] भारतवर्ष में जितने भी वैष्णव सम्प्रदाय प्रचलित हैं उन सभी में श्रीमद्भागवत का वेदों के समान आदर है। इसका एक-एक श्लोक मन्त्रवत् माना जाता है।

श्रीमद्भागवत की महिमा अपार है। यह ग्रन्थ ज्ञान विज्ञान से युक्त भक्ति एवं इसके अंगभूत साधन चतुष्टय को प्रकाशित करने वाला और माया मर्दनकारी है।[३] इस ग्रन्थ में भगवान् श्रीकृष्ण की रसमयी, ज्ञानमयी, सिद्धान्तमयी लीलाओं का विशद वर्णन प्राप्त होता है। भागवत समस्त उपनिषदों का सार है। श्रीकृष्ण प्रेमावतार हैं और भागवत है प्रेममयग्रन्थ।

कलियुग में दुःखी जीवों के उद्धार के लिए किये गये शौनकादि ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर हमें भागवत में ही मिलते हैं। कलिकाल को निकट आया जानकर जब उद्धव भक्तों के हित के लिए श्रीकृष्ण से विचार करने के लिए प्रार्थना करते हैं तब भगवान् ने अपनी सारी शक्ति भागवत में स्थापित कर दी तथा स्वयं अन्तर्धान होकर इस भागवत समुद्र में प्रवेश कर गये।

तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्।

---

* संस्कृत विभागाध्यक्ष, आर्मी पब्लिक स्कूल, अम्बाला कैंट, हरियाणा।

तेनेयं वाङ्मयीमूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।।[४]

प्रायः भागवत के सभी स्कन्धों में श्रीकृष्ण की लीलाओं के श्रवण का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। श्रीकृष्ण की लीलाश्रवण से परमान्द की प्राप्ति होती है इसी लिए शुकदेव कहते हैं –

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोत्तव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्।।[५]

अर्थात् अभय पद की इच्छा रखने वालों को श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। पुरातत्त्ववेत्ता ऐतिहासिक विद्वानों का कहना है कि जिस दिन भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने परमधाम को प्रयाण किया, उसी दिन, उसी समय कलियुग का प्रारम्भ हो गया।

कलियुग धर्म का निरूपण करने के बाद अन्त में श्री शुकदेव परीक्षित से कहते हैं –

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्।।[६]

अर्थात् कलियुग दोषों का कोष है तथापि इसमें एक बडा गुण भी है कि इस युग में कृष्ण संकीर्तन से ही सारी आसक्तियाँ दूर हो जाती हैं और परमात्मा की प्राप्ति होती है। भागवत में श्रीकृष्ण को लीलानायक के रूप में वर्णित किया है। भागवत के हृदय स्वरूप दशम स्कन्ध में केवल श्रीकृष्ण की लीलाओं का ही वर्णन है। इस स्कन्ध के ९० अध्यायों में श्रीकृष्ण चरित्र के विविधता पूर्ण प्रसंगों, उनके अवतार ग्रहण करने, उनके बाल्यकाल, रास क्रीडाओं, असुर संहार, कंस–वध, शिक्षार्जन तथा राजनीति आदि अनेक पक्षों का विस्तृत एवं मार्मिक चित्रण प्राप्त होता है। भगवान् की लीला अमोध है। वे लीला से ही इस विश्व का सृजन पालन और संहार करते हैं, किन्तु इसमें आसक्त नहीं होते हैं।

श्रीकृष्ण का स्वरूप

कृष् धातु से नक् प्रत्यय करने पर कृष्ण शब्द बनता है इसका अर्थ है जो अपने गुणों से सभी को अपनी ओर आकर्षित कर ले वह कृष्ण है। अथवा **कर्षति अरीन् इति कृष्णः** अर्थात् जो शत्रुओं, दुष्टों का संहार करता है वह कृष्ण हैं।[७] भागवत में श्रीकृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के अनेक रूप मिलते हैं।

भगवान्

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण भगवान् के रूप में वर्णित हैं। भगवान् आनन्द रूप हैं। उसमें स्वरूप शक्ति का पूर्णतम विकास है। ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य की कृष्ण में पूर्ण अभिव्यक्ति है– **एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।**[८]

सर्वावतारी श्रीकृष्ण

भागवत में क्रिया और ज्ञान दोनों से युक्त अवतारी हरि का निरूपण किया है। सर्वावतारी श्रीकृष्ण में अवतार ग्रहण करने में उनकी 'इच्छा शक्ति' ही प्रेरक है। कभी–कभी वह भक्तों की इच्छानुसार भी रूप धारण करते हैं। जीवों के कल्याण की भावना ही उनके अवतार का कारण है। जैसे अगाध सरोवर से हजारों छोटे–छोटे नाले निकलते हैं वैसे ही सत्त्व निधि भगवान् श्रीहरि के असंख्य अवतार होते हैं।

अवताराः ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरयः स्युः सहस्रशः।।[९]

पृथ्वी का भार उतारने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए १९वें और २०वें अवतारों में यदुवंश में बलराम और श्रीकृष्ण के नाम से अवतार ग्रहण किया।

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी।

रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्।।[१०]

दिव्य एवं सर्वशक्तिमान्

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण दिव्य एवं सर्वशक्तिमान् के रूप में वर्णित हैं। वे आनन्द रूप हैं। उनमें स्वरूप शक्ति का पूर्णतम विकास है। ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य की कृष्ण में पूर्ण अभिव्यक्ति है ये परमैश्वर्य-युक्त निखिल ब्रह्माण्डनायक अघटित घटना-पटीयान् भगवान् के रूप में ही चित्रित किये गए हैं। वे वाणी के परम वर्णनीय विषय माने गए हैं। जो वाणी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन नहीं करती वह वायसतीर्थ के समान उपेक्षणीय तथा निन्दनीय है।

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कला सर्वे हरेरेव सप्रजा पतयस्तथा।।
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे।।[११]

श्रीकृष्ण का नाम रूप, गुण और लीला यह सब कुछ शक्ति का ही परिचय है। शक्ति भोग्या है, कृष्ण भोक्ता हैं। शक्ति अधीन होती है कृष्ण स्वाधीन हैं। वे शक्ति के अध्यक्ष हैं अतः सर्वशक्तिमान् सिद्ध होते हैं।

अनुपम-सौन्दर्यशाली

श्रीकृष्ण का रूप माधुर्य अद्भुत है, उनका वर्ण अंगविन्यास, पीताम्बर, सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। ऐसा मधुरिम सौन्दर्य किसी अन्य में नहीं है। भीष्म पितामह श्रीकृष्ण की शारीरिक शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं –

त्रिभुवनकमनं तमाल वर्णं रविकर गौरवाम्बरं दधाने।
वपुरलककुला वृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या।।
ललितगतिविलास बल्गुहास-प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः।।[१२]

अर्थात् इनका शरीर त्रिभुवन-सुन्दर तथा तमाल के समान साँवला है, जिस पर सूर्य-किरणों के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहरा रहा है और कमल-सदृश मुख पर घुंघराली अलकें लटकती रहती हैं, उन अर्जुन-सखा श्रीकृष्ण में मेरी निष्कपट प्रीति हो। जिनकी लटकीली सुन्दर चाल, हाव-भाव युक्त सुन्दर चेष्टा में, मधुर मुस्कान और स्नेह-भरी चितवन से अत्यन्त सम्मानित गोपियाँ रासलीला में उनके अन्तर्धान होने पर प्रेमोन्माद से मतवाली होकर जिसकी लीलाओं का अनुकरण कर तन्मय हो गई थी, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण में मेरा परम प्रेम हो।

भगवान् का वक्षःस्थल मूर्तिमान् सौन्दर्य-लक्ष्मी का निवास स्थान है। उनका मुखारविन्द नेत्रों के द्वारा पान करने के लिए सौन्दर्य सुधा से भरा हुआ पात्र है। उनकी भुजाएँ लोक-लोकपालों को भी शक्ति देने वाली हैं। उनके चरण-कमल भक्त परमहंसो के आश्रय हैं। उनके अंग-अंग शोभा के धाम हैं। उनकी इस छवि को द्वारकावासी नित्य निरन्तर निहारते रहते हैं, फिर भी उनकी आँखें एक क्षण के लिए भी तृप्त नहीं होती हैं।

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम्।
नैव तृत्यन्ति हि दृशः श्रियोधामाङ्गमच्युतम्।।
श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।

बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम्।।[१३]

भगवान् ने अपनी योगमाया का प्रभाव दिखाने के लिए मानव लीलाओं के योग्य जो दिव्य श्रीविग्रह प्रकट किया था, वह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था, वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। उस समय रूप में सौभाग्य और सुन्दरता की पराकाष्ठा थी। उससे आभूषण भी विभूषित हो जाते थे।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणाङ्गम्।।[१४]

धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब भगवान् के उस सुन्दर रूप पर लोगों की दृष्टि पड़ी थी, तब त्रिलोकी ने यही माना था कि मानव सृष्टि की रचना में विधाता की जितनी चतुराई है, सब इसी रूप में पूरी हो गई है।

यद्धर्भसूनोर्बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कात्स्न्येन चाद्येह गतं विधातुरर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत।।[१५]

उनके प्रेमपूर्ण हास्य-विनोद और लीलामय-चितवन से सम्मानित होने पर व्रजबालाओं की आँखे उन्हीं की ओर लग जाती थी और उनका चित्त भी ऐसा तल्लीन हो जाता था कि वे घर के कामधन्धों को अधूरा ही छोड़ कर जड़पुत्तलियों की भाँति खड़ी रह जाती थीं।

यस्यानुरागप्लुतहासरासलीलावलोकप्रतिलब्धमानाः।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः।।[१६]

श्रीकृष्ण का गुण वैशिष्ट्य

श्रीकृष्ण गुणनिधान हैं, ज्ञान विज्ञान एवं नीतियों के आधार हैं, वे दुष्टों का दमन करने वाले हैं सज्जनों के मित्र हैं। योगेश्वर, सिद्धान्तप्रिय, तत्त्वदर्शी, सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण में रसिकत्व और करुणत्व ये दो तत्त्व विशेषरूप से प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे रसस्वरूप तथा रसिक शिरोमणि हैं। रसास्वादन के लिए ही श्रीकृष्ण नर लीला करते हैं तथा भक्तों को रागात्मिका भक्ति प्रदान करते हैं। उनका कथन है– मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तों का हृदय मैं स्वयं हूं।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वह्यम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।।[१७]

अपने स्वरूप से ही सबका कल्याण करना श्रीकृष्ण का करुणत्व है। कुब्जा पर करुणा, फल विक्रयिणी पर कृपा, व्रजवासियों पर करुणा की लीलाएँ भागवत में वर्णित हैं।

सर्वथा अलौकिक होते हुए भी श्रीकृष्ण के चरित्र में नायकत्व, वीरता, समदर्शिता, सेवाभाव, आदर्श कर्मयोगी, रणनीतिज्ञ इत्यादि मानवीय गुण भी विद्यमान हैं।

परोपकार-परायणता

उग्रसेन को जब सिंहासन पर बिठाया जाने लगा, तो उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा कि आपने अपने पराक्रम से कंस को मारा है, अतः आप ही राज्य के अधिकारी हैं। तब श्रीकृष्ण कहने लगे– हे नरेश्वर! मुझे राज्य से कोई प्रयोजन नहीं है। न तो मैं राज्य का अभिलाषी हूँ और न ही राज्य के लोभ से मैंने कंस को मारा है। मैंने लोकहित के लिए और दुष्टों के दमन की अपनी सनातन प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए भाई बलराम के साथ मिलकर आपके पुत्र कंस को मार गिराया है, जो इस कुल का विकृत (सड़ा हुआ) अंग था।

न हि राज्येन मे कार्यं नाप्यहं नृप काङ्क्षितः।

न चापि राज्यलुब्धेन मया कंसो निपातितः।।
किंतु लोकहितार्थाय कीर्त्यर्थं च सुतस्तव।
व्यंगभूतः कुलस्यास्य सानुजो विनिपातितः।।[१८]

कर्मयोगी

भगवान् कृष्ण परम्पराओं के स्थान पर विवेकपूर्वक कार्य करने की ही प्रेरणा सबको देते रहते थे। नन्दबाबा सहित गोपगण अपने बचाए हुए धन का व्यय इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए पूजा समारोह में कर देते थे। श्रीकृष्ण को यह अपव्यय अच्छा नहीं लगा, साथ ही उन्होंने देखा की लोग कर्म सिद्धान्त को भूल कर दूसरों की कृपा से सुखी रहने की भ्रान्त धारणा के शिकार होते जा रहे हैं।

जब श्रीकृष्ण ने इस अपव्यय को रोकने तथा धन को उपयोगी कार्यों में खर्च करने की सलाह दी तो नन्द बाबा ने इन्द्र के क्रोध का भय दिखाया और कहा कि इन्द्र ही हमें सुख दुःख देते हैं, पूजा न होने से वे नाराज हो जाएँगे तो अनिष्ट होगा। इस पर श्रीकृष्ण ने समझाते हुए कहा– पिताजी ! प्राणी अपने कर्म के अनुसार ही पैदा होता है और कर्म से ही मर जाता है। उसे उसके कर्म के अनुसार ही सुख–दुःख, भय और मंगल के निमित्तों की प्राप्ति होती है।

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते।।[१९]

श्रीकृष्ण के इस प्रकार समझाने पर नन्द बाबा तथा गोपगण कर्म का सिद्धान्त समझ गए। उन्हें विश्वास हो गया कि मनुष्य का हित–अहित उसी के द्वारा किये कर्मों से होता है।

श्रीकृष्ण की लीलाएँ

यह लीला क्या है लीला किसे कहते हैं इस विषय में सभी भागवत् आचार्यों ने लीला का सामान्य अर्थ क्रीडा अथवा खेल प्रतिपादित किया है। लीला शब्द लीङ् श्लेषणे धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर और 'ला आदाने' इस धातु से क प्रत्यय तथा टापादि करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है– खेल, क्रीडा, आनन्द, विनोद, स्वेच्छाचारिता, सुविधा, बालक्रीडा, आभास एवं हाव–भाव आदि।

सांसारिक लोगों की लीलाएँ वास्तविक लीलाएँ नहीं हैं। केवल भगवान् की लीला ही वास्तविक है। उन्हीं की दिव्य लीला का ही प्रदर्शन विश्व की सम्पूर्ण लीलाओं में हो रहा है। श्रीकृष्ण की एक–एक लीला मनुष्यों के लिए मंगलकारी एवं कानों के लिए अमृत स्वरूप है। जो व्यक्ति एक बार कृष्ण लीला का पान कर लेता है उसे दूसरी वस्तु की इच्छा ही नहीं रहती है –

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परम्मङ्गलम्।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः।।[२०]

भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाएँ अनन्त हैं; परन्तु प्रमुख रूप से उनकी लीलाओं का विभाजन तीन प्रकार से किया गया है – व्रज लीला, मथुरा लीला और द्वारका लीला। भगवान् के सब अवतार लीला से परिपूर्ण होते हैं। कृष्ण जन्मलीला तथा बाललीलाएँ सभी को आश्चर्यचकित कर देती हैं। बाललीलाओं में नवनीतचौर्यलीला, मृद्भक्षणलीला, झूलालीला, कालियदमन लीला, चीरहरण लीला आदि प्रसिद्ध हैं। असुरवध लीलाओं में पूतनावध लीला, तृणावर्तवध लीला, शकटवध लीला, कुवलयपीडवध लीला, मल्लवध लीला, कंसवध लीला आदि प्रमुख हैं। व्यवहार लीलाओं में रुक्मणीपाणिग्रहण, कुरुक्षेत्रगमन, गुरुतनय–समानयन इत्यादि व्यवहार लीलाओं का भी भागवत में वर्णन मिलता है। चतुःषष्ठीकलावैशारद्य, चतुर्भुजत्वप्रकटन, ब्रह्ममोहन आदि अध्यात्म लीलाएँ भी श्रीमद्भागवत में मिलती हैं। इस ग्रन्थ में

भगवल्लीलाएँ दशविध मानी गई हैं, जो इस प्रकार हैं– १. सर्ग २. विसर्ग ३. स्थान ४. पोषण ५. ऊति ६. मन्वन्तर ७. शानुकथा ८. निरोध ९. मुक्ति १०. आश्रय।[२१] भगवान् की इन्हीं शाश्वत् लीलाओं के अनुसार विश्व का खेल चलता है।

श्रीकृष्ण का लीलानायकत्व

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण आद्योपान्त क्रियाशील दिखायी देते हैं, इसीलिए वही नायकत्व के अधिकारी हैं। भागवत के बारह स्कन्धों में समस्त कथासूत्र इन्हीं से इंगित होकर संचालित होता हुआ सा प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण अपने क्रियाकलापों से, बुद्धिबल से, शारीरिक पराक्रम से तथा वाग्वैचित्र्य से श्रीमद्भागवत के समस्त पात्रों को प्रभावित करने से भागवत ग्रन्थ के नायक हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवत के बारह स्कन्धों में ही नहीं अपितु अध्यायों में भी गवेषणात्मक दृष्टिकोण से समाविष्ट दृष्टि गोचर होते हैं। लीला के जिस अंश अथवा विभाग में जिस प्रकार के नायक की आवश्यकता होती है, श्रीकृष्ण उसी प्रकार के नायक के रूप में अनुभूत होते हैं। श्रीमद्भागवत के हृदय स्वरूप दसवें स्कन्ध के सम्पूर्ण ९० अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण के रसमय, ज्ञानमय, सिद्धान्तमय उदात्त चरित्र को चित्रित किया गया है। अतः श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवत महापुराण में लीलानायक के रूप में वर्णित हैं।

सन्दर्भ-सूची

१. नारद पुराण ९६.१.२
२. भागवत १२.१३.१६
३. भागवतमहात्म्य ४.५
४. पद्मपुराण उत्तरखण्ड ३.६१
५. भागवत २.१.५
६. भागवत १२.३.५१
७. अमरकोष, पृ. ५५
८. भागवत १.३.२८
९. भागवत १.३.२६
१०. भागवत १.३.२३
११. भागवत १.३.२७–२८
१२. भागवत १.९.३३,४०
१३. भागवत १.११.२५–२६
१४. भागवत ३.२.१२
१५. भागवत ३.२.१३
१६. भागवत ३.३.१४
१७. भागवत ९.४.६८
१८. हरिवंशपुराणम् ३२.४८–४९
१९. भागवत १०.२४.१३
२०. श्रीमद्भागवत ११.६.४४
२१. भागवत २.१०.१

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- अमरकोष, शास्त्री, हरगोविन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सम्वत् १९६८
- नारदपुराण, वियोगी, डॉ. लीलाधर, सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली–६, प्र. सं. १९९७
- पद्मपुराण, खेमराज, श्री कृष्णदास, नाग प्रकाशन, ११/ए. यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली–७, सन् १९८४
- पुराण–विमर्श, उपाध्याय, आचार्य बलदेव, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९७८
- कल्याण भगवल्लीला–अंक, कल्याण–कार्यालय, पत्रालय, गीता प्रेस गोरखपुर, सन् १९९८
- भागवत पुराण परिचय, वियोगी, डॉ. लीलाधर, सूर्य भारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली–६, प्र. सं. १९९७
- संस्कृत–हिन्दी–कोश, आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली सम्वत् १९८४
- श्रीमद्भागवतपुराण, शर्मा, श्रीराम, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६८

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

काव्यप्रकाश में प्रस्तुत 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्ववलीयस्त्वम्' की समीक्षा

डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र*

व्यञ्जना शब्द की सिद्धि 'वि' उपसर्ग पूर्वक '**अञ्ज प्रकाशने**' धातु से '**ल्युट्**' प्रत्यय करने पर होती है। जिसका शाब्दिक अर्थ है- विशेष प्रकार का अञ्जन। काव्यशास्त्रीय शब्दों में इसका अर्थ **है**- विशेषार्थ की अभिव्यक्ति। अतः जब अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या आदि से अप्रकाशित प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति कराने वाली वृत्ति व्यञ्जना है। शब्द एवं अर्थ की वह शक्ति जो अभिधा, लक्षणा आदि शक्तियों द्वारा अपने अर्थ देकर विरत हो जाने पर जब एक प्रतीयमानार्थ (व्यङ्ग्यार्थ) रूप विलक्षण अर्थ की प्रतीति कराती है उस वृत्ति या व्यापार को व्यञ्जना कहते हैं।[१] जब शब्द, बुद्धि और कर्म अपना-अपना व्यापार कर लेते हैं, तो उससे कोई दूसरा व्यापार नहीं हो सकता है[२] यह सामान्य नियम है, अतः इस नियम के अनुसार अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या शक्ति जब अपने सामर्थ्य के अनुसार जब अपना कार्य कर देती है तो वाच्य, लक्ष्य एवं तात्पर्य से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिए किसी एक नये व्यापार की आवश्यकता होती है, उस व्यापार को व्यञ्जना व्यापार कहते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार उस शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति के लिए जब लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है, केवल उस लाक्षणिक शब्द के द्वारा गम्य प्रयोजनरूपी फल के विषय में व्यञ्जना व्यापार के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

मम्मट ने व्यञ्जना विवेचन के प्रसङ्ग में मीमांसकों के मत को उपस्थापित करके खण्डन-मण्डन का समन्वय करते हुए व्यञ्जना की स्थापना की है।

मीमांसादर्शन के अनुसार 'अपौरुषेय वाक्य को वेद कहते हैं।'[३] वेद के पाँच भाग हैं-विधि, मन्त्र, निषेध, नामधेय और अर्थवाद। इन पाँच भागों में, अज्ञात अर्थ के बोधक वेदभाग को विधि कहा जाता है। विधि प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का विधान करती है। विधि के चार भेद हैं-उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि और प्रयोगविधि। इनमें से अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधक विधि को विनियोग विधि कहा जाता है।[४] जिस विधि से अङ्ग (गुण) एवं अङ्गी (प्रधान) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, उसे विनियोग विधि कहते हैं। यह विधि अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान कराती है। यथा-'**दध्ना जुहोति**' यह विधिवाक्य 'दध्ना' इस तृतीयान्त श्रुति से ज्ञापित 'दधि' रूप अङ्ग का 'अग्निहोत्र' रूप प्रधान (अङ्गी) के साथ सम्बन्ध का विधान करता है। विनियोग विधि षड् प्रमाणों के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव का बोध कराती है। विनियोग विधि के बोधक षड् प्रमाण हैं-**श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या।**[५]

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस-बस्ती।

(i) श्रुति—मीमांसा दर्शन के अनुसार 'प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले शब्द को श्रुति कहते हैं।'[६] लिङ्ग एवं वाक्यादि प्रमाण अङ्गभाव के बोधन में सहकारी अवश्य होते हैं किन्तु स्वतन्त्र रूप से नहीं। उन्हें अपने पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा रखते हुए अन्त में 'श्रुति' की अपेक्षा होती है।[७] जिस प्रमाण को लिङ्गवाक्यादि की तरह अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् जिसका स्वतः प्रामाण्य है, वह प्रामाण्य 'श्रुति' कहलाता है। शेषशेषिभाव सम्बन्ध का बोध कराने वाली श्रुति तीन प्रकार की होती है– **विधात्री, अभिधात्री एवं विनियोक्त्री।**

(ii) लिङ्ग-शब्दसामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं।[८] प्रत्येक शब्द कुछ न कुछ अर्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है, यही शब्दसामर्थ्य लिङ्ग कहलाता है। प्रत्येक शब्द अपने में निहित सामर्थ्य के द्वारा ही अर्थ को व्यक्त करता है। तन्त्रवार्तिककार कुमारिल का भी अभिमत है—**सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते।**' यथा–'**बर्हिर्देवसदनं दामि**' यह मन्त्र कुशछेदन क्रिया का अङ्ग है उलप आदि तृणों के छेदन का नहीं, क्योंकि 'बर्हिर्दामि' इस लिठ प्रमाण से उक्त मन्त्र में कुशछेदन के प्रकाशन का ही सामर्थ्य है। लिङ्गप्रमाण वाक्यादि प्रमाणों से प्रबल होता है।

(iii) वाक्य-समभिव्याहार अर्थात् सहोच्चारण को वाक्य कहते हैं।[९] साध्यत्वादि वाचक द्वितीयादि विभक्तियों का अभाव होने पर भी अङ्ग एवं अङ्गी का बोध कराने वाले पदों के सहोच्चारण को ही 'वाक्य' कहा जाता है। यथा–'**यस्य पर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति**' इस वाक्य में पर्णता और जुहू का एक साथ उच्चारण है, अतः 'पर्णता' जुहू का अङ्ग है। इस सहोच्चारण से ही यह ज्ञात होता है कि इसमें पर्णता अङ्ग या शेष है और जुहू अङ्गी या शेषी। अतः यहाँ द्वितीयादि विभक्तियों के न होने पर भी केवल पर्णता और जुहू के समभिव्याहार से ही पर्णता जुहू का अङ्ग है, यह निश्चित हो जाता है।[१०]

(iv) प्रकरण-दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं।[११] अनेक वाक्यों के परस्पर सम्मिलन से निर्मित वाक्यैकवाक्यता में परस्पर आकांक्षा होती है। जिस प्रकार एक वाक्य में प्रयुक्त अलग–अलग पदों को अपना शाब्दबोध पूर्ण करने के लिए अन्य पदों की आकांक्षा होती है, उसी प्रकार प्रकरण के अलग–अलग वाक्यों को भी अपना वाक्यार्थ पूर्ण करने के लिए अन्य वाक्यों की आकांक्षा होती है। अतः एक वाक्य को अपेक्षित अन्य वाक्य की आकांक्षा ही उभयाकांक्षा होती है। इसी परस्पराकांक्षा को प्रकरण कहा जाता है। यथा–'**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्**' इस वाक्य का बोध होने पर '**कथं भावयेत्**' इत्याकारक साधन की आकांक्षा होती है। इस प्रकार उभयाकांक्षा रूप प्रकरण से प्रयाजादि दर्शपूर्णमास याग के अङ्ग होते हैं। प्रकरण द्विविध होता है–महाप्रकरण एवं अवान्तरप्रकरण।[१२]

(v) स्थान-देश की समानता को 'स्थान' प्रमाण कहते हैं।[१३] समानदेशत्व – दो या दो से अधिक का समान देश अर्थात् एक ही स्थान होना ही 'देशसामान्य' है। जहाँ अनेक वाक्य एक ही स्थान पर एक दूसरे के सान्निध्य में पठित होते हैं, उनमें समानदेशत्व रूप धर्म के कारण 'स्थान' नामक प्रमाण उत्पन्न होता है। स्थान प्रमाण द्विविध है–**पाठसादेश्य एवं अनुष्ठानसादेश्य।** पाठसादेश्य पुनः द्विविध होता है– यथासंख्यपाठ एवं सन्निधिपाठ। 'स्थान' को क्रम भी कहा जाता है। यह स्थान प्रमाण समाख्या संज्ञक प्रमाण से बलवान् होता है।[१४] इसी बलवत्ता के कारण शुन्धन मन्त्र पाठसादेश्य प्रमाण से 'सान्नाभ्य' का अङ्ग होता है, जबकि '**पौरोडाशिकम्**' इस समाख्या से 'पुरोडाश पात्र' का अङ्ग नहीं होता है।

(vi) समाख्या-यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं।[१५] शब्द के घटक अवयवों द्वारा व्यक्त अर्थ जिस शब्द का अर्थ होता है, वही यौगिक शब्द होता है। यथा 'पाचक' इस शब्द का अर्थ इसके घटकों

'पच् धातु' + अक् प्रत्यय के अर्थ से द्योतित होता है, अतः 'पाचक' एक यौगिक शब्द है। तात्पर्य यह है कि जिस शब्द से केवल अवयवार्थ का ही बोध हो उसे यौगिक शब्द कहा जाता है। समाख्या दो प्रकार की होती है-वैदिक समाख्या एवं लौकिक समाख्या। **'होतृचमसः'** इस वैदिकी समाख्या से होता चमसभक्षणरूप क्रिया का अङ्ग होता है। **'आध्वर्यवं'** इस लौकिक समाख्या से **'अध्वर्यु'** तत्तत् क्रियाओं का अठ समझा जाता है।

इन श्रुत्यादि षट्प्रमाणों में पूर्व-पूर्ववर्ती प्रमाण अपने उत्तरवर्त्ती प्रमाण की अपेक्षा सबल होता है।[१६] इस नियम से श्रुति प्रमाण सर्वाधिक बलवान् एवं समाख्या सर्वाधिक दुर्बल प्रमाण है। इस प्रकार समाख्या की अपेक्षा स्थान, स्थान की अपेक्षा प्रकरण, प्रकरण की अपेक्षा वाक्य, वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग और लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति प्रमाण अधिक प्रबल है। शेष और शेषी का अङ्ग-प्रधानभाव प्रदर्शित कर प्रधान में अङ्ग का विनियोग करने वाली 'श्रुति' जहाँ प्रत्यक्ष होती है, वहाँ अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं होती है। लौगाक्षिभास्कर का अभिमत है-

'सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोऽस्ति किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्दः कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्।''[१७]

मम्मट का तर्क है कि मीमांसक यदि शब्द का केवल अभिधा व्यापार ही स्वीकार करते हैं तो उनके प्रसिद्ध सिद्धान्त 'श्रुति, लिङ्गादि प्रमाणों में पूर्व-पूर्व उत्तर उत्तर की अपेक्षा बलवान होता है, व्यभिचरित हो जाता है। यदि शब्दोच्चारण के पश्चात् समस्त अर्थोपस्थिति में एकमात्र अभिधा व्यापार ही माना जाए तो ऐसी दशा में उन अर्थों में पौर्वापर्य हो सकता है और न ही एक ही अपेक्षा दूसरा बलवान् कहा जा सकता है। केवल दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार स्वीकार करने पर स्वयं मीमांसकों के सिद्धान्त में विरोध उपस्थित होता है, अतएव व्यञ्जनावृत्ति मानना अनिवार्य है। बालबोधिनीकार का कथन है-

''भगवता जैमिनिना ''श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'' इति सूत्रेण यथाक्रममुक्तानां श्रुत्यादीनामेकत्रोपनिपाते परपरस्य विलम्बेनार्थोपस्थापकतया दुर्बलत्वमभिदधता पूर्वपूर्वस्य श्रुत्यादेः प्राबल्यं निरणायि। यदि शब्दश्रुतेरनन्तरोपस्थितान् सर्वानेव प्रत्ययान् प्रति अभिधैव व्यापारः स्यात्, तदा श्रुत्युपस्थापितार्थस्येव लिङ्गाद्यनुगृहीतार्थानामप्यभिधेयतया सर्वेषां समकालमर्थोपस्थापकत्वप्रसक्तया अर्थविप्रकर्षाभिधानं मुनेरनुचितं स्यादितीति विवरणादौ स्पष्टम्।''[१८]

सन्दर्भ-सूची

१. साहित्यदर्पण २.१२, १३

२. शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात् ।
शब्दबुद्धिकर्माणि हि विरम्य व्यापारं न कुर्वन्यतीन्यर्थः।
काव्यप्रकाश, माणिकचन्द्र कृत सङ्केत टीका, पृ. १८

३. 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः।' अर्थसङ्गह, पृ. ५८

४. 'अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः।' अर्थसङ्गह, पृ. 82

५. एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणानि। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याङ्गपाणि। एतस्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तिकृतिसाध्यत्वह्नपं पारार्थ्यापरपर्य्यायं ज्ञाप्यते। अर्थसङ्गह,

पृ. ९०

६. निरपेक्षो रवः श्रुतिः।' अर्थसङ्ग्रह, पृ. ९३

७. तेषां हि श्रुत्यादिकल्पनापुरस्सरमेवाऽठत्वबोधकत्वम्।' तन्त्रसिद्धान्तरहस्य, उद्धृत अर्थसंग्रह पृ. ९३

८. शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्' अर्थसङ्ग्रह, पृ. १२१

९. समभिव्याहारो वाक्यम्।' अर्थसङ्ग्रह, पृ. १२८

१०. अत्र हि न द्वितीयादि विभक्तिः श्रूयते, केवलं पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारमात्रम् तस्म्देव च पर्णतायाः जुरूङ्गत्वम्। आपदेवी, उद्धृत अर्थसंग्रह, पृ. १२९

११. 'उभयाकांक्षा प्रकरणम्।' अर्थसंग्रह, पृ. १४१

१२. तच्च प्रकरणं द्विविधम्। महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति। तत्र मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। अङ्गभावनासम्बन्धि प्रकरणं अवान्तरप्रकरणम्। अर्थसंग्रह, पृ. १४४, १४७

१३. देशसामान्यं स्थानम्। अर्थसंग्रह, पृ. १५९

१४. तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अर्थसंग्रह, पृ. १७५

१५. 'समाख्या यौगिकः शब्दः।' अर्थसंग्रह, पृ. १७८

१६. 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।' मीमांसासूत्र ३.३.७

१७. अर्थसंग्रह, पृ. ११४

१८. का०प्र० (बा०बो०) पं. उ. पृ. २३०

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

नागार्जुन के स्त्री पात्रों का समकालीन परिवेश और यथार्थ

डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल*

जनकवि के रूप में प्रसिद्ध नागार्जुन की उपन्यासकार के रूप में भी अलग पहचान है। हिन्दी में भारतीय जन–जीवन की सही समझ और उसकी अभिव्यक्ति सर्वप्रथम प्रेमचंद के कथा–साहित्य में मिलती है। नागार्जुन का कथा–साहित्य उसी का विकसित रूप है। नागार्जुन का उपन्यास–लेखन भारत की आजादी के बाद हुआ इसलिए उनके उपन्यासों में 'स्त्री' अपनी 'पारम्परिक' एवं 'आधुनिक' दोनों भंगिमाओं में पूरी गरिमा और असाधारण साधारणता के साथ उपस्थित है। उनके उपन्यासों में स्त्री–विमर्श की सैद्धांतिक प्रखरता या वाद-विवाद नहीं है, परन्तु स्त्री के प्रति उनकी दृष्टि कहीं भी अवैज्ञानिक या पिछड़ी हुई नहीं है। उनके उपन्यासों का परिवेश मिथिलांचल से सम्बन्धित है। समाजवादी चेतना ही उनके स्त्री–पात्रों की विशेषता है। ''नागार्जुन के साहित्य में, खासकर उपन्यासों में स्त्री–पात्रों का एक विशाल संसार है। यह स्त्रियाँ युगों से सताई गई शोषित और पीड़ित स्त्रियाँ हैं। ये स्वाधीनता की आकांक्षा में संघर्षरत स्त्रियाँ हैं। सामाजिक वर्जनाओं के जाल में उलझी ये स्त्रियाँ रूढ़ मान्यताओं के विरुद्ध खड़ी होती हैं और अन्ततः इन समस्याओं की जड़ विवाह–संस्था पर प्रश्न–चिह्न लगाती हैं।''[१]

नागार्जुन के उपन्यास के स्त्री–पात्रों में गौरी, बिसेसरी, उगनी, माधुरी, निर्मला, पारो, फेकनी, इंदिरा, माया, प्रतिभामा, चंपा जैसे दर्जनों स्त्री पात्र हैं, जो अपने परिवेश और परिधि को लांघती हुई आधुनिक नारी–चेतना को विकसित करती हैं। संक्षेप में इनमें से कुछ प्रमुख नारी पात्रों का परिचय इस प्रकार है –

गौरी– गौरी नागार्जुन का पहला हिन्दी उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' की प्रमुख नारी पात्र है। रतिनाथ की चाची भी वही है। वह अत्यन्त सुंदरी परन्तु दरिद्र है। उसका ब्याह वैद्यनाथ झा नामक एक रोगी एवं बूढ़े व्यक्ति से होता है। बेटा उमानाथ और बेटी प्रतिभामा को जन्म देकर व विधवा हो जाती है। उसका देवर जयनाथ विधुर एवं लंपट किस्म का व्यक्ति है। गौरी की इच्छा के विरुद्ध वह उसे गर्भवती बना देता है और गाँव छोड़कर भाग जाता है। गौरी की माँ उसका गर्भपात कराती है। पुत्र उमानाथ को जब अपनी माँ के कृत्य का पता चलता है तो वह अपनी माँ से नफरत करने लगता है। रतिनाथ जयनाथ का बेटा है। गौरी के लिए रतिनाथ ही जीने का सहारा बनता है। व्रती, संयमी, आत्मनिर्भर चाची अपना जीवन तपस्विनी की तरह बिताती है। बेटा उमानाथ उसका इतना तिरस्कार करता है कि उसके अंतिम दर्शन करने भी नहीं आता है। गौरी भारतीय विधवा–वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी है। मिथिलांचल में ब्राह्मणों में प्रचलित 'बिकौआ–प्रथा' के कारण विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय एवं नारकीय होती थी। गौरी उसी 'बिकौआ–प्रथा' की बलि हो गई। एक तो अनमेल विवाह का आधार दूसरा वैधव्य का। विधवाओं के साथ रात के अंधेरे में जोर जबरदस्ती की जाती थी और पंचायत में उन्हीं के माथे कलंक का टीका लगा दिया जाता था। ''प्रताड़ना और असुरक्षा की चरम स्थिति में हिंसक होना जीवमात्र का गुण है, पर स्त्रियाँ न शिक्षित थीं न संगठित। वह सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से पूर्णरूपेण पुरुषों पर निर्भर थीं।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर, पश्चिम मेदिनीपुर, पश्चिम बंगाल

इसके बावजूद वह हिम्मत नहीं हारती।''[२]

गौरी भी हिम्मत नहीं हारती है। यह हिम्मत उसे अपनी माँ से विरासत में मिली थी। आठ माह का गर्भ गिराकर वह अपने मायके से ससुराल आ जाती है। समाज के ताने झेलकर, अपने बेटे द्वारा तिरस्कृत, प्रताड़ित होकर भी वह जीती है, आत्महत्या नहीं करती। उसका यह जुझारूपन स्त्री–जीवन के संघर्ष को दर्शाता है। गौरी का यह कथन हजारों वर्षों से स्त्रियों पर होने वाली दारुण और अमानवीय यातनाओं की कहानी कहता है– ''हे भगवान! अगले जन्म में भले ही मैं चुहिया होऊँ, भले ही नेवला, मगर चेतनामय इस मानव समाज में फिर कभी न पैदा होऊँ।''[३] श्रीधरम कहते हैं कि ''गौरी का यह कथन असल में स्त्री–पराधीनता की विद्रूपता की अभिव्यक्ति है। जहाँ दूर–दूर तक स्वाधीनता की परछाई भी नहीं दिखाई दे रही हो, वहाँ इस मनोवृत्ति का पनपना विद्रोह का ही परिचायक है।''[४]

गौरी की माँ– गौरी की माँ भी विधवा थी, परन्तु वह अत्यन्त साहसी एवं विद्रोहिणी थी। गाँव–समाज की परवाह नहीं कर वह बेटी का गर्भ गिराने का निर्णय लेती है और छाती ठोक कर कहती है– ''कोई क्या कर लेगा हमारा? बिटिया को मैं प्याज की तरह जमीन के अंदर दबाकर नहीं रख सकती, इसके चलते जो कुछ हो।''[५]

उस विषम परिस्थिति में गौरी की माँ टूटती नहीं है बल्कि शक्ति–संचय करती है और जहाँ सारा समाज, सारी सभ्यता और संस्कृति स्त्री के विरोध में खड़ी है। वहाँ गौरी की माँ उसका डटकर सामना करती है और कहती है– ''देखें कौन क्या बिगाड़ता है? मैं रुई का फाहा नहीं हूं कि लोग फूंक देंगे और उड़ जाऊंगी। मर्द हो तो सामने आकर कोई कहे।'' उपन्यासकार ने गौरी की मां को बाघिन की संज्ञा देते हुए कहा है– ''गौरी की माँ समाज के लिए बाघिन थी। इतना बड़ा कुकाण्ड हो जाने पर भी तारकुलवा में किसी ने गौरी की माँ को खुल्लम–खुल्ला कुछ कहा नहीं। गर्भ गिराने के ठीक ग्यारहवें दिन उसने सत्यनारायण की पूजा भी की। गाँव भर को आमन्त्रित किया। पाँच ही छह थे, जो नहीं आए।''

इस तरह ''गौरी की माँ के माध्यम से नागार्जुन इस बात पर जोर देते हैं कि स्वाधीन होने के लिए स्त्रियों को बाघिन बनना पड़ेगा। बाघिन ही बाघ से लड़ सकती है। स्वाधीनता हलकाने से नहीं मिलती, बल्कि झपटकर छीनी जाती है। गौरी की माँ अनपढ़–गंवार है पर गजब की हिम्मत और निडर है, वह स्त्री स्वाधीनता का प्रतीक बन कर सामने आती है।''[६]

पारो– पारो 'पारो' उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र है। वह भी विधवा है। वह भी 'बिकौआ–प्रथा' की शिकार बनी है। जब वह बारह–तेरह साल की थी तभी समझ गई थी कि किसी बूढ़े से ही वह ब्याही जाएगी। अपने भविष्य की बात सोचकर वह आतंकित रहती थी। वह सपने देखा करती थी कि उसी की उम्र के किसी लड़के से उसकी शादी हो। अपने ममेरे भाई बिरजू को अपना हमदर्द और अपनी उम्र का पाकर वह उससे कहती है– ''भाई–बहिन में ही यदि शादी होती तो कितना अच्छा होता। जहाँ–तहाँ के एक अनजान को जो लोग उठा लाते हैं, इसमें क्या अक्लमंदी है?''[७] पारो के इस स्वप्न में पूँजीवादी अमानवीय व्यवस्था के प्रति उसका आक्रोश प्रकट होता है। परन्तु उसका सपना सपना ही बनकर रह जाता है और उसकी शादी चालीस–पैतालिस वर्ष के एक अधेड़ से हो जाती है जो सुहागरात में उसे रुपए दिखाकर खुश करना चाहता है। इससे उसका आक्रोश विद्रोह के रूप में फूट पड़ता है। बिरजू भी उसकी मदद नहीं कर पाता है। उसे सारे पुरुष समाज से घृणा हो जाती है। गौरी की तरह वह भी पुनः औरत बनकर जन्म लेना नहीं चाहती वह कहती है– ''हे भगवान! लाख दण्ड दे, मगर फिर औरत बनाकर इस देश में जन्म नहीं दे।

छीया! पौतालिस वर्ष का नर पिशाच एक अबोध लड़की के सामने १० रूपये के नोटों का ढेर इसलिए लगावे कि......।" पारो उस बूढ़े को कभी भी मन से अपना पति स्वीकार नहीं करती है और अन्त तक अपने समय की समाजिक व्यवस्था से लड़ती है।

बिसेसरी- बिसेसरी 'नई पौध' की प्रमुख नारी पात्र है। उसकी उम्र जब १२-१३ साल थी तब वह भी पारो की तरह अपने ब्याह का स्वप्न देखती थी। वह सोचती थी कि "आने वाले अगहन में २० या २२ साल का दूल्हा उसके लिए मिल गया और शादी हो गई तो वह चाँदी की छोटी-सी बसुली गढ़वाएगी सुनार से और बांके बिहारी कुंवर-कन्हैया के हाथों में थमा देगी...।"[८] लेकिन उसका सपना भी सपना रह जाता है। उसका अपना नाना एक बूढ़े चतुरानन चौधरी के हाथों बिसेसरी को बेच देता है। अपने पिता पर आश्रित होने के कारण बिसेसरी की माँ रामेसरी भी उसकी कोई मदद नहीं कर पाती है, परन्तु गाँव की नई पीढ़ी उसकी मदद करती है और उसे पारो बनने से बचा लेती है।

दरअसल बिसेसरी कुछ पढ़ी-लिखी समझदार और बहादुर लड़की थी। वह गाँव के युवक-मंडल की नियमित सदस्या थी। वह गौरी बनना नहीं चाहती थी। वह थोड़ी शिक्षित एवं युवा थी और भविष्य के बारे में स्वयं निर्णय ले सकती थी। इस उपन्यास में नई पीढ़ी के युवक वाचस्पति झा को बिसेसरी के साथ विवाह करने के लिए तैयार करते हैं। अपनी सूझ-बूझ, धैर्य एवं साहस से बिसेसरी अपनी पसंद का जीवन साथी प्राप्त करती है और अपने भविष्य को अंधकारमय बनाने से बचा लेती है।

इस उपन्यास में नागार्जुन ने बिसेसरी को एक बहादुर लड़की के रूप में पेश किया है। बिसेसरी प्रगतिशील विचारों वाली नारी है। उसके अंदर सजग नारी-चेतना है। वह गौरी के व्यक्तित्व के विरुद्ध खड़ी एक युवा लड़की है, जो नारी के अपमान का बदला लेना चाहती है। वह आत्मविश्वासी एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाली नारी है। उसका व्यक्तित्व लड़कियों की नई पौध के लिए आशा की एक किरण बनकर उभरता है।

मधुरी - मधुरी 'वरुण के बेटे' उपन्यास की एक क्रांतिकारी पात्र है। वह भी बिसेसरी की तरह बहादुर लड़की है। वह मछुआ खुरखुनतीयर की बेटी है । गोंढ़ियारी गाँव के मछुआ लोगों का जीवन-संघर्ष इसमें चित्रित है। गोंढ़ियारी का गढ़पोखर वहाँ की मछुआ जाति के जीवन का आधार है। जमीदार चालबाजी करते हैं और सरकारी अधिकारी की सहायता से गढ़पोखर पर कब्जा करने का षड्यंत्र रचते हैं। इस अन्याय का मुकाबला करने के लिए मलाही गोंढ़ियारी के मछुआ संयुक्त मोर्चा बनाते हैं और मछुआ संघ की स्थापना करते हैं। मधुरी इसकी प्रमुख सदस्या है। गढ़पोखर पर कब्जा करने के लिए जमींदार सरकार की मदद लेते हैं। पुलिस आती है, तो मधुरी हँसते हुए गिरफ्तार होती है और उसके साथ सभी उपस्थित कार्यकर्ता भी स्वयं गिरफ्तारी देते हैं। माधुरी के नेतृत्व में 'इंकलाब जिंदाबाद' के नारे लगाए जाते हैं। मधुरी के चरित्र का एक और पक्ष भी है वह मंगल से प्रेम करती है। परिस्थितिवश मंगल और माधुरी का ब्याह अन्यत्र हो जाता है। मंगल को सुशील पत्नी मिलती है जबकि मधुरी को बौड़म पति मिलता है। लेकिन विवाह के बाद भी मधुरी एवं मंगल आपस में मिलते-जुलते रहते हैं। मधुरी मंगल को आखरी मुलाकात के लिए बुलाती है और कहती है- "देखो मंगल, अब हम छोकरा-छोकरी नहीं रहे धूल-मिट्टी के बचकाने खेल काफी खेल चुके। सयाने समझकर माँ-बाप और सास-ससुर ने तुम पर जो जिम्मेदारी सौंपी है, उससे जी चुराना कायरता होगी। तुम्हें अपनी घरवाली के प्रति वफादार होना है, मुझे अपने घरवाले के प्रति।" मधुरी के इस कथन में उसका विवेक, संयम और जीवन के यथार्थ का एहसास मिलता है।

इस उपन्यास में मधुरी के माध्यम से नागार्जुन स्त्री का सामाजिक दायित्व भी दिखाना चाहते हैं। वह उसे पारिवारिक बंधनों से मुक्त कर समाज का दायित्व सौंपकर उसके व्यक्तित्व का विकास चाहते हैं। मधुरी अपने भविष्य के बारे में सोचती है। उसे डरपोक बौड़म पति की याद आती है और वह निर्णय करती है– ''नहीं, अब वह कभी उस नशाखोर बूढ़े की लात–बात बर्दाश्त करने नहीं जाएगी..... फिर से शादी कर लेगी। किसी दिलेर–नेकचलन और मेहनतकश जवान से..... और बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिंदगी नहीं गुजार सकती क्या?'' मधुरी की यह सोच उसे विचारवान और साहसी नारी के रूप में उपस्थित करती है।

भुवन उर्फ भुवनेश्वरी उर्फ इंदिरा– भुवन उर्फ भुनेश्वरी उर्फ **इंदिरा** 'कुंभीपाक' उपन्यास की अत्यन्त जीवन्त नारी पात्र है। 'कुंभीपाक' उपन्यास में नागार्जुन ने महिला अनाथाश्रम की आड़ में देह–व्यापार का धंधा करने वाले समाज के सफेदपोशों की पोल खोली है। भुवन (भुवनेश्वरी) तथाकथित समाजसेवियों के चंगुल में फँस जाती है। अनाथाश्रम में आकर वह सोचती है, ''हम रकम बनाने की फैक्ट्री के कल पुर्जे हैं।''[९] परन्तु वह साहस से काम लेती है। पड़ोस में रहने वाले कंपाउंडर की पत्नी निर्मला के सहयोग से इस कुंभीपाक से निकल जाती है। वह अपने अतीत की भयंकर एवं त्रासद यादों को भूल जाना चाहती है इसलिए अपने नए नाम इंदिरा के साथ नया जीवन शुरू करती है।

भुवन उर्फ भुवनेश्वरी उर्फ इंदिरा के माध्यम से लेखक ने स्त्री के शोषण एवं संघर्ष का अत्यन्त सफलतापूर्वक चित्रण किया है।

निर्मला– निर्मला 'कुम्भीपाक' उपन्यास की अत्यन्त विचारवान नारी है। उसमें सिर्फ विचार करने की शक्ति नहीं बल्कि विचारों को कार्य रूप देने की हिम्मत एवं निर्भयता भी है। कुम्भीपाक में फँसी नारकीय जीवन जीने वाली इंदिरा को मुक्ति दिलाने का काम निर्मला ही करती है। भुनेश्वरी (इंदिरा) १५ साल की उम्र में ही विधवा हो जाती है। लेखक कहते हैं– ''इंदिरा का फिर वही हाल हुआ, घुटी हुई तबीयत के युवकों और आदर्शहीन अधेड़ों के बीच एक विधवा तरुणी का जो हाल होता है।''[१०] इंदिरा गर्भवती हो जाती है। एक रिश्तेदार उसे इलाज के बहाने शहर ले जाता है और एक धर्मशाला में छोड़ कर भाग जाता है। वहाँ से वह अनाथाश्रम में पहुँच जाती है जहाँ वेश्यावृत्ति का धंधा चलता है। परन्तु निर्मला अपनी सूझबूझ एवं हिम्मत के बल पर इंदिरा को उस कुम्भीपाक से मुक्त करती है। वह अपने भाई सदानंद को पत्र में इंदिरा की कहानी बताती हुई अन्त में लिखती है– ''लड़कियों और औरतों की खरीद–बिक्री जिनका धंधा था, ऐसे ही एक राक्षस के चंगुल से आपकी छोटी बहन इंदिरा को छुड़ा लाई है, झपट्टा मारकर चील की तरह छीन लाई है।''

इंदिरा की तरह चंदा के जीवन में भी परिवर्तन निर्मला के माध्यम से ही होता है। साहसी के साथ व बुद्धिमती भी है। शिक्षा के महत्त्व को वह जानती है। वह पढ़ना–लिखना चाहती है, पर उचित अवसर न मिलने के कारण पढ़–लिख नहीं सकी, इसका उसे दुःख है। इसलिए वह कहती है– ''मैं भी तो पढ़–लिख सकती थी। मैं भी तो भाभी की तरह लड़कियों के किसी इण्टर कॉलेज में प्रोफेसर हो सकती थी।''

इस तरह निर्मला 'कुम्भीपाक' उपन्यास में एक प्रगतिशील, स्वाभिमानी, बुद्धिमती एवं साहसी नारी के रूप में उपस्थित हुई है।

उगनी– उगनी 'उग्रतारा' उपन्यास की प्रमुख नारी चरित्र है। यह भी बाल–विधवा है। सुंदरपुर मढ़िया का ही एक विधुर युवक कामेश्वर उगनी से प्रेम करता है। उगनी कामेश्वर के साथ गाँव से भाग जाती है,

परन्तु पुलिस कामेश्वर को झूठे केस में फँसाकर गिरफ्तार कर लेता है। पुलिस के अनुसार कामेश्वर पाकिस्तानी नागरिक है, जो एक लड़की को बहलाकर पाकिस्तान ले जा रहा था। कामेश्वर को १० माह की सजा हो जाती है। जेल से छूटने के बाद उगनी जेल के एक सिपाही भभीकन सिंह का आश्रय लेती है। भभीकन उससे शादी करता है। वह धोखे से उगनी के साथ बलात्कार करता है। इसके बावजूद वह भभीकन सिंह को स्वीकार नहीं करती। गर्भवती होने के बावजूद कामेश्वर के जेल से छूटने पर उसके साथ चली जाती है एवं उससे प्रेम-विवाह करती है। बहुत विपत्तियों को झेलकर वह अपने प्रेम में सफल होती है।

इस उपन्यास में उगनी साहस, शक्ति और धैर्य की मूर्ति के रूप में उपस्थित होती है। अपनी इच्छानुसार सही ढंग से जीवन जीने के लिए वह बहुत संघर्ष करती है। वह आशावादी है और परिवर्तन में विश्वास कर रखती है। "विधवा हो जाने पर परम्परा के अनुसार समाज की अन्यायकारी नीतियों का पालन करते हुए आत्म, क्लेश सहते हुए घुट-घुटकर जीवन बिताना उगनी को मंजूर नहीं। एक स्वतन्त्र व्यक्ति के नाते मानवीय ढंग से जीने का हक वह खुद प्राप्त कर लेती है। उसने न तो वैधव्य का जीवन स्वीकार किया है और न ही अनमेल ब्याह को मंजूर किया। उसने बलात्कार की भी परवाह न की। अपने प्रियतम से विवाह करके जिंदगी को क्रांतिकारी मोड़ देकर ही उसने दम लिया।"[११]

इस तरह उगनी एक विद्रोही तेवर की नारी है। वह समाज द्वारा निर्मित स्त्री नैतिकता के मानदण्डों को नकारती है और कामेश्वर के साथ सुखमय जीवन बिताती है।

इमरितिया- इमरितिया 'जमनिया के बाबा' उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र है। वह जमानिया के बाबा के मठ की दासी है। जमनिया के बाबा अपनी दासियों का यौन-शोषण करता है। इमरितिया अपवाद नहीं है। बाबा की कृपा से उसके पास धन-दौलत की कोई कमी नहीं है। परन्तु वह बाबा की पालतू है। उसे मठ के सारे पुरुष ललचाई दृष्टि से देखते हैं। इमरितिया को मठ नरक के समान लगता है। वह इस नरक से मुक्त होना चाहती है। वह साधु मस्तराम से प्रेम करती है और उसी के साथ घर बसाना चाहती है, लेकिन मठ का बाबा उसे पालतू बनाकर रखना चाहता है। उसे अपना जीवन उस भिखारिन की तरह लगता है जिसका अपना कुछ नहीं होता और जो दूसरों का दिया हुआ खाती है। परन्तु निराशा के इस भँवर में ही वह तय करती है कि वह जमनिया के बाबा के मठ में कभी नही जाएगी। इस तरह इमरितिया में भी स्वाधीन होकर जीवन-यापन करने की आकांक्षा दिखलाई पड़ती है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि नागार्जुन के स्त्री पात्रों में विविधता है। उनके उपन्यासों में कहीं नारी के वैधव्य जीवन का चित्रण है, तो कहीं प्रगतिशील विचारों वाली नई पीढ़ी की लड़कियों का, तो कहीं अनमेल विवाह की शिकार महिलाओं का और कहीं बाल-विधवा के दु:ख-भरे जीवन की कथा का। इनके अलावा स्त्री-जीवन के तरह-तरह के दु:खों की कथा भी इनके उपन्यासों में है। लेकिन सबसे बड़ी बात है कि नागार्जुन के स्त्री-पात्र अपने त्रासद जीवन को नियति मानकर कष्ट झेलते नहीं रहती हैं। "नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्रियाँ कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपनी स्वाधीनता की आकांक्षा को बचाकर रखती हैं। ये स्त्रियाँ वर्षों से चली आ रही पुरुषवादी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध खड़ी होती हैं और अपनी स्वाधीनता के मार्ग का अन्वेषण करती हैं। नागार्जुन के स्त्री-पात्र पुरुषवादी समाज के "है अमानिशा का गगन घन अंधकार" में केवल जलती मशाल की तरह हैं।"[१२]

सन्दर्भ-सूची

१. स्त्री स्वाधीनता का प्रश्न और नागार्जुन के उपन्यास, श्रीधरम, पृ. ६१

२. वही, पृ. ६२

३. रतिनाथ की चाची, नागार्जुन, पृ. १३३

४. स्त्री स्वाधीनता का प्रश्न और नागार्जुन के उपन्यास, श्रीधरम, पृ. ६४

५. रतिनाथ की चाची, नागार्जुन रचनावली, खण्ड – ४, पृष्ठ २९

६. स्त्री स्वाधीनता का प्रश्न और नागार्जुन के उपन्यास, श्रीधरम, पृ. ६३

७. पारो, नागार्जुन रचनावली, खण्ड – ४, पृष्ठ ५३४

८. न पौध, नागार्जुन रचनावली, खण्ड – ४, पृ. ३१०

९. कुंभीपाक, नागार्जुन रचनावली, खण्ड – ५, पृ. १३५

१०. कुंभीपाक, वही, पृ. १६२

११. नागार्जुन का उपन्यास साहित्य : समसामयिक सन्दर्भ, सुरेंद्र कुमार यादव, पृ. १६३

१२. स्त्री स्वाधीनता का प्रश्न और नागार्जुन के उपन्यास, श्रीधरम, पृ. ७०

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

महिला सशक्तीकरण और महिला उपन्यासकार

मनीषा पाण्डेय*

विश्व में किसी भी देश और समाज की स्थिति का आकलन वहाँ की स्त्रियों की स्थिति से किया जा सकता है। हमारे देश में महिलाओं को विकास की मूलधारा में सम्मिलित करके, उन्हें सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, प्रशासनिक एवं राजनीतिक दृष्टि से सशक्त बनने की मांग कई दशकों से निरंतर चल रही है और महिलाएं इन क्षेत्रों में आगे बढ़ भी रही है, जो कि उनकी सजगता का द्योतक है, किन्तु इसका प्रतिशत बहुत कम है। समय की रफ्तार से उनकी चाल धीमी है। महिला सशक्तीकरण एक वैश्विक विषय है जो कि सामाजिक न्याय, समानता एवं एकीकृत सामाजिक विकास के दर्शन पर आधारित है। महिला सशक्तीकरण से अभिप्राय महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक मनोवैज्ञानिक एवं राजनीतिक स्तर पर आत्मनिर्भर कर सशक्त करना है।

सशक्तीकरण से आशय केवल शक्ति या बल का अधिग्रहण नहीं है वरन् यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से महिलाओं में इतनी जागरूकता उत्पन्न की जा सके, कि वे स्वावलम्बी बनकर सामाजिक, आर्थिक आदि अपने विकास के संसाधनों पर नियंत्रण प्राप्त कर सके। सशक्तीकरण की प्रक्रिया में समाज को पारंपरिक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के प्रति जागरुक किया जाता है, जिसने महिलाओं की स्थिति को सदैव कमतर माना है। वैश्विक स्तर पर नारीवादी आंदोलनों और 'यूएनडीपी' आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने महिलाओं के सशक्तीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ''महिला सशक्तीकरण भौतिक आध्यात्मिक, शारीरिक या मानसिक सभी स्तरों पर महिलाओं में आत्मविश्वास पैदा कर उन्हें सशक्त बनाने की प्रक्रिया है। सशक्तीकरण का अर्थ ही है कि जो अशक्त हो उसे शक्तिसम्पन्न (मजबूत) करने की क्रिया या भाव।[१] 'स' उपसर्ग अपने आप में ही इतना मजबूत अर्थ प्रदान कर देता है शक्ति को, कि वह 'शक्ति' से 'सशक्त' बन जाता है।

साहित्य, समाज को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर उसे संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्त करने का माध्यम है। जिसमें समाज का हित भी निहित है। सृष्टि के प्रारम्भ से यह बात स्पष्ट है कि स्त्री अत्यधिक संवेदनशील होती है। जब वही स्त्री संवेदना से युक्त अपने भावों को साहित्य के रूप में पिरोती है तो वह समाज में अधिक ग्राह्य हो जाता है। संवेदना से संवेदना का सहज संवेदनात्मक जुड़ाव हो जाता है। ऐसे अनुभव ज्यादा प्रमाणिक होते हैं। समाज की संवेदना को गहरे स्तर पर झकझोरते हैं, स्त्रियाँ ये कहती हैं कि ''हम भी समाज की महत्त्वपूर्ण धुरी हैं। मैं समाज निर्माण की वह भूमि हूँ जिसमें प्रजनन क्षमता है, जहां बीज बोया जाता है।'' स्त्री के मूलभूत गुणों से पुरुष सशंकित रहा इसलिए सुरक्षा के नाम पर पाबंदियाँ थोपने लगा और मानसिक दबाव बनाना शुरू कर दिया। जो संवेदनशीलता उनका हथियार था, उसी पर पुरुष ने प्रहार कर स्त्री के मन पर चोट किया। सदियों से शिथिल पड़े इस आन्दोलन ने बीसवीं सदी में जोर

* शोधछात्रा, महिला अध्ययन संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

पकड़ा और अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए स्त्री ने पुनः अपनी उसी संवेदना को हथियार बनाया, साहित्य जगत इसका प्रमाण है। "बीसवीं सदी के मुक्ति-संघर्षों में स्त्री का मुक्ति-संघर्ष शायद सबसे अधिक मूलगामी और सार्वभौमिक रहा है। सबसे अधिक अहिंसक, रक्तहीन और सत्याग्रही भी। इस संघर्ष की व्यापकता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि 'यह जितना अधिक बाहरी स्तर पर संघटित और घटित हुआ है, उतना ही आन्तरिक स्तर पर भी, एक साथ आत्मसंघर्ष भी रहा है। आत्मबोध, आत्मान्वेषण और आत्माभिव्यक्ति का संघर्ष भी।"[२] साहित्य में इस विमर्श को जन्म देने और उसे अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य अनेक स्त्री रचनाकारों ने सम्पन्न किया, इनमें से प्रमुख है– महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, शिवानी मन्नू भंडारी, मृणाल पांडे, नासिरा शर्मा, ममता कालिया, प्रभा खेतान, मंजूल भगत, उषा प्रियवंदा, राजी सेठ, अनामिका इत्यादि।

स्त्री लेखिकाओं का साहित्य दोहरे स्तर पर घटित होता है, एक आत्मिक स्तर पर जिनमें इनका जीवन-संघर्ष और उससे लड़ने की कहानी है तो दूसरे स्तर पर उन स्त्रियों की गाथा है, जिनको इनकी संवेदना ने देखा, समझा और परखकर उसे साहित्य में उतार दिया। डॉ. रामदरश मिश्र का यह कथन साहित्यिक संवेदना की सही व्याख्या है "साहित्य का मूल संबंध मानव की संवेदना से है। बिना संवेदना के साहित्य नहीं बनता, चाहे उसमें बुद्धिवाद का कितना ही उहापोह क्यों न हो, दर्शन की नई-नई भंगिमा क्यों न हो, बुद्धि, दर्शन, चिंतन, ज्ञान-विज्ञान सबको पहले जीवन में आत्मसात् होना पड़ता है, आत्मसात होकर मानव संवेदना का अंग बनना पड़ता है, तभी शक्तिशाली साहित्य की सृष्टि होती है। यह संवेदना कोई गढ़ी हुई मूर्ति नहीं होती। समय का तात्कालिक दबाव इसे हर युग में नया आकार-प्रकार देता है।"[३] स्त्री विमर्श के इस चिन्तन में भावनात्मक अभिव्यक्ति 'कविता', विचारशील अभिव्यक्ति 'कहानी', कल्पना से युक्त अभिव्यक्ति 'उपन्यास' और विश्लेषण करने के लिए 'निबन्ध' विधा को आधार बनाया गया।

स्वामी दयानंद सरस्वती का जगप्रसिद्ध सुवचन कि–'सर्वप्रथम स्त्री जाति को सुशिक्षित बनाओ फिर वे स्वयं कहेगी कि उन्हें किन सुधारों की आवश्यकता है।' स्वामी जी का यह कथन अक्षरशः आज सत्य साबित हो रहा है, बल्कि स्त्रियाँ इससे एक कदम आगे ही निकल गयी है। अब वे अपनी आवश्यकता नहीं कह रहीं बल्कि उसे पूरा कर रही है, स्वयं के विवेक और कर-कमलों द्वारा। लेखने के माध्यम से सम्पूर्ण समाज को नई चेतना और उर्जा से भर रही है। खुद को सशक्त कर दूसरों को सशक्त करने की ओर अग्रसर है। अब वो स्वयं नहीं बोल रही है बल्कि उनका काम बोल रहा है। पुरुष जो उनके मार्ग का एक समय रोड़ा बना हुआ था आज वही सहयोगी बनकर उन्हें प्रोत्साहित कर रहा है। इसका प्रमाण तो यही है कि स्त्री आज नवजात को जन्म देकर घर की चार दिवारी में ही सिमट कर नहीं रह रही, बल्कि अपने आँचल के दूध को बहने से न रोककर अपने ममत्व को अपना स्वाभिमान बनाकर कर्म क्षेत्र में उतर रही है। लोग क्या सोचेंगे या क्या कहेंगे इसकी परवाह करना अब स्त्री ने छोड़ दिया है। अब वह समझ गई है कि उसका जीवन सबसे पहले सिर्फ उसी का है और उसी के लिए है। जब वह स्वयं को पहले सशक्त कर पायेगी तभी दूसरों को भी। शिक्षा के द्वारा स्त्री स्वतंत्र और सशक्त हो रही है; लेकिन अभी भी, अपने ही खोल से वफादारी और पारम्परिक स्त्रीत्व की कैद से बाहर निकलना बाकी है। उस दिन की प्रतीक्षा है जब स्त्री साहित्य, स्त्रीत्व और स्वतंत्रता के साथ चलकर समाज की तीसरी आँख को खोल देगी। आगाज तो हो चुका है अंजाम की परवाह इनको नहीं है। अब तो पुरुष उसके लिए बिना किसी संकोच के 'पैडमैन' तक बन रहा है। जंग तो अब दूसरों से ज्यादा स्वयं के साथ प्रारम्भ हो गया है। स्त्री की कामना है कि–

जंग के बाद भी खामोश नहीं बैठूँगी
फिर से लड़ूँगी
सरहद लाघूँगी
फिर से माटी, पानी, सूर्य, हवा से
कहूँगी लौटा दो
मेरी हिम्मत मेरा सामर्थ्य।
नहीं तो लोग सोचेंगे
मैं हार गयी, खत्म हो गयी।

– *ओड़िया कवयित्री सुचेता मिश्रा, कविता 'अपनी हिम्मत'*

जिन्दगी के विष रूपी कठिनाईयों के बीच गीत बनकर गुंजायमान होना ही नारी का यथार्थ जीवन-सत्य है। महिला रचनाकारों ने नारी मन को बड़ी तटस्थ दृष्टि से देखा-परखा विवेचित किया है। अतः नारी सशक्तीकरण और उसके कटु अनुभवों पर आधारित यथार्थ को गुनने के लिए उपन्यास से बेहतर विकल्प साहित्य की अन्य विधा में नहीं है। यह संयोग नहीं है कि स्त्री का कथा साहित्य जब से मिलता है तब से ही उपन्यास विधा का श्रीगणेश होता है। स्त्रियों ने उपन्यास विधा को नयी कथा-शैली और नयी भाषा दी है। स्त्री ने अपना कार्य क्षेत्र बदला, घर और गृहस्थी से निकलकर कल्पना और यथार्थ के संयोजन के माध्यम से उपन्यास के धरातल पर अपने चरण टिका दिये। स्त्री उपन्यास का शुरुवाती दौर इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक अधिक रहा, फिर नये नजरिये एवं नयी भावाभिव्यक्ति को उपन्यास साहित्य में जगह मिली। समय के चाक पर स्त्री की अभिव्यक्ति और अनुभव बदलते और निखरते चले गये। महिला उपन्यासकारों ने उपन्यास में किन समस्याओं पर अपनी नजर डाली है, इसे एक नजर में देखना जरूरी है– 'स्त्री की अवस्था एवं विभिन्न रूप, पारिवारिक सम्बन्ध, प्रेम, राष्ट्रवाद, साम्प्रदायिकता, अतीत का इतिहास, स्त्री के अन्तर्विरोध, जीवन शैलियों की टकराहट, 'नयी-पुरानी पीढ़ी का संघर्ष, दहेज प्रथा और विवाह, स्त्री-पुरुष समानता-असमानता, बेमेल विवाह, बाल विवाह, पर्यावरण, राजनैतिक सत्ता का अधिकार, प्रकृति का प्रेम इत्यादि'।[४] इन विषयों को आत्मकथा शैली और पटकथा शैली दोनों ही माध्यमों में अभिव्यक्त किया है। महिला उपन्यासकारों ने स्त्रैण जीवन के इन दोनों ध्रुवों के मध्य उसके धवल और श्यामल दोनों पक्षों को पूरी इमानदारी और बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत किया है। पुंसवादी उपन्यासों में स्त्री को सशक्त करने के कितने भी प्रयास क्यों न हुए हों, है तो वह उनकी सोच का ही परिणाम जो कि सहानुभूति मात्र होती है। प्रेमचंद के विचार में 'स्त्री' पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है' यानी 'नारी का धरम है कि गम खाय।'' कितनी बड़ी विडम्बना है कि जो पुरुष साहित्य के माध्यम से स्त्रियों को उनका अधिकार और स्वतंत्रता दिलाना चाहते हैं, वही स्वयं के जीवन में उन्हें उनका अधिकार देने से कतराते हैं। पुंसवादी सत्ता को यह भय है कि स्त्री को उसका अधिकार मिलने से कहीं उनका अस्तित्व खतरे में ने पड़ जाये। भागवती चरण वर्मा तो यह मानते हैं कि ''बौद्धिक स्त्री से अधिक खतरनाक प्राणी तुम्हें नहीं मिलेग।'' यह वक्तव्य पुरुषों के आन्तरिक भय का ही परिणाम है। स्त्रियों के समर्थक डॉ. राजेन्द्र का यह कथन है कि– ''आप वास्तव में स्त्री को स्त्री की दृष्टि से अधिकार नहीं देना चाहते''[५] उनका सही मायने में समर्थक सावित करता है। ''मनुष्य को केन्द्र में रखने वाला, मनुष्य-संसार की गति, ऊर्जा और सपनों से स्पंदित होने वाला साहित्य निर्वैयक्तिक हो ही नहीं सकता। एक ठोस सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान मनुष्य और समाज की

तरह साहित्य और साहित्यकार की भी है। लाख छुपाने की कोशिश करे इंसान, बड़े-बड़े दावों और डीगों के बीच अपनी क्षुद्रताओं और शातिरबाजियों को रंचमात्र भी नहीं छुपा पाता। लेखक भी इसका अपवाद नहीं है।"[६] ऐसी परिस्थितियों ने ही स्त्री की तड़प को अभिव्यक्त करने के लिए उसे साहित्य की ओर प्रेरित किया और उपन्यास ही वह माध्यम है जिसमें वह अपने जीवन के व्यापक फलक को समेट सकती है। अन्य उपन्यासकारों की तरह महिला उपन्यासकारों में समाजोन्मुखता अधिक है। विभेदीकरण के इस दौर में आज जब नारी हर क्षेत्र में पुरुष से होड़ ले रही है तो यह माना जा रहा है कि नारी ही नारी की पीड़ा को अधिक गहराई से समझ सकती है जैसे खग जाने खग की बानी। उसकी संवेदना का स्तर पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त और सघन होता है। महिला सशक्तीकरण की दिशा में यह एक और अग्रगामी चरण है कि उपन्यास लेखन के क्षेत्र में भी महिलाएँ पीछे नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक रचना अपने सर्जक की सोच का बिम्ब होती है। अतः उसके अनुभव की प्रामाणिकता और तथ्यों के विश्लेषण की उसकी शक्ति किसी भी रचना को एक विशिष्टता प्रदान करती है। नारी पीड़ा की भोग्या स्वयं होने के कारण उसकी संवेदनाओं को पुरुष की अपेक्षा वरीयता दी जानी चाहिए। "भोगते आप होंगे हज़ूर, हमने तो भुगता है।"[७]

महिला उपन्यासकारों के द्वारा महिला सशक्तीकरण के फलक पर आगे बढ़ने के जो प्रयास हुए हैं, उसका यथार्थ चित्रण उनकी रचनाओं में मिलता है। 'फ़रिश्ते निकले' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा कहती है– "श्रृंगार-सुहाग की असलियत कितनी थोथी है, औरतें इसका मर्म जानती हैं। x x x सीताजी का हश्र जानती हैं फिर भी सीता बनना चाहती हैं। कैसी सीता? रामचन्द्रजी की पत्नी, अयोध्या की रानी, जिसका पग-पग पर अपमान हुआ या वाल्मीकि के आश्रम में रहने वाली गर्भवती सीता जिसने बिना पिता के बच्चों को जन्म दिया और पाल-पोसकर राम के विरुद्ध युद्ध में उतार दिया?"[८] इसी क्रम में मैत्रेयी जी के उपन्यास फरश्ति निकले की पात्र बेला बहू यह कहती है कि "जब मैं बिना बाप के नाम का बच्चा पैदा करने का दम रखती हूँ और आताताइयों का कत्ल कर सकती हूँ जैसी की औरत से आशा नहीं की जाती, तो फिर मैं पुलिस या अदालत का सामना नहीं कर सकती क्या? खुलकर बोलने का मौका तो मिलेगा। कितनी औरतों को मिलता है, अपनी आवाज निकालने का मौका? सजा कैसी भी हो जाए, वह सुनेगी तो कि न्यायाधीश क्या कहते हैं, अपने इन्साफ में? असल में तो बेकसूर होकर सजा पाना और चुप रहना ही जुर्म है। अपने खिलाफ जुर्म।"[९] महिला रचनाकारों में गजब की बेबाकी, स्वाभिमान और ईमानदारी है अपने लेखन के प्रति। "इनकी छाती में एक शाश्वत तड़प भी है, दिल में शाश्वत सपना भी, पर साथ में इनके पैरों में एक नया साहस है और ओठों पर एक बेबाकी।"[१०] स्त्री की पीड़ा और संघर्ष ही उसे और प्रेरित कर रहा है। 'छिन्नमस्ता' नामक उपन्यास में प्रभा खेतान लिखती हैं– औरत कहाँ नहीं रोती? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों पर काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग ऐश्वर्य के बावजूद मेरी सासू जी की तरह पलंग पर रात-रात भर अकेले करवटें बदलते हुए। हाड़-माँस की बनी ये औरतें अपने-अपने तरीके से जिन्दगी जीने की कोशिश में छटपटाती हुई औरतें। हजारों सालों से इनके ये आंसू आ रहे हैं।" अतः स्पष्ट है कि महिला रचनाकारों की कृतियों में अपने दायित्व के प्रति गहरी जागरूकता दिखाई देती है। साहित्य में मृदुला गर्ग ऐसी ही उपन्यासकार हैं जिन्हें अभिव्यक्ति के कारण जेल भी जाना पड़ा। फिर भी हार न मानकर बेहतर उपन्यास लिखती रहीं। वह नारी की पीड़ा और संत्रास का चित्रण पक्षपात रहित होकर यथार्थवत् करतीं हैं। इनकी औपन्यासिक रचनाओं में महिला की अशक्ति और सशक्ति दोनों का वर्णन है। इसका कारण यही हो सकता है कि कहीं न कहीं वह स्वयं स्त्री है और अपनी भूमिका के प्रति वह

संवेदनशील है।

महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में नारी सशक्तीकरण की विविध भंगिमाएँ हैं, जो कि समाज में कदम-कदम पर दिखाई देती है। "जहाँ एक ओर अपने पुरातन संस्कारों में जकड़ी और उसके प्रभावों से संघर्ष करती नारी है, तो दूसरे छोर पर उन्मुक्त भोग के लिए प्रस्तुत समस्त सामाजिक विधि निषेधों को नकारती, वर्जनाओं को अस्वीकार करती नारी है, तो इन दो ध्रुवों के मध्य पिसती, संघर्ष करती, शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ती नारी भी है, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती नारी का रूप भी है। समाज, राष्ट्र, राजनीति और शासकीय सेवा के विविध पदों पर अपने दायित्व का निर्वाह करने वाली नारी है, तो सामाजिक विद्रूपताओं एवं शोषण से लड़ने वाली जुझारू नारी भी है। कहीं वह बछेन्द्रीपाल बनकर हिमालय की ऊचाइयाँ नापती है तो कहीं कल्पना चावला बनकर आकाश की अनंत ऊँचाईयों में विचरण भी करती है। कहीं किरण बेदी बनकर तिहाड़ जेल संहालती हैं, तो कहीं दस्यु सुंदरी बनकर अपने साथ हुए अन्याय का बदला भी लेती है।"[११] नारी सशक्तीकरण का यह एक पहलू है, किन्तु दूसरे छोर की उसकी सच्चाईयाँ भी कम भयावह नहीं। सिनेमा से लेकर शिक्षा जगत् तक आज भी उसे अपने शरीर का सौदा करना पड़ता है। सफलता की सीढ़ियाँ उसके शील के रास्ते से होकर ही जाती है। बिना चरित्र बेचे उसे चाहत नहीं मिलती। लोगों को नारी में काबलियत नहीं कामना ही दिखाई देती है। इन सबके बावजूद एक अन्य पक्ष भी है जहाँ पर नारी परम्परागत आदर्शों एवं मान्यताओं को नकार रही है। मूल्यहीनता को ही मूल्य समझ बैठी है। सही और गलत की एक नई परिभाषा गढ़ रही है।

हिन्दी साहित्य की महिला उपन्यासकारों ने इन सारी सच्चाइयों को देखा-परखा-जाँचा-समझा और भोगा है, इसलिए ही इसको अभिव्यक्त करने में अधिक सक्षम है। भाषा भी स्त्री जनित हो जाती है। स्त्री साहित्य में, उनकी अभिव्यक्ति में भाषा के बन्धन भी अपने आपको मुक्त कर लेतें हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो 'भाषा' स्त्री की अन्तरंग मित्र हो जाती है जो उसके मन के समस्त भावों को पन्नों पर उड़ेल देती हैं। ये विशेष किस्म की भाषा स्त्री की अपनी भाषा होती है। यही कारण है कि कहीं उनके चित्रण में मृदुला गर्ग के चितकोबरा जैसी उन्मुक्ता होती है तो कहीं ऐसा लगता है यह नारी रचनाकार सब कुछ तोड़ देना चाहती है, साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के मानकों को परिवर्तित करना चाहती हैं। "साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र अभी तक इकतरफा है। इस सौन्दर्यशास्त्र से पुरुष सत्तात्मक मानसिकता को हटाकर सन्तुलित करना होगा। मर्दवादी सौन्दर्यशास्त्र को स्त्री ही पलट सकती है और आधी आबादी की सच्चाई को यथार्थ को पूरी दुनिया के सामने ला सकती है।"[१२] यह विचारणीय है कि इन रचनाकारों की रचनाएँ तो दर्पण हैं जिसमें समाज का अक्स ही दिखाई देता है। आईना तोड़ने से सूरतें नहीं बदल जातीं, आवश्यकता है शक्ल सुधारी जाए और इन महिला रचनाकारों का मूल उद्देश्य भी यह है, तभी तो नारी सशक्तीकरण का वास्तविक रूप प्रकट हो सकेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री को अभी कई मोर्चो पर एकजुट होकर लड़ाई लड़नी पड़ेगी। अपने घर में, समाज में और साहित्य में भी।

सन्दर्भ-सूची

१. महिला सशक्तीकरण : विकीपिडिया

२. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास- डॉ. सुमन राजे, पृष्ठ ३०२

३. उपनिवेशवाद से आधुनिकता तक : स्त्रीकथा - खेमसिंह डहेरिया, पृ. ४

४. जगदीश्वर चतुर्वेदी– स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृष्ठ १२५
५. डॉ. राजेन्द्र यादव
६. रोहिणी अग्रवाल– हिन्दी उपन्यास का स्त्रीपाठ, पृ. ९ (भूमिका)
७. मिलजुलमन – मुदृला गर्ग, पृ. २१
८. मैत्रेयी पुष्पा– फरिश्ते निकले, पृष्ठ ९०
९. मैत्रेयी पुष्पा– फरिश्ते निकले, पृष्ठ ९०
१०. जगदीश्वर चतुर्वेदी–स्त्री अस्मिता साहित्य और विचारधारा, पृष्ठ १०७–१०८
११. खेमसिंह देहरिया– उपनिवेशवाद से आधुनिकता तक स्त्रीकथा, पृ. १०८
१२. खेमसिंह डहेरिया– उपनिवेशवाद से आधुनिकता तक स्त्री कथा, पृ. १२२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

आदिवासी साहित्य का अनहद नाद : महादेव टोप्पो की कविता

श्रीलेखा के. एन.*

भारत के अनुसूचित जनजातियों का इतिहास में झारखंड का अपना महत्त्व है। विशिष्ट भौगोलिक संरचना और अलग संस्कृति को बनाए रखने वाले इस राज्य में कई जन आंदोलन हुए हैं, जिसमें १७७२–१७८० का 'पहड़िया विद्रोह', १७८०–१७८५ का तिलका मांझी के नेतृत्व में 'मांझी विद्रोह', १८५५–१८६० का 'हूल विद्रोह' और १८९५–१९०० का 'बिरसा विद्रोह' आदि सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, जो भारत का इतिहास के ही एक मुख्य हिस्सा है। इन आंदोलनों में एक सामान्य सी बात यह थी कि इसके नेतृत्व में आदिवासी समाज के नेता ही रहे थे, जिनका संघर्ष अपने जल, जंगल और ज़मीन तक विस्तृत था। आदिवासी जनता का संघर्ष की शुरुआत झारखंड से माना जाता है। इससे पहले और बाद में भारत के कोने– कोने में कई जन आंदोलन हुए हैं; किन्तु ये सब अपने स्थानीय क्षेत्रों तक सीमित थे, यही नहीं आदिवासी और दलित जैसे हाशिए कृत वर्गों के प्रति समाज और साहित्य की दृष्टि भी उपेक्षा और अमानवीयता से भरे थे। इसलिए भारत के आदिम जन समुदाय होकर भी आदिवासी जनता को सभी प्रकार की मानवाधिकारों से वंचित रहना पड़ा। अंग्रेजों की गुलामी से त्रासित भारत को आज़ादी के ओर ले जाने में इन अनुसूचित जनजातियों की बड़ी भूमिका रही है। किन्तु उच्च मानसिकता को अपनाने वाले तथाकथित सभ्य समाज ने आदिवासियों के इस विद्रोह को माओवादी, आतंकवादी और समाज तथा देश के लिए अहितकारी घोषित किया। राजनीति और सामाजिक व्यवस्था में आदिवासियों को जिन–जिन समस्याओं से गुजरना पड़ा इससे आज भी यह सभ्य समाज अनभिज्ञ है। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के ७२ साल बाद आज भी उनका यह संघर्ष जारी है।

झारखंड बचाओं आंदोलन वर्तमान समय में काफी चर्चित जन प्रतिरोध है। भारत को स्वतंत्र देश घोषित करने के बाद भी ऐसे एक आंदोलन की आवश्यकता क्यों हो रही है? इस प्रश्न को उठाने पर इस देश की कमजोरियाँ स्पष्ट नज़र आती हैं। इतने विकसित और शिक्षित समाज में जीने पर हम गर्व करते हैं, किन्तु भारत की वास्तविक दशा को समझने के लिए हमें उन क्षेत्रों में जाना पड़ेगा। जहाँ सामान्य से सामान्य लोग जी रहे हैं।

साहित्य जिस प्रकार समाज और व्यक्ति की संवेदनाओं की सृष्टि है उसी प्रकार जनता और शासक के बीच का विचारों के आदान – प्रदान का माध्यम भी है। झारखंड की जनता के समस्याओं को समाज और शासक के सम्मुख ले आने में सबसे बड़ा योगदान उस क्षेत्र विशेष के साहित्यकारों का रहा है, जो एक ओर इन समस्याओं के साक्षी हैं तो दूसरी ओर इन यंत्रणाओं से त्रस्त भी है। यहाँ पर भोगी हुई यातना या यथार्थ की अवधारणा इतनी तीव्र बन जाती है कि अन्य समाज को इन दुर्घटनाओं से परिचय देने के लिए दूसरा

* शोधछात्रा, हिन्दी विभाग, कोच्चिन विश्वविद्यालय, एर्नाकुलम, केरल

कोई गवाही की ज़रूरत नहीं है; क्योंकि उनकी रचनाएँ एक-एक क्षण की वेदना और उत्पीड़न का उपज है।

झारखंड के आदिवासी साहित्यकारों में महादेव टोप्पो का नाम काफी चर्चित है। उनकी कविताएँ झारखंड की पृष्ठभूमि में विकसित हैं। इसलिए इन कविताओं की हर एक पंक्तियों में झारखंड की मिट्टी का महक है। आदिवासी, वनवासी और जंगली कहकर मानव को जानवर बनाने वाले सभ्य समाज के आगे कवि अपने आपको आदिवासी या आदिम मनुष्य घोषित करते हुए अपने अस्तित्व पर गर्व करता है। उनकी ज्यादतर कवितायें झारखंड पर केन्द्रित हैं। वहाँ के आदिवासियों को समाज में, साहित्य और राजनीति में किस प्रकार शोषण का शिकार बनना पड़ा और समसामयिक सन्दर्भ में झारखंड की गतिविधियाँ क्या-क्या हैं आदि को कवि बहुत ही स्पष्ट और सरल भाषा में अभिव्यक्त किया है। कवि ने '**रचने होंगे ग्रंथ**' नामक कविता में भारत के मूलनिवासी आदिवासियों के प्रति इतिहासकारों की उपेक्षित दृष्टि की ओर संकेत किया है, कविता की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

''इतिहास तुम्हारा / इतिहास के पन्नों पर
गढ़ा नहीं शब्दों में / ना ही दर्ज हो सका है ग्रन्थों में
तुम्हारी विजय गाथाओं और संघर्षों के गवाह
पेड़ हैं ,नदियाँ हैं, चट्टानें हैं / पुरखों की आत्माएँ हैं ....
इन सबकी गवाही / उन्हें नहीं है स्वीकार
इसलिए तुम इतिहास के ग्रन्थों में, हाशिए पर डाल दिये गये हो.......
तुम्हें अपने आदमी होने की / खोजनी होगी परिभाषा
उनके सिद्धांतों, स्थापनाओं, मंतव्यों के विरुद्ध
उनके बर्बर वैचारिक हमलों के विरुद्ध
रचने होंगे स्वयं ग्रंथ।''[१]

आदिवासियों के सम्मुख उपस्थित सबसे बड़ी चुनौती विस्थापन और जातिगत भेदभाव की रही है। जंगलों से विस्थापित जनता शहर के छोटे-बड़े इलाकों में शरणदाता बन जाता है। उनका अपना जंगल अन्य लोगों के अवैध हस्ताक्षेपों से शहर बन जाते हैं। वहाँ के मनमोहक संस्कृति प्रदूषण और पारिस्थितिक दुर्घटनाओं के बीच में फँसकर टूट जाती है। झारखंड जैसे आदिवासी इलाकों की सबसे बड़ी समस्या अवैध बाँध निर्माण और उससे उत्पन्न पारिस्थितिक असंतुलन है। महादेव जी ने इसका विरोध करते हुए लिखा है–

''तुम्हारे जदुर गीत सुनकर / झूमती नहीं है स्वणरिखा
मयूराक्षी, कोयल कारो / और न कन्हर / और न ही तुम्हारे
नगाड़ों, ढोलों, मांदरों की ताल से ताल मिलाकर गाता है दामोदर
क्योंकि इन सारी नदियों के / बाँध गए या बाँध रहे हैं हाथ पैर
छड़, सीमेंट की जंजीरों से ....
और न होगा कभी इससे तुम्हें अपने अस्तित्व का ज्ञान
बेहतर है रचो नया को जदुर गीत
कैद होती स्वणरिखा, कोयल-कारो, कन्हर, दामोदर की मुक्ति का
स्वयं को जानने पहचानने का / और जंग लगे तीरों पर

न धार लाने का ...!''[२]

मुख्यधारा समाज में आदिवासी शब्द मूलतः जंगली और असभ्य जाति का द्योतक है। इसलिए अन्य बच्चों के समान शिक्षित होने का तथा अच्छी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार इन जनजातियों को नहीं दिया जाता था। अशिक्षा की समस्या के कारण आदिवासी समाज में कई अंधविश्वास और रूढ़ियाँ प्रचलित थी, जो आदमी के जीवन के लिए भी हानिकारक था। कभी कभार आर्थिक विपन्नता भी आदिवासियों से शिक्षित होने का अधिकार छीन लिया था। '**आदिवासी गाँव में इंटर पास छात्र का सपना**' नामक कविता में कवि ने आदिवासी बच्चों के मन में शिक्षा के प्रति उभरी गहरी इच्छा और आर्थिक समस्या के कारण उनकी विवशता को इस प्रकार व्यक्त किया है –

''चिंता न करो दादा इस बार बारिश अच्छी हुई है
धान कुछ अधिक उपजेगा
फिर हम खेतों में मटर, आलू या गोभी की भी कर लेंगे खेती
पैसे मिल ही जायेंगे / जुगाड़ हो जायेगा
किसी न किसी तरह मेरी पढ़ाई का
न मैं स्वेटर मागूँगा न जैकेट, न जीन्स, न पैंट
न साइकिल, न रेडियो, न टी. वी. दादा
कर लेने दो पास बी.ए. दादा।''[३]

जाति मनुष्य के मन में और सोच विचार में किसी भी प्रकार के हथियार से भी ज़्यादा घाव लगाने वाले घटक हैं। भारत धार्मिक एकता का देश है। आर्यों के समय से भारत में एक जाति व्यवस्था प्रचलित थी, जो आज भी जारी है। इस व्यवस्था में कहीं भी आदिवासियों का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु भारत के आदिम मनुष्य की परंपरा को आदिम निवासी कहने के कारण उन्हें इस श्रेणी के अन्तिम अधिकारी बनकर समाज से बहिष्कृत जीवन जीना पड़ा। अब दुनिया नकारात्मक और सकारात्मक पक्षों से आगे बढ़ रहे हैं; किन्तु जाति के नाम पर भारतवासियों के मन में जो अवधारणा पूर्व प्रचलित थी। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। '**कब तक**' नामक कविता की पंक्तियाँ इसका उदाहरण हैं। जो इस प्रकार है –

''कई पंचवर्षीय योजनाओं के
इस जंगली इलाके में लागू होने के बाद
अब लोग कहते हैं / हम सभ्य हो रहे हैं
हम शिक्षित हो रहे हैं.......
लेकिन यह सवाल तब भी बचा रहेगा
इस देश में कास्ट सर्टिफिकेटों के माध्यम से ही
पहचाने जाते हम लोग
चौथी श्रेणी के नागरिक होने का
दर्द भोगते रहेंगे कब तक ?''[४]

समाज में संख्या की दृष्टि से सबसे कम होने के कारण भारतीय संविधान ने आदिवासियों को आरक्षण की सुविधा प्रदान किया। उन्हें सामाजिक और आर्थिक स्तर पर आगे बढ़ाने के लिए कई योजनाएँ भी बनायी; किन्तु आज आरक्षण के नाम पर शिक्षा और कार्यालय में आदिवासियों को कई प्रकार के शोषण

और अपमान का शिकार बनना पड़ रहा है। वास्तव में इन योजनाओं के नाम पर राजनीतिक नेता और शासक अपने खजाना भर रहा है। अशिक्षित आदिवासी समाज इन यथार्थों से अवगत नहीं है। **'तुमसे, आदमी कहलाने के गुर नहीं सीखूँगा!'** नामक कविता की प्रारंभिक पंक्तियों में महादेव टोप्पो ने इस बात को प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं –

''कहते हैं कई लोग हमें / सरकार के कुछ हैं हम खास
पा लेते हैं बहुत कुछ खैरात
मगर ये सारे उपहार रहते हैं सदा उन्हीं के नाम
उन्हीं के पंजे के नीचे दबे /
हम तो रहते वहीं जहाँ थे कभी
वैसे ही नंग - धड़ंग।।''[५]

कथनी में संविधान और कानून आम जनता के लिए है; किन्तु इन दोनों के बीच में भी एक राजनीति है, जो अमीर लोगों के हाथ में सुरक्षित है। जिसका आधार पद और पैसा है। आदिवासी और दलित जैसे समाज से तिरस्कृत वर्ग हमेशा गरीब जैसा जीवन बिताने के लिए अभिशप्त है। इसलिए आदिवासियों को अपने आदिवासियत को बनाए रखने के लिए मुख्यधारा से लड़ना पड़ रहा है। कानून और नियम भी आम जनता के खिलाफ है। इसलिए उनके संघर्ष की व्याप्ति भी उतना ही संकुचित है। **'पहाड़ की नज़रों में'** नामक कविता में कवि ने इसके ओर संकेत किया है –

''तुम कहो / जो कहना चाहते हो
कहो मैं जंगली हूँ / मैं मान लूँगा
कहो मैं वनवासी हूँ, आदिवासी हूँ
अनुसूचित जाति, जनजाति हूँ
मान लूँगा मैं .....
इस देश में नहीं, पूरे विश्व में
तुम्हारे पास कलम है
तिजोरी है / सत्ता है / कानून है / अखबार है
सबसे बड़ी बात कि तुम्हारे पास पुलिस है
सेना है / आखिर क्या नहीं है तुम्हारे पास ?
और ऐसे में मेरी हिम्मत कहाँ कि कुछ कहूँ ?
तुम चाहे जो कुछ कहो मेरे बारे में
मान लूँगा माँ-बाप
सिवा इसके कि कहो तुम
स्वयं को मनुष्य।।''[६]

आदिवासी अस्मिता को बनाए रखने में क्षेत्रीय भाषा का भी बहुत बड़ी देन है। भारत के अलग अलग स्थानों में भाषा स्तर पर भिन्नता देखा जा सकता है, जो उस क्षेत्र विशेष का खास पहचान है। झारखंड में कुड़ुख, खड़िया, मुंडा, उरांव जैसे कई आदिवासी जनजातियाँ हैं। इनकी भाषा अलग-अलग है। लोक में

प्रचलित भाषा का अपना महत्त्व है। यह भारत जैसे देशों के सांस्कृतिक गरिमा का सूचक है। महादेव टोप्पो ने अपनी कविता '**प्रजातन्त्र में**' भाषा को बनाए रखने की आवश्यकता की ओर इशारा किया है। इसके साथ ही एक साहित्यकार होने के नाते अपने समाज के प्रति सतर्क रहने की तथा अपने कलम के द्वारा सभी बंधनों से मुक्ति पाने का आग्रह करते हुए वे लिखते हैं –

> **''अब संसद के द्वार से**
> **मिलूंगा तुमसे जल्द ही अन्य मंचों पर भी**
> **पहाड़ों, जंगलों को देखने के**
> **संकीर्ण नज़रिए को तुम्हारे**
> **देता रहूँगा मैं चुनौती / लिख कर, बोल कर**
> **इसलिए / शब्दों की ऊर्जा भर रहा हूँ**
> **दिल में, दिमाग में / शरीर के रोम-रोम में।''**[७]

यह कवि की चेतावनी है कि अब आदिवासी समाज में भी नवजागरण प्रारम्भ हुआ है। वे अपने अधिकारों और कानून के हर नियमों से अवगत है। इसलिए आगे भी उन्हें असभ्य की कोटि में रखकर मूल्यांकन करने की प्रक्रिया बेकार है।

महादेव टोप्पो जैसे कवि-आलोचकों और साहित्यकारों के योगदान से समकालीन विमर्शों में आदिवासी विमर्श भी अपना एक पहचान स्थापित किया है। झारखंड की पृष्ठभूमि में लिखित कविता होकर भी यह पूर्णतः संपूर्ण दुनिया में आदिवासियों को भोगने पड़ने वाली समस्याओं की सही अभिव्यक्ति है। जो पहले कह न पाया या शोषण भोग कर भी चुपचाप सब कुछ सहा उनके लिए महादेव जी की कविता एक प्रेरणा है। इसमें मुख्यधारा के प्रति प्रतिरोध है, अपनी संस्कृति और परंपरा के प्रति श्रद्धा है साथ ही साथ समय के अनुसार बदलने वाली मनुष्य की विचार पद्धतियों में निहित जाति की संकीर्णताओं से मुक्ति की चाह भी है। इसलिए महादेव टोप्पो और उनकी प्रत्येक कविता संघर्षशील आदिवासी के लिए एक ऊर्जा है।

सन्दर्भ

१. रमणिका गुप्ता (सं) – कलम को तीर होने दो, पृ. ११९
२. वही, पृ. ११६
३. वही, पृ. ११८
४. वही, पृ. ११७
५. वही, पृ. १३०
६. वही, पृ.१३७-१३८
७. वही, पृ.१२४

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

मीराबाई की स्त्री चेतना

सलिल तिवारी*

मध्यकाल और आधुनिककाल ने नये भारत की तस्वीर निर्मित की। इस काल में घटित घटना युगान्तकारी राष्ट्र के जागरण की सूचक बन महान् धरोहर बनीं। ''एक समग्र राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष की खरी तथा सही पहचान कराने वाली अब तक दो-ही ऐसी घटनाएँ घटित हुई हैं, जिन्हें प्राय: सभी ने महान् तथा युगांतकारी घटनाओं के रूप में रेखांकित किया है। इनमें से एक घटना का सम्बन्ध मध्यकाल से है तथा दूसरी का आधुनिक काल से भक्ति आन्दोलन और स्वाधीनता आन्दोलन ये दोनों ही युगान्तकारी घटनाएँ एक उदात्त राष्ट्रीय जागरण की सूचक है तथा एक राष्ट्र के रूप में हमारी सबसे मूल्यवान धरोहर है।''[१] मध्यकाल की महान् धरोहर मीरा, इस काल की क्रान्तिकारी रचनाकार हैं। इन्होंने स्त्री और क्रान्ति दोनों को नई परिभाषा दी। ''मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन अपने समय का एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन था। साथ में एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन तथा जन-आन्दोलन भी था।''[२] भक्ति आन्दोलन की इस क्रान्तिकारी लोकोन्मुखता ने वर्ण-व्यवस्था और सामाजिक विधि-विधानों में अनादिकाल से यातनाग्रस्त शूद्रों और अंत्यजों की व्यथा उन्हीं के लोगों के माध्यम से मुखरित हुई। इन्हीं की भांति या कहें कि इनसे भी अत्यधिक यातनामय जीवन को भोगती हुई, करुण आख्यान की देवियों की पीड़ा को भी इस काल ने अभिव्यक्ति का आयाम दिया। यह अभिव्यक्ति समाज से ज्यादा मध्यकाल में पूज्य भगवान के प्रति थी। भक्त बन भक्ति के द्वारा आत्माभिव्यक्ति के स्वर में मार्मिक, सहज और सजग कर देने वाले भाव को अस्मिता के अधिकारों से जोड़ा। जिसके भक्ति और भक्ति-आन्दोलन ही ऐसा काल है जिसमें इतनी भिन्न-भिन्न चेतना का जमाव है। शायद यह अभिव्यक्ति किसी अन्य युग के बस में भी नहीं थी। भक्ति के क्षेत्र में इन्हें और इनके साथ दूसरों को भी आत्म-विस्तार के लिए सजग किया, इसमें अब कोई दुविधा नहीं रह गई। अध्यात्म या भक्ति के क्षेत्र में नारी के साधिकार प्रवेश ने इनकी सामाजिक स्थिति के प्रति दूसरों को तथा स्वत: इन्हें सजग किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। मीरा इसी भक्ति आन्दोलन की देन है। हिन्दी कवयित्रियों में यही एक ऐसा नाम है जिसने साहित्य के क्षेत्र में सभी का ध्यान अपनी ओर खींचा। जिसकी उपेक्षा कोई साहित्येतिहास नहीं कर सका। और सबसे बड़ी बात यह है कि इनकी कोई अपेक्षा भी नहीं कर सका।

विरह-वेदना व अनंत प्रेम की कवयित्री भक्तिकाल की महान् संत-भक्त मीराबाई का काव्य-संसार, कृष्ण के प्रेयसी-प्रीतम भावों से सराबोर, श्रृंगार रस की विरह वेदना और अनंत मिलन की चाह के साथ, माधुर्य रस की त्रिवेणी से आप्लावित हो जनमानस के हृदयों को भक्तिभाव से ओत-प्रोत करता है। साहित्य, संगीत और कला (नृत्य) में भक्ति भाव से रची-पगी मीरा का जीवन भी दन्त-कथाओं के प्रभामण्डल से घिरा हुआ है। इनका जन्म सं. १५१६ वि. मेड़ता राज्य में माना जाता है। बचपन से कृष्ण से प्रीति ही इनके जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर देता है। राणा सांगा के द्वितीय पुत्र भोजराज से विवाह ने

* असि. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, फ.अ.अ. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महमूदाबाद, सीतापुर (उ.प्र.)

इनके जीवन को संघर्ष की ऊँचाई दी। पति की मृत्यु से वास्तविक संघर्ष की शुरुआत हुई। सम्भवतः लोगों को उनकी सती हो जाने की अपेक्षा थी, जो कि उस समय सामान्य अवधारणा थी। किन्तु मीरा ने इसका विरोध कर अपना जीवन कृष्ण के अनुराग में समर्पित किया–

"जग सुहाग मिथ्या रे राजणी होवां हो मिट जासी।
गिरधर गारयां सती न होस्या मन मोहयो घनमाणी।।"

मध्ययुगीन समाज में राजस्थान के राजघराने की रानी 'सती' होने से इन्कार कर दे, निश्चित रूप से यह एक हिला देने वाली घटना रही होगी।"[३]

अपने सौन्दर्य और मधुर कण्ठ के लिए प्रख्यात मीरा का विद्रोही व्यक्तित्व यहीं नहीं रुका। पराम्परिक पर्दा प्रथा सामाजिक-पारिवारिक मर्यादा, लोक-लाज को छोड़कर कुल की 'कानि' खो ठुकराकर वे साधु-संगति करतीं, इकतारा बजाती, पग घुंघरू बांध कर नाचथी थी। इनका सम्पूर्ण जीवन ही नारी विद्रोह का साक्षात् प्रमाण है। इनका यही जीवन इनके साहित्य में मुखरित हैं। जो कहता है कि "विद्रोही बनाये नहीं जाते पैदा होते हैं।" इनके विद्रोही व्यक्तित्व को इनका यह कथन ही स्पष्ट करता है" छाँड़ि हुई कुल की कानि का करिहै कोई।"[४] ऐसे विद्रोह पर न जाने कितने कथन हैं इनके साहित्य में। मीरा का यह स्वभाव सन्त सम्प्रदाय है। माना जाता है कि सन्त सम्प्रदाय का जन्म ही विद्रोह के गर्भ से हुआ था। मीराबाई में एक साथ सन्त और भक्त के लक्षण लक्षित होते हैं। मीरा को प्रभावित करने वाले मुख्यतः तीन सम्प्रदाय हैं–

१. नाथ सम्प्रदाय

२. सन्त समउप्रदाय

३. वैष्णव सम्प्रदाय

मीराबाई मुख्यतः अद्वैत दर्शन से प्रभावित रही हैं। मीरा ने अद्वैत भावना को सूर्य और घाम के माध्यम से व्यक्त किया है–

"तुम बिच हम अन्तर नहीं जैसे सूरज घामा।
मीरा के मन अवर न माने, चाहे सुन्दर स्यामा।।"

"सन्त कवियों और मीरा की भावना में अत्यधिक साम्य होने पर भी मीरा के सन्त सम्प्रदाय में नहीं रखा जा सकता, इसका कारण यह है कि सन्त-कवियों में अपने साम्प्रदायिक नियमों की परिधि में रहने का जो आग्रह मिलता है, वह मीरा में नहीं है। वह निर्गुण की ही नहीं सगुण ब्रह्म की भी आराधिका है, वरन् इनका ब्रह्म सन्तों की अपेक्षा वैष्णवों के अधिक निकट है।"[५] इसलिए मीरा का निकटतम सम्बन्ध वैष्णव सम्प्रदाय से है। वैष्णव सम्प्रदाय के पाँच रूप मिलते हैं–

इनकी भक्ति इनकी तरह ही विरल है। महाप्रभु चैतन्य के कंठ की ध्वनि सूर आदि से होते हुए मीरा के कंठ में आकर अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है।

इनकी विरल भक्ति चेतना को रामस्वरूप चतुर्वेदी अपने संवेदनात्मक इतिहास में इस प्रकार प्रकट करते हैं– "मीरा का काव्य उन विरल उदाहरणों में है जहाँ रचनाकार का जीवन और काव्य एक दूसरे में घुल-मिल गये हैं, परस्पर के सम्पर्क से वे एक दूसरे को समृद्ध करते हैं। उनका काव्य सूर द्वारा विस्तार में चित्रित गोपियों की विरहोन्मुखता का 'डिटेल' या ब्यौरा है।[६]

इनकी प्रेम-भक्ति स्वतः अनुभूत होने के साथ-साथ परम्परा से भी प्रभावित है। जो प्रेम भक्ति

कबीर–जायसी में उटवांसियों में उलझकर रहस्यवादी हो जाती हैं, वही तुलसी और सूर में सामाजिक के साथ आत्मानुभूति में ढलती है। मीरा के यहाँ यह भक्ति सहज आत्मानुभूति और आत्माभिव्यक्ति का सुंदर गीत बन जाती है।

कुछ ऐसे ही विचार डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के भी हैं–

''उनके भक्ति पदों की सर्वजन मनोहारिणी रसवत्ता ने उन्हें अल्पकाल में ही इतना लोकप्रिय बना दिया कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के सन्तों, भक्तों, कवियों तथा रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनकी चर्चा कई रूपों में की है। भक्ति भावना के मूल में एक ही बिन्दु सर्वत्र विद्यमान रहता है वह है– 'सर्वतोभावेन गिरधर गोपाल के चरणों में समर्पण। मीराबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छवास का साकार रुप है। अनन्य भाव से अपने आराध्य के प्रति समर्पण मीरा के काव्य की अपनी विशेषता है।''[७] इनकी भक्ति में लोक की मधुरता एवं संगीतशास्त्र की शास्त्रीयता ने साधु–संतों के प्रभाव से भक्ति एवं वैराग्य को जन्म दिया। इसी की अनुगूँज बना इनका साहित्य।

''उनकी कविता नारी के अंतर्मन की उस घटन और तड़प का प्रतिनिधित्व करती है, हमारी परम्परा और वेद तथा धर्मशास्त्र विहित हमारे विधि–विधानों के चलते जो सदियों से नारी के अन्तर्मन में उमड़ती–घुमड़ती रही है और जिसे ढोना नारी की नियति बन गया है, या मान लिया गया है। मीरा के यहाँ भी सूर की गोपियों की भांति, यह तड़प और घुटन समाज तथा लोक के उन आदर्शों, रीति–रिवाजों, मान्यताओं और मर्यादाओं की पोल खेलते हुए भक्ति के आचरण में ही मूर्त हुई है, जिनके तहत नारी सदियों से गीली लकड़ी की तरह धुँधुवाते हुए जलती रही है और लोक तथा समाज जिसके इस तरह धुँधवाने और जलन को ही जिसके नारीत्व की सफलता मानता रहा।''[८] मीरा ने लंबा जीवन नहीं जिया, किन्तु जितने समय तक वे जीवित रहीं और आज भी अपने शीतल ज्वाला की अग्नि से पूरे समाज को धधकाती है।

प्रसाद जी के शब्दों में जिसे मीठा दर्द कहते हैं। वह पीड़ा का मीठा दर्द इनके यहाँ बद्ध हो गया है। पूरे भक्तिकाव्य या मध्यकाल में मीरा का यह तेवर अन्यत्र विरल है। इन्होंने अभिजात्य वर्ग में नारी पर थोपे गये परम्पराओं को एक झटके में तोड़ा है तो दूसरी ओर संयम के व्रत का पालन करते हुए अपने प्रेम को मानवीय मर्यादा में बाँधा है। इनके प्रेम में अपनेपन के साथ पारिवारिक साहचर्य का बोध है।

''मीरा की लोकप्रियता का पहला कारण है ऊँचे राजकुल का त्याग करके साधुओं, संतों और भक्तों के बीच सामान्य जन के स्तर पर भक्तिभाव की अभिव्यक्ति, दूसरा कारण है– सम्प्रदाय निरपेक्षता और तीसरा कारण है– ऐसी माया का प्रयोग जो लोक जीवन में रची–बसी थी। ....कहना न होगा कि वे समाज की जड़ता को तोड़कर स्वच्छन्दता की राह दिखा रही थी।[९] डॉ. बच्चन सिंह ने अपने इन सीमित शब्दों में मीरा की सम्पूर्ण विशेषता को उड़ेल दिया है।

कृष्ण के प्रति अनंत अनुरक्ति और संसार के प्रति विरक्ति का भाव नारी के जीवन का आधार स्तम्भ था। अपने मन–प्राणों में पालने और बसने वाले अपने प्रेम को, अपने अन्तर्मन की या नारी–मात्र के अंतर्मन की व्यथा तथा प्रेम–पिपासा को किस तरह, कितनी बाधाओं से जूझते–टकराते मीरा अभिव्यक्त कर सकीं, लोकापवाद सहते हुए भी अपने पथ से विचलित नहीं हुई, अपनी छाती में अपने सांवरिया के दरद को सहेजे– सँभाले, वे दर–दर भटकती रही। उनकी वाणी का बहुत ही गहरा और सघन प्रभाव नारीमन पर पड़ा, इसका अर्थ यही हो सकता है कि मीरा ने कहीं न कहीं सबके अंतर्मन में छुपी चाह को, आस को बिना किसी डर के अभिव्यक्त किया। गिरधर गोपाल के प्रेम ने मीरा को वो साहस और दृष्टि दिया कि वो

सारे संसार के अनुचित रूढ़ियों, परम्पराओं और बंधनों से भिड़ गई। इसके लिए उन्हें असहाय कष्ट की भी उठाने पड़े, पर मीरा ने कभी भी कृष्ण प्रेम में समझौता नहीं किया। 'मीरा का काव्य जहाँ एक ओर तत्कालीन समाज का खुला दस्तावेज है, वहीं उनके अन्तरतम की गहरी पुकार भी है।' मीरा जिस राज परिवार की थी, उनका आचरण, रहन-सहन एक स्त्री होने के नाते परंपरागत लोक-मर्यादा के विरुद्ध माना गया और वे राजकुल के कोप का भाजन बनी। विधवा होकर न तो सती होती है और न ही विधवा स्त्री के लिए बनाये नियमों पर चलती हैं। संसार के सारे सुख को अर्थहीन मानते हुए, मनमोहन के मोह में अपने को बांध लेती हैं। उन्हीं को पति मान सुहागिन की भांति व्यवहार करती हैं। गिरधारी के साहसी प्रेम के आगे सबकी औकात को तुच्छ समझती है। उन्होंने साहस के साथ कहा–

राजो रुठयाँ णगरी त्यागाँ, हरि रूठ्याँ कठ जाणा
राणा भेजा बिखराँ प्याडा चरणामृत की जाणा।।[१०]

इतना सब होते हुए भी मीरा में कहीं न कहीं नारी होने की असहायता का बोध भी उनके पदों में परिलक्षित होता है। फिर भी अपने समयकाल की परिसीमाओं का अतिक्रमण करते हुए उन्होंने अदम्य साहस का परिचय दिया। नारी के लिए एक आन्दोलन का आगाज किया। समाज को उसके नंगे नाच का आइना दिखाती है। जो नारी को परवश और इतना असहाय बनाये हुए है कि उसका अपनी मर्जी से उठाया गया एक भी कदम उसे नहीं सुहाता और नारी पर लांछनों का बोझ लाद दिया जाता है।

मीर की कविता में प्रेम और भक्ति ऐसे घुल मिल गये हैं कि अलग से किसी का अस्तित्व ही नहीं दिखाई देता। जग की कविताई से परे है। इनका काव्य 'जग की कविताई के धोखे रहे ह्याँ प्रवीननि की मति जात जकी'[११] मीरा की कविता भी जायसी-कबीर की भाँति प्रेम की पीर की कविता, यह दरद दिवाणी की कविता है। इसमें घनानंद, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि विलीन हो जाते हैं। इसी कारण महादेवी को 'आधुनिक मीरा' की उपाधि से संवारा गया है। यहाँ पीड़ा प्रेम और भक्ति के रंग में रंग जाती है। तभी मीरा की कविता का यह दरद सदियों बाद भी करोड़ो-करोड़ो कंठों में जीवित है, उन्हीं की गहराई के समान–

''हेरी म्हाँ तो दरद दिवणी
म्हाराँ दरद णा जाण्याँ कोय।''[११]

'मीरा की कविता भी ऐसी ही कविता है, अपनी अनुभूति में अत्यन्त गहरी, प्रमाणिक, पारदर्शी और इसलिए बड़ी। प्रणय – निवेदन और उससे उपजा दरद यह मीरा की कविता का प्रधान विषय है।[१२]

मीरा के इस मीरा-भाव से कई अपवादों का भी जन्म लोगों ने कर दिया और स्वयं उसका निराकरण भी निकाल लिया। इन सब बातों में उनके साहित्य, में उनके जीवन में प्रत्यक्ष प्रमाण है। मध्ययुगीन कवियों की भाँति उनका जीवन अनिश्चित नहीं है।

राजकुल की वधू होते हुए भी, मध्यकाल के सामंती समाज में नारी जाति पर लागू विधि-निषेधों के बावजूद इन्होंने 'मैं' शैली में अपनी वैयक्तिक प्रणय-भावना को और, अपने प्रेम को, मुखर होकर व्यक्त है। मीरा समूचे भक्तिकाल में अकेली नारी भक्त है जिन्होंने अपनी आत्म निवेदनपूर्ण कविता में अपनी भक्ति और अपने प्रेम के माध्यम से एक पूरी की पूरी समाज-व्यवस्था की असहिष्णु और अमानवीय मानसिकता को उसकी भेदभावपूर्ण रीति-नीति को और उसके दो मुँहे चेहरे को बेनकाब किया है। डॉ. शिवकुमार शर्मा ने मीरा के काव्य की महत्ता को इन शब्दों में बयां किया है ''उनका काव्य आंसुओं के जल से सिक्त पल्लवित एवं पुष्पित प्रेम बेली की मनोहारिणी सुगन्ध से सुवासित है।''[१३]

सीमित दयरे में कविता करके भी और बाल विशेष या संप्रदाय से परे होकर दर्द के दीवानेपन ने इन्हें निराला बनाया है। अपने समकालीन सूर कबीर, जायसी, तुलसी आदि के समक्ष इनका जीवन ऊँचे अटाले पर पहरा रहते हैं।

इसलिए ही आचार्य शुक्ल को मीरा के लिए एक अलग सम्प्रदाय निरपेक्ष कवि के लिए सोचना पड़ा। उनके साहित्य औदात्य की भूमि पर विराजमान प्रेम, समर्पण, आत्मदान की कविता है। यहां पहुँचकर दर्द भी दत्ता बन जाता है। मध्ययुगीन साहित्य में मीरा का जीवन और साहित्य नारी-विद्रोह का रचनात्मक अगाज है, आने वाले पीढ़ी के लिए।

इस प्रकार से मीरा ने सम्पूर्ण नारी जाति का प्रतिनिधित्व करते हुए अभी तक उनके अनभिव्यक्त अनकहे, अवचनय दुःख, पीड़ा को आवाज दी है। यह वाणी का क्रान्तिकारी ओज प्रत्यक्ष और परोक्षतः दोनों ही रूपों में अभिव्यक्त हुआ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य– शिव कुमार मिश्र, पृ.सं. ११

२. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य– शिवकुमार मिश्र, पृ. सं. १७९

३. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास– सुमन राजे – पृ.सं. १४७

४. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास– सुमन राजे, पृ. १४८

५. मीरा बाई और उनकी पदावली – प्रो. देशराज सिंह भाटी– पृ.सं. ४८

६. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास– रामस्वरूप चतर्वेदी– पृ.सं. ५०

७. हिन्दी साहित्य का इतिहास– विजयेन्द्र स्नातक–पृ.सं. ११५, ११८

८. भक्ति आन्दोलन और भक्ति कव्य– शिव कुमार मिश्र– पृ. सं. १८०

९. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास– डॉ. बच्चन सिंह– पृ.सं. १३५

१०. भक्ति आन्दोलन और भक्ति कव्य– शिव कुमार मिश्र– पृ. सं. १८२

११. भक्ति आन्दोलन और भक्ति कव्य– शिव कुमार मिश्र– पृ. सं. १८३

१२. भक्ति आन्दोलन और भक्ति कव्य– शिव कुमार मिश्र– पृ. सं. १८४

१३. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ– डॉ. शिव कुमार शर्मा, पृ. २९१

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

भारतीय संकल्पना में मनोविज्ञान

अनुराधा*

बहुत ही पहले जब पश्चिम के देशों में ज्ञान-विज्ञान का विकास शुरू भी नहीं हुआ था और मानव ने संस्कृति के क्षेत्र में प्रवेश भी नहीं किया था, उस समय भारतवर्ष के दार्शनिक, योगी और महर्षि मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं और समस्याओं पर गम्भीरतापूर्ण विचार कर रहे थे। ज्ञान-विज्ञान तथा सांस्कृतिक कार्यों की प्राचीनतम धरोहर भारत में है। प्राचीन शास्त्रों में शिक्षा तथा मनोविज्ञान के अनेक तत्त्वों का वर्णन मिलता है। वैदिक वाङ्मय, स्मृतियों तथा दर्शन में मनोविज्ञान पर आधारित अनेक शैक्षणिक विचारों का उल्लेख है। मानव-स्वभाव को अभिव्यक्त करने वाले संवेग तथा मूल प्रवृत्तियों का विस्तार से वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। प्राचीन काल में गुरुकुलों के आचार्य मानव के व्यवहार की समस्याओं से पूर्ण परिचित होकर उन समस्याओं का हल शिक्षा द्वारा करते थे।

भारतीय परम्परा में मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय जीवन के सभी चेतन-अचेतन व्यवहार एवं चेष्टाएं हैं। भारतीय सन्दर्भ में मनोविज्ञान केवल मनुष्य के मन और व्यवहार का ही ज्ञान नहीं है अपितु मन से परे आत्मतत्त्व तथा सभी प्राणि जगत् के व्यवहार का भी अध्ययन है। भारतीय मनोविज्ञान की दृष्टि में जीवन के अन्तः और बाह्य दोनों पक्षों की महत्ता है। अन्तःपक्ष में व्यक्तिनिष्ठता और बाह्य में वस्तु-निष्ठता रहती है।

भारतीय संकल्पना में, मनोविज्ञान में उन सभी तत्त्वों को सम्मिलित किया गया है, जो कि वर्तमान समय में विद्यमान है। वर्तमान का मनोविज्ञान भी प्राचीन मनोविज्ञान की देन है इसमें कोई दोराय नहीं।

वर्तमान में बालक के ध्यान को केन्द्रित करने के लिए कई शिक्षण सामग्रियों का प्रयोग किया जाता है; किन्तु प्राचीन काल में गुरुकुलों में छात्रों का ध्यान केन्द्रित करने के लिए, उन्हें स्वस्थ रखने के लिए योग की शिक्षा प्राथमिक स्तर पर दी जाती थी। वर्तमान में भी प्राचीन मनोविज्ञान की प्रासङ्गिकता को देखकर उसे महत्त्व दिया जा रहा है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने कोई भी बात कहने से पहले उसका गहन अध्ययन किया है। इसी कारण उनके विचारों का अध्ययन करने पर उनके रहस्यमयी मनोविज्ञान का ज्ञान हमें होता है।

मनोविज्ञान 'मन के विज्ञान' को कहा जाता है। भारतीय वाङ्मय में उसकी प्रकृति पश्चिम के मनोविज्ञान के समान शैक्षिणक न होकर अध्यात्म से सम्बन्धित है। भारतीय ऋषि-मुनि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा जो अनुभव एवं अनुभूतियाँ प्राप्त करते थे। उनके द्वारा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का हल ढूंढते थे। **'मनोविज्ञान वह शैक्षिक वह अनुप्रयोगात्मक विद्या है जो प्राणी (मनुष्य, पशु) आदि के मानसिक प्रक्रियाओं अनुभवों तथा व्यक्त व अव्यक्त दोनों प्रकार के व्यहार का एक क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक अध्ययन करती है।'**

मनोविज्ञान की शाखाएं - मनोविज्ञान एक प्रगतिपरक विज्ञान है। मनोविज्ञान की बहुत सी शाखाएं

* सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय दौलतपुर चौक, ऊना, हिमाचल प्रदेश

है; किन्तु मुख्य शाखाएं निम्नलिखित हैं–

१.सामान्य मनोविज्ञान	२. पशु मनोविज्ञान
३.वैयक्तिक मनोविज्ञान	४. सामाजिक मनोविज्ञान।
५. चिकित्सा मनोविज्ञान	६. बाल–मनोविज्ञान
७. वाणिज्य मनोविज्ञान	८. शिक्षा मनोविज्ञान।

मनोविज्ञान की भारतीय संकल्पना– भारतीय मनोविज्ञान की बहुत सारी विशेषताएं हैं–

१. मन का विज्ञान– मनोविज्ञान शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– मन+विज्ञान अर्थात् मन का विशिष्ट ज्ञान। भारतीय मनोविज्ञान मन का विज्ञान है। इसलिए भारतीय शास्त्रों में मन का बहुत अधिक वर्णन किया गया है। मन को इन्द्रियों से श्रेष्ठ माना गया है – **'इन्द्रियेभ्यः परं मनः।'**[१] और भी कहा है–

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।[२]

मन ही मनुष्य की लगाम है यदि मन नियन्त्रित है, विषयों में नहीं भटकता है तो मनुष्य सभी प्रकार से उन्नति करता है। मन के बारे में वर्णन करते हुए कहा गया है।

आत्मनं रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।[३]

लोक में सभी कार्य मन द्वारा संचालित किए जाते हैं। आत्मेन्द्रियों से युक्त होकर ही मन विषयों का भोक्ता बनता है। यदि मनुष्य का मन साथ नहीं है तो किसी भी क्रिया का सम्यक् संचालन नहीं हो सकता। सांख्यकारिका में भी इस बात को स्पष्ट किया गया है कि मन की अनवधानता के कारण ही वस्तुएं होकर भी प्रत्यक्ष नहीं दिखती है।

यथा– **अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।**[४]

अनियन्त्रित मन वाला मनुष्य कभी भी उस परमपिता परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। अपितु इसी संसार में बार–बार भ्रमण करता रहता है।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसार चाधिगच्छति।।[५]

मन को नियन्त्रित करने वाला सभी पदार्थों की प्राप्ति के साथ–साथ परमब्रह्म की प्राप्ति भी करता है। यथा– **विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।**[६] इति।

२. भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान– भारतीय मनोवैज्ञानिक केवल अध्यात्म का ही अपितु भौतिक और आध्यात्मिक दोनों का ज्ञान प्रदान करके मनुष्य का सर्वांगीण विकास करते हैं। ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक है, इसलिए मनोविचारक दोनों का ज्ञान करवाते हैं; क्योंकि कर्म इस जगत् में मुक्ति तथा ज्ञान परलोक में परब्रह्म की प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। यथा–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय सह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।[७]

तथा च– **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।**[८]

३. आत्मा का विज्ञान– भारतीय चिन्तकों ने शरीर और मन से परे आत्मा तक का गहन अध्ययन

करके उससे सभी को परिचित करवाया। वर्तमान में कुछ लोग आत्मा नामक कोई सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं; किन्तु यदि अन्धा स्तम्भ को न देखे तो स्तम्भ का दोष नहीं अपितु अन्धे का दोष होता है। शरीर और आत्मा अलग-अलग है; किन्तु बहुत दुर्लभ लोग ही आत्मतत्त्व का ज्ञान कर पाते हैं, क्योंकि इसको जानना आसान नहीं है। शरीर और आत्मा का भेद मनोवैज्ञानिकों ने स्पष्ट किया है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

'रुह और जिस्म का रिश्ता भी अजब है,
सारी उम्र साथ रहे, लेकिन तुअर्रुफ न हुआ।'

इस भेद को विवेकवान् ही समझ सकते हैं। प्राचीन भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने आत्मतत्त्व के महत्त्व को जानकर उसका संक्षेप से अनेक ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। आत्मतत्व का महत्त्व होने कारण ही नचिकेता ने भी यम से इसके बारे में संक्षेप से जानने का प्रयत्न किया था तब यम ने आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा था।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[९]

गीता में भी महान् मनोवैज्ञानिक श्रीकृष्ण ने यही समझाया है कि-

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[१०]

यह आत्मा किसी भी काल में न तो जन्म लेता है न मरता है न उत्पन्न होकर फिर होने वाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। आत्मा किसी द्वारा मारा भी नहीं जाता जो इसको मारा गया या मरने वाला समझते हैं, वे दोनों ही इसके विषय में नहीं जानते हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।[११]

४. प्रेरणा का मनोविज्ञान- भारतीय मनोविज्ञान प्रेरणामयी वाक्यों से ओतप्रोत है। मानव को सदैव उन्नति के पथ पर निरन्तर चलने की प्रेरणा देते हुए '**चरैवेति-चरैवेति**' का मन्त्र देता है। सदैव जागृत होकर कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करवाते हुए अज्ञान-निन्द्रा को त्यागने को प्रेरित करता है- '**उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**। (कठोपनिषद्)।

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।[१२]

सही मार्ग तलवार की धार के समान कठिन ही कहा गया है, किन्तु मनीषियों द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर यह रास्ता सरल हो जाता है। महापुरुषों से तात्पर्य प्राचीन मनोवैज्ञानिक से ही है जो सदैव सजग रहने की प्रेरणा मनुष्य को देते हैं।

५. शिक्षा का मनोविज्ञान- भारतीय मनोविज्ञान शिक्षा का मनोविज्ञान है। विविध प्रकार की शिक्षाओं का ज्ञान भारतीय मनोविज्ञान करवाता है। जब विद्यार्थी अपनी शिक्षा सम्पूर्ण कर लेते हैं, तो गुरु उनको समाज में जाने के लिए तैयार करते हुए अनेक प्रकार की शिक्षाओं का सार समझाता है। यथा- **सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायन्मा प्रमदः। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।** (तैतिरीयोपनिषद् १.१)

६. वास्तविक सुख-प्रधान मनोविज्ञान- भारतीय मनोविज्ञान क्षणिक सुख प्राप्त करने की प्रेरणा

न देकर वास्तविक सुख की ओर अग्रसर होने को प्रेरित करता है। श्रेय और प्रेय में से प्रेय-वस्तु का चुनाव करने वाला सदैव सुखी रहे यह निश्चित नहीं है किन्तु श्रेय अर्थात् कल्याण चाहने वाला सदैव सुखी रहता है। वास्तविक सुख श्रेय का चुनाव करने वास्तविक आनन्द को प्राप्त करता है-

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ स्तौ सम्प्रीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।[१३]

श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनों के स्वरूप को भलीभाँति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है। श्रेष्ठ बुद्धि का मनुष्य कल्याण को अपनाता है तथा मन्दबुद्धि वाला मनुष्य भोग-विलास को अपनाता है।

७. समग्र-दृष्टिकोण का मनोविज्ञान- भारतीय मनोविज्ञान में केवल निज स्वार्थ और निज उन्नति की बात नहीं कही गई अपितु मिलकर समग्र की उन्नति की बात कही गई है इसलिए भारतीय मनोवैज्ञानिक- **'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।** का पाठ पढ़ाते हुए दिखते हैं।

''सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।''

तथा च- **ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम् देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा।** इत्यादि प्रार्थनाएँ सर्वत्र देखने को मिलती है।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे।।[१४]

हे रुद्र! हम लोग नाना प्रकार की भेंट लेकर सदा ही तुझे बुलाते रहते हैं। आप सदैव हमारी रक्षा करने में समर्थ हैं। अतः आपसे प्रार्थना है कि आप हम पर कुपित न हो। हमारे पुत्र, पौत्रों, आयु, गो, घोड़ों, पशुओं को क्षति न करें। सब प्रकार से हमारी रक्षा करें।

८. मानसिक तनावों से मुक्ति का मनोविज्ञान- भारतीय मनोविज्ञान में मानसिक तनावों से मुक्ति के विभिन्न उपाय बतलाये गये हैं। यथा- योगमार्ग, साधन-चतुष्टय, सत्सङ्गति, अभ्यास, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्म आदि। इन सभी साधनों के सम्यक् ज्ञान और नियमित अभ्यास से संगठित एवं समायोजित व्यक्तित्व का निर्माण संभव है।

निष्कर्ष- वर्तमान समय में मनोविज्ञान पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि यह प्राचीन मनोविज्ञान की ही देन है। मनोविज्ञान में ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिसका अध्ययन करने के बाद मनुष्य का समग्र विकास संभव है। मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इससे मानव जीवन का प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित होता है। समाज में मनुष्य के ज्ञान,विकास, वृद्धि तथा वातावरण में सामंजस्य हेतु मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इससे सभी तरह की समस्याओं का समाधान करके मनुष्य की योग्यता में वृद्धि की जा सकती है। मानव के सर्वांगीण विकास हेतु मनोविज्ञान अनिवार्य है।

पादटिप्पणी :

१. कठोपनिषद् २.३.७
२. कठोपनिषद् १.३.१०
३. कठोपनिषद् १.३.३

४. सांख्यकारिका- ७
५. कठोपनिषद् १.३.७
६. कठोपनिषद् १.३.९
७. ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र- ११
८. ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र-२
९. कठोपनिषद् १.२.१
१०. गीता २.२०
११. गीता २.१९
१२. कठोपनिषद् १.३.१४
१३. कठोपनिषद् १.२.२
१४. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.२२

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची :

- ईशावास्योपनिषद्, तत्त्वविवेचिनीव्याख्यासहिता, व्या. स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- ईशादि नौ उपनिषद् (शांकरभाष्यसहित), गीताप्रेस गोरखपुर-२०११
- श्रीमद्भगवद्गीता, साधारणभाषाटीकासहितम्, गीताप्रेस, गोरखपुर-२०१३

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

बौद्ध धर्म में मानवीय मूल्य

डॉ. प्रदीप कुमार दीक्षित*

सारांश

वर्तमान काल वैज्ञानिकता, औद्योगीकरण एवं तकनीकीकरण का युग है। इस युग में अखिल विश्व के मानव का जीवन स्वार्थपरता से व्याप्त है, जिसके फलस्वरूप मानव जीवन में भयावह परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। सम्प्रति साम्प्रदायिकता, हिंसा, आतंकवाद एवं अतिशय भोगवादी आत्मकेद्रित संस्कृति की विषम आँधी में नैतिक एवं मानवीय मूल्य विलुप्त होते जा रहे हैं। अत्यधिक तृष्णा, लालसा, ईर्ष्या, द्वेष, नैतिक पतन एवं असन्तोष में निरन्तर वृद्धि हो रही है। प्रगति की अन्धी दौड़ और अनेक अनावश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति की तत्परता एवं लालच जैसी अनेकानेक समस्याएं ही विश्व व्याप्त संघर्षो की मूल हैं; जो मानव जाति को सर्वनाम की ओर ले जा रही है।

प्राचीन भारतीय इतिहास में ईसा पूर्व छठी शताब्दी धार्मिक आन्दोलन काल के रूप में प्रसिद्ध है। इसी धार्मिक परिवर्तन काल में ५०५ ईसा पूर्व वैशाखी पूर्णिमा को शाक्यवंशीय, कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन की पत्नी महारानी मायादेवी के पितृगृह देवदह गमन करते समय मार्ग में लुम्बिनी नामक वन में दो शाल के वृक्षों के पास पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र जन्म के सात दिनों के पश्चात् मायादेवी की मृत्यु के बाद बालक का लालन-पालन मौसी गौतमी ने किया। अतः बालक का नाम गौतम (सिद्धार्थ) पड़ा। धार्मिक संक्रमण काल में गौतम बुद्ध ने जीवन को दुःख पूर्ण बताकर जीवन को सुखपूर्ण मानने वालों को असहज बना दिया। बौद्ध धर्म के प्रर्वतक गौतम बुद्ध ने कहा कि जीवन ''सबवं दुःखं अर्थात् सभी कुछ दुःखपूर्ण है। जन्म, मरण, जरा, व्याधि, अप्रिय मिलन, प्रिय वियोग आदि दुःख हैं।''[१] बौद्धधर्मानुसार सम्पूर्ण जीवन दुःख ही दुःख है तथा सभी दुःखों का एक मात्र कारण है तृष्णा, लालसा आदि है।

तृष्णा राग और द्वेष की जननी है। तृष्णा के कारण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं मानसिक तर्क-वितर्क आदि हैं। अतः यदि मानव को दुःखों से मुक्ति पाना है, तो तृष्णा का परित्याग करना अतीव आवश्यक है। धम्मपद में स्पष्ट दर्शाया गया है -

''तृष्णाया पुरस्कृताः प्रजाः परिसर्पन्ति शश इव बद्ध।
संयोगजन संगसक्त का दुःखमुपयन्ति पुनः पुनः चिराय।।''[२]

महात्मा गौतम बुद्ध ने तृष्णा के परित्याग के लिए अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनमें चार आर्य सत्य प्रमुख हैं। सरल, शान्तिपूर्ण एवं अकलुष जीवन जीने के लिए चार आर्य सत्य-दुःख, दुःख-समुदय, दुःख निरोध तथा दुःख निरोध मार्ग की आवश्यकता है।

* एसो. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, वी. एस. एस. डी. कॉलेज, कानपुर

भगवान् बुद्ध ने शरीर को दु:खपूर्ण कहा है और इन दु:खों से मुक्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि 'दु:खों से मुक्ति का साधन निर्वाण है और निर्वाण कैसे प्राप्त हो?' इसके लिए उन्होंने आठ मार्ग बताए हैं। इन्हीं आठ मार्गों को अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है –

१. सम्यक् दृष्टि	२. सम्यक् संकल्प (प्रज्ञा)
३. सम्यक् वाक्	४. सम्यक् कर्मान्त
५. सम्यक् आजीविका (शील)	६. सम्यक् व्यायाम
७. सम्यक् स्मृति	८. सम्यक् समाधि

यह अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म की आचार मीमांसा का सर्वोच्च स्थान माना गया है। अष्टांगिक मार्ग का अनुकरण करके ही सम्पूर्ण दु:खों को नष्ट करके निर्वाण प्राप्त करना सम्भव है। धम्मपद का कथन है– '**मार्गामष्टांगिक: श्रेष्ठ:।**'[३] अर्थात् अष्टांगिक मार्ग निर्वाण का सर्वश्रेष्ठ मार्ग एवं साधन है। भगवान् बुद्ध ने अपने अनुनायियों, शिष्यों को निर्वाण प्राप्त करने के लिए कभी भी कठिन और दुरूह साधन या मार्ग को नहीं बतलाया है वे तो निर्वाण हेतु सुगम साधन के पक्षधर थे। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग के प्रमुख तीन साधन बताए हैं – प्रज्ञा, शील और समाधि।

भगवान् बुद्ध के चार आर्य सत्यों पर दर्शन शास्त्रियों, चिकित्साशास्त्रियों ने पूर्व में अपने मत प्रस्तुत किए थे। व्यास एवं विज्ञानभिक्षु का स्पष्ट मत है कि अध्यात्मशास्त्र, चिकित्साशास्त्र की भाँति चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में चार बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है – रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य ठीक उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में चार बिन्दुओं – दु:ख, विश्व हेतु (दु:ख का कारण), मोक्ष (दु:ख का नाश) और मोक्षोपाय। यह चार सत्य ऐसे हैं जिनकी सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। जैसे चिकित्सक औषधि के माध्यम से रोगी के रोग का निवारण करता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी उपाय के माध्यम से व्यक्ति को विश्व के दु:ख से मुक्ति दिलाता है। वैद्यक–शास्त्र से इन समानताओं के कारण भगवान् बुद्ध को भी लोग वैद्य या महाभिषक कहने लगे। जापान एवं चीन देशों में भैषज्य गुरु नामक भगवान् बुद्ध की उपासना प्रसिद्ध है। '**भैषज्य वैदूर्यप्रभराजसूत्र**' एक ग्रन्थ भी विद्यमान है। व्यासभाष्य में कहा गया है – "चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं–रोगो, रोगहेतु:, आरोग्यं, भैषज्यमिति। एवमिदमपिशास्त्रं चतुर्व्यूहम्–तदयथा संसार: संसार हेतु:, मोक्षो, मोक्षोपाय इति।"[४]

वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व दु:ख, निराशा, तनाव, धर्मवाद, जातिवाद, सीमावाद, आतङ्कवाद जैसी विषम और ज्वलन्त समस्याओं से जकड़ा हुआ है। जिसका निदान असंभव जान पड़ता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग संजीवनी का कार्य कर सकते हैं। अष्टांगिक मार्गों का पालन करना ही वर्तमान की आवश्यकता है। बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग समाज के सर्वकालिक तथा सार्वभौमिक मानवीय मूल्य हैं। जिनका समुचित पालन करने से हम मानव बने रह सकते हैं। बुद्ध ने ऋग्वेद के कथन '**मनुर्भव**'।[५] अर्थात् मानव बनो को आत्मसात् किया और कहा–जाति मत पूछ, आचरण पूँछ, मानवतावाद की दुहाई दे रहा है। 'जो कोई जातिवाद में फँसे हैं, गोत्रवाद में फँसे हैं, वे अनुपम विद्याचरण सम्पदा से दूर हैं।'[६] महात्मा बुद्ध का स्पष्ट मत था कि मानव घर में रहकर सदैव आशा, प्रत्याशा के घेरे में कैद बना रहेगा सांसारिक विषय भोगों में जकड़ा हुआ मानव कभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर पायेगा। ज्ञान या निर्वाण पाने के लिए मध्यम मार्ग को अपनाना समुचित और सुगम है। महात्मा बुद्ध ने नैतिकता और सदाचार पर विशेष बल दिया। उन्होंने सदाचरण हेतु दस बिन्दु निर्धारित किये हैं।

१. अंहिसा- व्यक्ति को किसी भी जीव की हत्या का विरोध करना चाहिए। वे हिंसा के विरोधी और अहिंसा के पोषक थे।

२. अस्तेय- चौर्य कार्य न करना तथा न ही चौर्य कार्य की इच्छा करना।

३. अपरिग्रह- आवश्यकता से अधिक दान स्वीकार न करना।

४. सत्य- सत्य भाषण करना, सत्य मार्ग का अनुगमन करना, अन्याय से विरत रहना।

५. सम्पत्ति त्याग- सम्पत्ति को अनैतिक, अन्याय पूर्ण प्रकार से एकत्रित न करना अर्थात् सीमित मात्रा में सम्पत्ति संचय करना।

६. ब्रह्मचर्य– ब्रह्मचर्य का पालन करना भोगवादी एवं अनैतिकता से बचना।

७. नृत्य, गान तथा मादक वस्तुओं का त्याग- नृत्य, गान, वासना एवं मादक पदार्थ। यथा– शराब भांग, तम्बाकू आदि का त्याग करना।

८. सुगन्धित वस्तुओं का त्याग- इत्र, चन्दन लेप, पुष्पगुच्छ, पुष्पहार आदि अनेक सुगन्धित वस्तुओं का परित्याग करना।

९. असमय भोजन न करना- मानव जीवन को उचित प्रकार से संचालित करने के लिए आहार–विहार की परमावश्यकता है, किन्तु आहार को व्यक्ति सही समय पर सही आहार ही ग्रहण करना चाहिए। असमय आहार सेवन से बुद्धि और ज्ञान दोनों का क्षय होता है।

१०. कोमल विस्तर का त्याग- व्यक्ति को नाना प्रकार के भोग विलास के साधनों से दूरी बनाकर रखी चाहिए। कोमल और आराम दायक शैय्या का परित्याग करना चाहिए तभी व्यक्ति सुखी और सार्थक जीवन जी सकता है।

बौद्ध धर्म में वैदिक रीतियों एवं कर्मकाण्डों का तीव्र विरोध किया गया है। बौद्ध धर्म का स्पष्ट मत है कि निर्वाण हेतु किसी बलि एवं किसी यज्ञ की आवश्यकता नहीं होती है। व्यक्ति का कर्म ही मोक्ष का सच्चा साधन है। मानव जिस प्रकार का कर्म व्यापार करेगा उसे उसी प्रकार का भावी जन्म में परिणाम प्राप्त होगा। व्यक्ति के लिए कर्म ही प्रमुख है। महात्मा बुद्ध आत्मा पर विश्वास नहीं रखते थे उनका मत था कि मानव शरीर क्षित, जल, पावक, गगन, समीर इन पाँच तत्वों से निर्मित है और अन्त में शरीर इन्हीं पाँच तत्त्वों में विलीन हो जाता है। महात्मा बुद्ध जाति प्रथा को नहीं मानते थे उनका मानना था कि मानव शरीर पाँच तत्त्वों से निर्मित है इसलिए मानव जाति एक ही है। अतः जाति प्रथा का मानना सर्वथा अनुचित है। महात्मा बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग मानव जीवन की पूर्णता का सोपान है। जीवन की प्रथम सीढ़ी सत्य है उस पथ का त्याग करना जिस पथ से हम सत्य और ध्येयच्चुत हो जाये। इसको मात्र सत् का परिवर्तन ही मत समझो अपितु यह प्रकृति देवी का ऐसा अमूल्य परिवर्तन है, जो मानवात्मा की गम्भीरता पर प्रभाव डालता है तथा वैराग्य, भक्ति एवं दया के मार्ग की द्वितीय सीढ़ी सतेच्छा को जाग्रत करता है।

महात्मा बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग ही वर्तमान में मानवीय मूल्यों की कुंजी है। प्रथम मार्ग सम्यक् दृष्टि से तात्पर्य है ज्ञान, सत्कार्य ज्ञान से ही सम्भव है। द्वितीय मार्ग सम्यक् संकल्प बताता है कि दृढ़ निश्चय। यदि कामना रहित, द्रोह रहित और हिंसा रहित संकल्प हो जाए तो निर्वाण मार्ग में विघ्न उत्पन्न नहीं होता है। तृतीय मार्ग सम्यक् वचन है जो मिथ्या, कटु एवं अनर्गल भाषण का विरोध करता है और सत्य एवं उचित भाषण की शिक्षा देता है। चतुर्थ मार्ग सम्यक् कर्मान्त– कर्मानुसार ही मानव सुख, दुःख का भोग करता है, सत्कर्म ही करने चाहिए। महात्मा बुद्ध ने इसीलिए पंचशील की शिक्षा दी थी। पंचममार्ग सम्यक् आजीव है,

जो जीविकोपार्जन के लिए सही साधन होना चाहिए। उन्होंने प्राणि-मांस, अस्त्र-शस्त्र, मदिरा एवं विष के व्यापार को उचित नहीं माना था और न ही चोरी तथा लूटपाट की जीविका को उचित माना था, मानव के जीवन के लिए जीविका के साधन भी अन्याय एवं पाप से विरत होने चाहिए। षष्ठमार्ग सम्यक् व्यायाम-मानव को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम हो और अन्य जनों के लिए अच्छी भावना हो। सप्तम मार्ग, सम्यक् स्मृति व्यक्ति को काम, वेदना, चित्त एवं धर्म के वास्तविक स्वरूप को भलीभाँति समझना चाहिए तथा उसकी स्मृति सदा रखनी चाहिए। सम्यक् समाधि के लिए सम्यक् स्मृति का होना परमावश्यक है। अष्टममार्ग सम्यक् समाधि से तात्पर्य है कि सम्यक् समाधि की अवस्था से निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। महात्मा बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग उपनिषद् के द्वारा प्रतिपादित मार्ग की भाँति ही है। उपनिषद् का कथन है कि ज्ञान के अभाव में मुक्ति प्राप्त होना असंभव है महात्मा बुद्ध का भी यही विचार है। शुद्ध ज्ञान के लिए काय शुद्धि और चित्त शुद्धि पर विशेष बल दिया है। शील, समाधि और प्रज्ञा अष्टांगिक मार्ग के प्रतीक हैं। शील का मतलब सात्त्विक कार्यों से है। शील एवं समाधि से प्रज्ञा का जन्म होता है। प्रज्ञा के द्वारा अविद्या नष्ट होती है। बौद्ध धर्म में किसी के साथ विश्वासघात और विरोध का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। आज के परिवेश में मनुष्य विश्वास और अपनेपन से कोसों दूर हो चुका है उसको मात्र अपना हित ही सर्वोपरि लगता है। मित्रभाव, भ्रातृभाव तो विस्तृत हो चुके हैं उन्होंने कहा कि जो अपने मित्रों से अशिष्टता, अनादर एवं द्रोह नहीं करता है वह सर्वत्र सम्मान का पात्र बनता है-

यं यं जनपदं याति निगमे राजधानियो।
सब्बत्थ पूजितो होति यो मित्तानं न दूभति।।[७]

महात्मा बुद्ध का कथन है कि मूर्खों की संगति नहीं करना, बुद्धिमानों की संगति करना तथा विद्वानों की सेवा करना ही उत्तम आनन्द है-

असेषना च बालानं पण्डितानाञ्च सेवना।
पूजा च पूजनीयानं एवं मंगलमुत्तमं।।[८]

वैदिक वाङ्मय वेद, पुराण, स्मृतियाँ, उपनिषद् तथा रामायण, महाभारत में वर्णित-सत्य बोलना, चौर्यकार्य न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, श्रद्धा रखना, अहिंसक बनना आदि अनेकानेक उपदेशों की भाँति बौद्ध धर्म में भी इन्हीं नियमों के पालनार्थ विशेष बल दिया गया है। जिस प्रकार से योगदर्शन में मैत्री, करुणा, मुदिता, सुख-दुःख, पुण्य-अपुण्य का वर्णन है। प्रायः बुद्ध ने भी इसी प्रकार की शिक्षा धम्मपद तथा बुद्धबग्ग में दी है। सभी सुखी हों, सभी निरोगी हों, सब ओर से सभी का कल्याण हो, कहीं किसी को कोई दुःख न हो- **'सव्वे सत्ता अवेश होन्तु। सव्वे सन्ता सुखी होन्तु। सव्वे सत्ता दुक्खा मच्यन्तु।'**[९] मनुस्मृति में अभिवादनशील होना तथा वृद्धों की सेवा करने से मनुष्य के आयु, विद्या, यश एवं बल की बुद्धि होती है वर्णित है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारितस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्।।[१०]

मनुस्मृति की भाँति व्यक्ति को अभिवादन शील होना चाहिए तथा बुद्ध ने कहा कि बुद्धिमान् व ध्यानी रहकर एक दिन का ही जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ है- **एकाहं जीवितं श्रेयः प्रज्ञावतो ध्यायिनः।।**[११]

बुद्ध कहते हैं कि अपनी इन्द्रियों को अच्छे ढंग से दमन कर लेने पर व्यक्ति दुर्लभ स्वामी को पा लेता है-

अग्रमादरता भक्त स्वचित्तमनुरक्षत।
दुर्गादुद्धरतात्मानं पंके सक्त इव कुंञ्जरः।।[१२]

इस प्रकार बुद्ध की सम्पूर्ण विचारधारा मानव के कल्याण के निमित्त है उन्होंने शरीर को दुःख माना है तथा दुःख से मुक्त के लिए सुगम उपाय बताए हैं। आज मानव में मानवतावादी दृष्टिकोण रह ही नहीं गया है। जीवन मूल्य शून्य होते जा रहे हैं। मानव, मानव के रक्त का प्यासा हो गया है। प्रगति के कारण मानव अपनी मर्यादायें, अपने कर्त्तव्य, विस्मृति करता जा रहा है। परोपकार, दया, ममता, करुणा आदि संस्कारों को तिलाञ्जलि दे दी है। आज की संस्कृति स्वार्थपूर्ण हो चुकी है। ऐसे विषम कालचक्र में महात्मा बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित अष्टांगिक मार्ग को अपनाना आवश्यक हो गया है। उन्होंने अनेक अवगुणों से युक्त भोगवादी आत्मकेन्द्रित संस्कृति की सोच से पीड़ित मानव समाज के भावी पथ को प्रशस्त करने के लिए अष्टांगिक मार्ग की ओर प्रेरित किया है। मूलतः बौद्ध दर्शन का लक्ष्य ही बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय है। आज बौद्ध दर्शन का चिन्तन मानवों को अन्तश्चेतना की स्वच्छता, अव्यवस्था को हटाकर उसे संस्कारवान् बना सकता है और मानव में मानवीय मूल्यों की पुर्नस्थापना कर सकता है।

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघ शरणं गच्छामि।

सन्दर्भ-सूची

१. धम्मपद २०.६ एवं महाबग्ग
२. धम्मपद २४.९
३. धम्मपद २०.४
४. भैषज्यगुरु वैदूर्यप्रभराजसूत्र, व्यासभाष्य।
५. ऋग्वेद १०.५३.६
६. महात्माबुद्ध दा० १, ३
७. महापरित्राण, मित्तानिसंस सुत्तं- २, आनन्दबोधि प्रकाशन, श्री लंकासराय श्रावस्ती, १९९८
८. महापरित्राण महामंगल सुत्तं- २, आनन्दबोधि प्रकाशन, श्री लंकासराय श्रावस्ती, १९९८
९. धम्मपद।
१०. मनुस्मृति २.१२१
११. धम्मपद- १११
१२. धम्मपद- ३२७

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

प्राचीन भारतीय सेना के सहायक सेनांगों का सामरिक उपयोग

डॉ. सुरेन्द्र कुमार पाण्डेय*

आधुनिक काल में जिस लड़ाकू सेनांग की सहायता के लिए सहायक सेनांग कार्य करते हैं उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी लड़ाकू सेनांगों-पैदल सेना, रथ-सेना, अश्व-सेना, हस्ति-सेना (चतुरंगबल) के सहायतार्थ अनेक व्यक्ति रहते थे, जो विभिन्न प्रकार के साधनों का प्रयोग करे लड़ाकू सेनांगों की सहायकता करते थे। महाभारत में सर्वप्रथम सहायता कार्य करने वाले वर्ग को चार रूपों में विभाजित करके चतुरंगबल के साथ उल्लेख किया गया जो 'अष्टांगबल' के नाम से प्रसिद्ध है। लड़ाकू सेनांगों (चतुरंगबल) की सहायता करने वाले अर्थात् इनके सहायक सेनांग निम्न हैं -

१. नाविक बल २. विष्टि बल

३. चर बल ४. देशिक बल

१. नाविक बल - भारत में नौबल का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही दिखाई देता है। ऋग्वैदिक काल में भी इसका प्रयोग होता था। ऋग्वेद संहिता में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, किन्तु संग्रामिक क्षेत्र में उनके प्रयोग का कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। कुछ विद्वानों का मत है कि इस काल के भारतीय भूमध्यसागरीय और अफ्रीकी प्रदेशों से व्यापार करते थे, जो जलयानों द्वारा ही अधिक सम्भव था। इस कार्य के लिए जलयानों की रक्षा का प्रबन्ध भी आवश्यक होता होगा। यह भी कहा जाता है कि भारतीय व्यापरिक जलयानों में प्रशिक्षित धनुर्धारी होते थे जो नौकाओं की जलदस्युओं से रक्षा करते थे।[१]

आगे चलकर महाभारत में भी ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि नाविक बल सांग्रमिक सहायता-कार्य करता था। सभापर्व के दिग्विजय वर्णन में मिलता है कि सहदेव ने समुद्र पार करके कई द्वीपों पर मलेच्छों तथा अन्य जातियों को पराजित कर विजय पताका फहराई थी। यह कार्य नाविक शक्ति के सहारे ही सम्भव हो सकता था। इसी प्रकार अन्य कई उदाहरण हैं। रामायण के किष्किन्धा काण्ड में भी उल्लेख मिलता है कि सुग्रीव ने सीता की खोज के लिए वानर सैनिकों को भेजते समय सुमात्रा, जावा, आदि द्वीपों को उल्लेख किया था। यह स्पष्ट करता है कि वानर सेना की सहायता के लिए जलयान होंगे।[२]

रामायण कालीन सैन्य व्यवस्था के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्रृंगवेरपुर के नृपति निषादराज गुह और लंकेश रावण ही दो ऐसे व्यक्ति थे, जिनके पास उल्लेखनीय युद्धपोत थे।[३] निषादराज गुह गंगातट के निवासी थे और उनके पास नौसेना भी थी। जब भरत अपनी सेना सहित राम को मनाने के लिए चित्रकूट जाते समय, श्रृंगवेरपुर से गुजर रहे थे, तब निषादराज गुह ने उन्हें किसी दृष्ट भाव से प्रेरित समझा और सैकड़ो कैवर्त युवकों को आज्ञा दी कि पाँच सौ युद्धपोतों को लेकर शत्रु का मार्ग अवरुद्ध कर दे। प्रत्येक

* अध्यक्ष-सैन्य विज्ञान विभाग, आ. न. देव किसान पी. जी. कॉलेज, बभनान, गोण्डा (उ. प्र.)

युद्धपोत पर सौ-सौ नौजवानों को युद्ध के लिए सन्नद्ध रहने का आदेश मिला। इस प्रकार ५०,००० नाविक-सेना के अस्तित्व का पता चलता है -

नावां शतानां पंचानां कैवर्तनां शतं शतम्।
सनंद्धनां तथा यूनां तिष्ठन्त्विभ्यचोदयत्।।[४]

ये पोतें संभवत: 'अगमंदिरा' श्रेणी की रही होगी, जिनमें 'मंदिर' (जहाज का मार्ग देखने के लिए बनी केबिन) पोत के आगे भाग की ओर बना होता है। संभवत: इन पोतों का प्रयोग वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर ही किया जाता होगा। लम्बी यात्राओं या जल-युद्ध के लिए ये विशेष उपयुक्त होती थी। यात्री और माल ढोने के लिए भी इनका प्रयोग होता था। भरत का शुद्ध भाव जानकर निषादराज ने उनकी सारी सेना को गंगा पार कराने के लिए अपने उपर्युक्त समस्त जलयानों की व्यवस्था कर दी थी। इन पोतों में पुरुष, स्त्रियों, हाथी, घोड़े, रथ और अन्य भारी समान ले जाया गया था। अत: ये अवश्य ही विशाल नौ पोतें रही होगी।

डॉ. शान्ति कुमार नानू राम व्यास का कहना है कि राज परिवार के बैठने के लिए निषादराज गुह ने विशेष नौकाएं मँगाई थी। इन सुसज्जित नावों के अग्रभग की ओर ध्वजाएँ फहरा रही थी तथा बड़े-बड़े घण्टे लटक रहे थे। इनमें पतवारें लगी थीं। कुशल नाविक इनका संचालन कर रहे थे और इनके जोड़ मजबूती से बनाये हुए थे। ये जलयान सामान्य जलयानों से बड़े और 'स्वास्तिक' के आकार-प्रकार के थे, इसलिए उन्हें 'स्वास्तिक' की संज्ञा दी गई थी।[५]

इन नौकाओं में श्वेत कंबल बैठने के लिए बिछा हुआ था (पाण्डुकम्बल सतृततम्)। तत्कालीन समय में पोतों के अन्दर 'सीट' की व्यवस्था नही थी। यात्रियों को पार उतारने के बाद निषादराज गुह के मल्लाहों (नाविक) ने लौटते समय अपनी नावों के चित्र-विचित्र पैंतरे, नौका-चालन की अनेक विधियाँ प्रदर्शित की थी।[६] इन दिनों नौकायन निषाद और दास जैसी अनार्य जातियों के हाथ में था।

उत्तरकाण्ड में अपने वनवास के समय सीता ने लक्ष्मण के साथ जिस नौका में बैठकर गंगा को पार किया था, उसे भी इन्ही जातियों के नाविकों ने खोजा था। दूसरी तरफ हमें रावण की सबल सेना के अस्तित्व का पता राम-रावण युद्ध से बहुत पहले चलता है।

शूर्पनखा के पति विद्युज्जिह और रावण के मध्य हुई लड़ाई से रावण के युद्धपोतों की विधिवता की जानकारी होती है। इस युद्ध में रावण ने अपनी सबल नौसेना के बल पर विजय प्राप्त किया। इस युद्ध जानकारी होती है। इस युद्ध में रावण के सोलह सौ युद्ध-पोतों ने अश्मद्वीप को घेर लिया था। जिसमें श्रृद्रा, मध्यमा, भमा, चपला, पटला, मया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा, मन्थरा, तरणी, प्लाविनी, वेगिनी, ऊर्ध्वा, अनूर्ध्वा, स्वर्णमुखी आदि अनेकानेक नामों के युद्धपोत थे।[७]

सिद्ध सभ्यता के लोग नौकाएँ बनाते थे। ये नौकाएँ न केवल नदियों में बल्कि समुद्र में भी चलती थी। लोथल की खुदाई में ईटों की बनी हुई १८० मीटर लम्बी और २७ मीटर चौड़ी एक आयताकार गोदी (डॉकयार्ड) मिली है। यह गादी एक नहर द्वारा उस भगवा नदी से जोड़ी गई थी जो अरब सागर में गिरती है।[८]

एरियन के अनुसार सिंकरद को (३२६ ई. पू.) भारत में वापस जाने के लिए पंजाब के लोगों ने स्व-निर्मित जलयान प्रदान किये थे। मेगस्थनीज ने मौर्यकाल की सेना में छ: विभागों को उल्लेख किया है, जिनमें एक नौसेना विभाग होता था। इस विभाग का एक अध्यक्ष और उसकी सहायता के लिए पाँच

व्यक्तियों की एक समिति होती थी।[९] कौटिल्य ने भी एक राजकीय नौ विभाग का उल्लेख किया है। जिसका अध्यक्ष नावाध्यक्ष होता था और उसकी सहायतार्थ एक समिति होती थी। कौटिल्य ने नावाध्यक्ष के कार्यों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है कि वह (नावाध्यक्ष) समुद्रतट की समीपवर्ती नदी को, समुद्र के नौ-मार्गों, झीलों तालाबों और गाँव के छोटे-छोटे जलीय मार्गों की भली-भाँति देखता रहे। मछली, मोती और शंख आदि सामुद्रिक वस्तुओं के सम्बन्ध में खानों के अध्यक्ष की ही भाँति, नौकाध्यक्ष भी प्रबन्ध करे या उसकी व्यवस्था को लागू करें। नगराध्यक्ष द्वारा नियत किए गए बन्दरगाह – सम्बन्धी नियमों का नावाध्यक्ष भली भाँति पालन करे। नाव का कप्तान (शासक), नावचालक (नियामक) लंगर डालने वाला (दायग्राहक) रस्सी या पतवार पकड़ने वाला (रश्मिग्राहक) और नौका में भरे हुए पानी को उलचने वाले (उत्सेचक), इन पाँच कर्मचारियों के रहने पर ही बड़ी-बड़ी नौकाओं को गर्मी और सर्दी में समान रूप से बहने वाली बड़ी-बड़ी नदियों में चलाने की आज्ञा नावाध्यक्ष को देनी चाहिए।[१०]

बड़े जलयानों या नौकाओं को ठहरने के लिए नियत बन्दरगाह होना चाहिये और उन पर पूरी निगरानी रखी जानी चाहिए। जिससे कि किसी शत्रु राजा के गुप्तचर उनमें प्रवेश न कर सकें। ब्राह्मण, संन्यासी बालक, बीमार, राजदूत या हलकारा और गर्भवती स्त्री को नौकाध्यक्ष की मुहर देखकर ही बिना भाड़ा के पार करा देना चाहिए। कौटिल्य ने यह भी उल्लेख किया है कि परदेशियों को पासपोर्ट मिल गया हो अथवा पासपोर्ट प्राप्त व्यापरियों के साथ जिन-जिन व्यक्यिों को जाने की अनुमति मिल गयी हो, वे ही देश में प्रवेश कर सकते हैं। पार उतारने वाले राजकीय मल्लाह सीमा प्रदेशों में व्यापारियों से मार्ग का टैक्स और उन्तपाल को दिया जाने वाला शुल्क भी अदा करें। मल्लाहों की असावधानी, अन्य आवश्यक साधनों से ही और बिना मरम्मत की सरकारी नौका यदि डूब जाये तो यात्रियों का सारा हर्जाना नौकाध्यक्ष पूरा करे।[११] कौटिल्य द्वारा वर्णित विवरण से यह स्वत: प्रमाणित हो रहा है कि उनके काल में नौ सेना विकसित हो चुकी थी। इसलिए इसका पृथक् विभाग बना दिया गया था। इससे यह भी बात स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय नरेशों ने अपनी लड़ाई सेना के एक सहायक अंग के रूप नौ सैन्य बल को विकसित किया था।[१२] हाँ इस बात से मुख नहीं मोड़ सकते कि इन जलयानों और नौकाओं का प्रयोग जलयुद्धों की तुलना में परिवहन हेतु (सामुद्रिक मार्ग द्वारा सेनाएँ, शास्त्र व अन्य साज सामान आदि के प्रेषक हेतु) अधिक किया जाता था। जलयुद्ध बहुत कम होते थे और केवल तभी किये जाते थे जब स्थल पर लड़ना असम्भव हो जाता था।[१३]

मनुस्मृति में भी जल प्रदेशों में नावों से युद्ध करने का उल्लेख मिलता है।[१४] रघुवंश में भी नाविक शक्ति का वर्णन किया गया है। हर्ष के समय में भी भाष्कर वर्मन् के विशाल नौ बल का पता चलता है।

उपर्युक्त विवरण से पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत का नौ बल सैनिक कार्य में सहायता करता था। वैसे व्यापरिक क्षेत्र में तथा विदेशों में उपनिवेश बनाने के लिए कार्य में भारतीय नाविक शक्ति विश्व-प्रसिद्ध हो चुकी थी। भरतीयों ने इस बल पर ही दूर-दूर के द्वीपों पर अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे।[१५] गुप्तकाल में भारतीय पोतकाल का भारी विकास हुआ था। किन्तु हमने केवल सांग्रामिक दृष्टि से ही इसका अध्ययन किया है।

२. विष्टि बल – आधुनिक युग की स्थल सेना में कई सहायक दल होते हैं, जिनमें सप्लाई कोर, मेडिकल कोर आदि मुख्य हैं। प्राचीन काल में चतुरंगबल की सहायता के लिए दूसरा विष्टि बल था। इसमें आधुनिक ट्रांसपोर्ट कोर, सप्लाई कोर, मेडिकल कोर, इन्जीनियर कोर, तथा आर्डनैन्स कोर आदि सभी गुणों

का समावेश था। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उद्योग पर्व में पाण्डव सेना के साथ आवागमन के प्रयोग में आने वाले वाहन, कोश, शस्त्र, भण्डार, यन्त्र चिकित्सक व चिकित्सा सामग्री आदि का उल्लेख किया गया है।[१६] उनके साथ जल, भोजन, जानवरों की खाद्य सामग्री, शहद, मक्खन आदि अनके वस्तुओं का भण्डार था।[१७] इसी प्रकार दुर्योधन की सेना के भी सैनिक सामग्री के भण्डार का वर्णन किया गया है। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना के छः प्रमुख विभाग बतायें हैं। उनके अनुसार प्रत्येक का एक प्रशासनिक कार्यालय होता था। जिसमें पाँच सदस्य होते थे। उन कार्यालयों में एक विष्टि-बल का कार्यालय भी था। उसके अधीन सैनिक, भोजन आदि को ढोने वाली बैलगाड़ियाँ रहती थी। इसके अतिरिक्त उनके कर्मचारी, घौसे बाजने वाले, चिकित्सक, भविष्य बताने वाले, यन्त्रों की मरम्त करने वाले, सैनिक अश्वों के देखभाल करने वाले व्यक्ति भी इस विष्ट बल में रहते थे। कौटिल्य ने कहा है चिकित्सक, शस्त्र, यन्त्र, औषधि, घी, तेल वस्त्र खाने-पीने की सामग्री को तथा रखने वाले स्त्री-पुरुषों को युद्ध-क्षेत्र में सेना के पिछले हिस्से में रखना चाहिए।[१८] इससे स्पष्ट हो जाता है कि चतुरंग सेना के अतिरिक्त व्यक्ति जो ऊपर बतायी हुई सामग्री का भण्डार रखते थे और आवश्यकतानुसार सैनिकों की सहायता करते थे, विष्टि बल में रहते थें। इन्हें सुरक्षा की दृष्टि से सेना के पीछे स्थान दिया जाता था। पुरुषों के अतिरिक्त कौटिल्य के अनुसार स्त्रियाँ भी इस बल में रहती थी जो सैनिकों को प्रसन्न रखती थीं। (स्त्रियश्चन्नपाररक्षिण्रुः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः)। आजकल भी सहायक दल लड़ाकू दल के पीछे ही रहते हैं।

इस विष्टि बल का मुख्य कार्य सांग्रामिक क्षेत्र में सैनिकों को भोजन, अस्त्र व शस्त्र आदि का वितरण करना था। यह विभाग ही घायल सैनिकों को युद्ध-भूमि से उठाकर चिकित्सा केन्द्र पर पहुँचाता और उनकी चिकित्सा करता था। शिविर का निर्माण करना और पड़ाव समाप्त होने पर तम्बू डेरों को उखाड़ना भी इसका कार्य था। मनुष्यों के अतिरिक्त सेना में प्रयुक्त जानवरों की देखभाल करना, उनकी खाने की सामग्री देना भी इसी विभाग का कर्तव्य था। यह विभाग जंगलों को साफ कर सेना के लिए मार्ग बनाता और सैनिकों के शस्त्रास्त्रों की तथा वाहन यन्त्रों की मरम्मत भी करता था तथा मृतक[१९] सैनिकों को युद्ध-क्षेत्र से लाकर उनका अंतिम संस्कार भी करता था। आचार्य कौटिल्य ने सैन्य रसद विभाग के अन्तर्गत निम्न उपविभागों का वर्णन किया है -

१. परिवाहन
२. कोष
३. शिल्पी एवं दक्ष श्रमिक
४. आपूर्ति विभाग
५. चिकित्सा विभाग

उक्त सभी विभागों को विष्टि विभाग के अन्तर्गत माना है।

उपर्युक्त साहित्यिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि विष्टि बल भी प्राचीन भारतीय सेना के प्रमुख सहायक बल के रूप में कार्य करता था।

३. चर (दूत) बल - चल बल का उल्लेख भारत में अति प्राचीन काल से मिलता है। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि देवगण लोक के विषय की सूचना प्राप्त करने के लिए 'चर' रखते थे। 'चर' इस लोक में सर्वत्र भ्रमण किया करते थे और प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को देखते हुए उनका पूर्ण ब्यौरा रखते थे। इसके आधार पर 'चर' लोग अपने स्वामी को तदनुसार सूचना दिया करते थे।[२०] इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में आर्य राजा भी अपने अधीन प्रजा के सुख-दुःख जानने के लिए 'चर' रखते थे। चर

प्रत्येक समय अपने इस कर्तव्य-पालन में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार वेदकालीन आर्य राज्यों में चर व्यवस्था का उदय हो गया था।

ऋग्वेद संहिता में चरों का वर्णन मिलता है। वरुण को सर्वदर्शी इसीलिए कहा गया है कि उसके चर सब प्रकार का समाचार उसे दे रहते थे।[२१] अथर्ववेद में भी चरों को वरुण के सहस्त्र नेत्र कहा गया है। रामायण और महाभारत में भी इनका विशद् वर्णन मिलता है। महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है कि शत्रु के अट्ठारह तीर्थों (अधिकारियों) (१) मंत्री (२) पुरोहित (३) युवराज (४) अंत:पुर रक्षक (५) छावनी का संस्थापक (६) कलक्टर (७) कोषाध्यक्ष (८) प्रदेष्टा (कमिश्नर) (९) सूबेदार (१०) वकील (११) मंत्री सभा का अध्यक्ष (१२) सेना रक्षक (१३) खानों का रक्षक (१४) दूर्ग रक्षक (१५) सीमा रक्षक (१६) जंगल की अधिपति (१७) प्रतिहारी के कार्यों की और अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थों, (मंत्री पुरोहित और युवराज को छोड़कर) के कार्यों का पता ऐसे चर लगाते रहे तो एक दूसरे को न जानते हों।[२२] महाभारत भीष्म पर्व के अनुसार भीष्म के चर जड़, अन्धे और बहिरे विचरण करते थे। महाभारत विराट् पर्व के अनुसार दुर्योधन ने पाण्डवों का पता लगााने के लिए गुप्तचर नियुक्ति किये थे जो पहाड़ों, दुर्गों, नगरों तथा गहन वनों में घूमते फिरते थे।[२३] युधिष्ठिर ने भी दुर्योधन की कार्य-विधियों का पता लगााने के लिए कुरु राज्य में एक चर को भेजा था, जिसने कुरुराज्य के शासन और दुर्योधन के सैनिक बल का भी पता लगाया था। रामदूत हनुमान् ने माँ सीता का पता लगाकर लंका को विध्वंस किया था।

सीता-हरण के बाद लंका नरेश ने आठ जासूसों (चर) को इस काम में लगा दिया था कि राम - लक्ष्मण की गातिविधि की सूचना बराबर देते रहें और राम के वध के लिए सदा प्रयत्नशील रहें। शत्रु सेना में भेद-नीति द्वारा फूट डालने की युक्ति का राक्षस प्राय: आश्रय लिया करते थे। राम और सुग्रीव में फूट डालने के लिए रावण ने अपने गुप्तचर शुक को नियुक्त कर रखा था। राम की सेना का बलाबल जानने के लिए भी उसने शुक, सारण और शार्दूल के नेतृत्व में कई गुप्तचरों को भेजा था। शार्दूल तो बहुत दक्ष गुप्तचर था। बड़ी सावधानी से वानरी सेना का सारा वृतान्त (जो समुद्र तट पर टिकी हुई थी।) अपनी आँखों से देख लौट गया और रावण को सूचित किया था।[२४]

मनुस्मृति में भी कहा गया है कि राजा को सदैव अपनी और शत्रु की शक्ति का पूरा ज्ञान अपनी चरों द्वारा लगाते रहना चाहिए।[२५]

अजातशत्रु के मन्त्रियों ने स्वयं वज्जियों के यहाँ 'चर' बनकर कार्य किया था। मुद्राराक्षस नामक नाटक भी प्राचीन 'चर' बल का उल्लेख करता है। उसके अनुसार चाणक्य और राक्षस दोनों के 'चर' विभिन्न वेश में घूमा करते थे। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री और राक्षस मलयकेतु का मंत्री था। चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के युद्ध का वर्णन मुद्राराक्षस नाटक का विषय है, इससे दोनों मन्त्रियों की चर व्यवस्था का और चरों की कार्यकुशलता का पता लगता है।[२६]

आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में चरों के स्थायी विभाग, कार्य एवं प्रकारों का विशेष उल्लेख किया है। आचार्य कौटिल्य के कूच करती हुई सेना के साथ, सैन्य शिविरों तथा युद्धरत सेना के साथ भी गुप्तचरों को रखने की सलाह दी है, ताकि अपने पक्ष को उत्साहित रखते हुए, शत्रु पक्ष को निरुत्साहित कर उसे पराजित किया जा सके। अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हर सम्भव तरीके (झूठ बोलना, रिश्वत अथवा विष देकर, छुरा भोंक कर अथवा स्त्रियाँ भेजकर) अपनाने की राय देकर कौटिल्य ने भेष बदलकर चालाकी से शत्रु किलों में प्रविष्ट होने तथा उसमें संचित भण्डार एवं उसे (शत्रु को) नष्ट करने के कूटनीतिक दाँव पेंच

अपनाने का भी परामर्श दिया है।[२७]

४. देशिक बल

देशिक बल के अर्थ के विषय में विद्वान् एकमत नहीं है। कुछ विद्वान् इसका अभिप्राय अपदेशक अथवा गुरु से समझते हैं तो कुछ इसका अर्थ सैन्य विद्या के शिक्षकों से लगाते हैं। यदि इनके अर्थों को सत्य माना भी जाय तो कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में पुरोहित जो सामान्यतः राजपुत्रों को सैनिक शिक्षा देते थे, युद्ध क्षेत्र में राजा के साथ जाकर राजा में उत्साह की भावना को जागृत करते रहते थे। द्रोणाचार्य जो कुरु और पाण्डु राजकुमारों के गुरु थे जिन्होंने उन्हें शस्त्र विद्या दी थी स्वयं दुर्योधन के साथ युद्ध-क्षेत्र में गए थे और उन्होंने समय-समय पर व्यूह रचना आदि में मन्त्रणा दी थी। कौटिल्य ने पुरोहितों द्वारा सैनिकों में उत्साह उत्पन्न कराने का उल्लेख किया है।[२८] वह सैनिकों को अनेक प्रकार के उपदेश देते थे। सूत और मागध भी उनके प्रकार के उपदेशात्मक विवरणों से सैनिकों मे उत्साह भरते थे।[२९] सम्भवतः ये ही देशिक कहलाते थे जो सेना को उत्साहवर्द्धक शब्दों से ही सहयोग देते थे।

किन्तु शब्द कोश में देशिक का अर्थ मार्गदर्शन भी बताया गया है। सह दल युद्ध में सेना से आगे चलकर मार्ग की सभी बातों का ज्ञान प्राप्त करता था और निजी सेना को बताया था। आजकल स्काउट भी यही कार्य करते हैं। सम्भवतः प्राचीन भारत में देशिक बल यही कार्य करता होगा। कौटिल्य ने आटविक बल का कार्य मार्ग-निर्देशन का बताया है जो सेना के आगे चलता था, वह लिखता है कि-

'मार्गदेशिकं परभूमियोग्यमरियुद्धप्रतिलोममटवी बलप्रायः शत्रुर्वा विल्वेन हन्यतामल्पः प्रसारो हन्तव्य इत्यटीबलकालः।[३०]

अर्थात् शत्रु के देश पर आक्रमण करने के समय आटविक सेना मार्गों को अच्छी प्रकार पहचान सकती है, आटविक सेना शत्रु की भूमि में युद्ध करने के योग्य आयुधों की शिक्षा प्राप्त किये हुए होती है, अथवा शत्रु के साथ युद्ध करने के लिए विजिगीषु की आज्ञा के बिना ही शत्रु से प्रतिपक्ष रूप में तैयार रहती है अथवा शत्रु प्रायः आटविक सेना को लेकर ही मुकाबला करने के लिए तैयार है, इसलिए एक बिल्वफल (बेल) के साथ टकराकर फोड़ दिया जाता है, वैसे ही अपनी आटविक सेना पर आक्रमण करना चाहिए, अथवा शत्रु के तृण, काष्ठ आदि छोटे-छोटे पदार्थों को शत्रु तक पहुँचने देने के लिए आटविक सेना का प्रयोग करना चाहिए।[३१]

इससे यह अनुमान होता है कि देशिक बल सम्भवतः मार्गदर्शक बल ही होगा। यह बल मुख्य सेना से आगे चलकर शत्रु की गति से तथा बाधाओं से मुख्य सेना को परिचित कराता होगा। मार्ग की बाधाओं को दूर भी यही करता होगा, ऐसा सम्भव हो सकता है। सह बल कौटिल्य के उपर्युक्त विवरण के अनुसार शत्रु की सेना का भी सामना करता होगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि देशिक बल भी अष्टांग सेना बल का एक प्रमुख अंग होता होगा। सम्भवतः यह वही भूमिका निभाते थे जो आधुनिक समय में स्थल सेना के स्काउट करते हैं। हिन्दू राजशास्त्र के अनुसार यह सेना के आगे-आगे पायोनियर पलटन या एडवान्स गार्ड की तरह चलते होंगे।[३२]

सन्दर्भ-सूची :

१. बी. आर. रामचन्द्र दीक्षित : 'वार इन ऐंश्येंट इंडिया' पृ. २८७
२. मेजर आर. सी. कुलश्रेष्ठ : 'पूर्वोल्लिखित', पृ. ११४
३. प्रो. ई. पी. एन. करजैन पीलाई : 'स्टडीज इन करेला हिस्ट्री, पृ. २६

४. रामायण, अयोध्या काण्ड, ८४.८
५. राधा कुमुद मुखर्जी : 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग, पृ. २६
६. प्रो. लल्लन जी सिंह, 'पूर्वोल्लिखित', पृ. १५५
७. आचार्य चतुरसेन : वयं रक्षामः, पृ. २३३
८. प्रो. लल्लन जी सिंह – 'पूर्वोल्लिखित', पृ. १५५
९. आचार्य चतुरसेन : वयं रक्षाम, पृ. २३३
१०. प्रो. लल्लन जी सिंह, 'पूर्वोल्लिखित' पृ. १३०
११. गुणाकर मुले : 'भारतीय विज्ञान की कहानी', नई दिल्ली (१९७३), पृ. २८
१२. अर्थशास्त्र – २.२८
१३. वही।
१४. मनुस्मृति – ७.१९२
१५. डॉ. कुमार स्वामी : 'आर्ट एण्ड कार्फ्ट इन इंडिया', पृ. १६६
१६. उद्योग पर्व – १५१.५८.५९
१७. उद्योग पर्व – १५२.१२–१४
१८. अर्थशास्त्र, १०.३.६२
१९. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, 'हिन्दू राज्यशास्त्र, प्रयाग (२००६), पृ. २६२
२०. ऋग्वेद ८.१०.१०
२१. वैदिक इंडेक्स : भाग–२, पृ. १३
२२. सभापर्व – ५.३८
२३. विराट पर्व – २५.२६
२४. प्रो. लल्लन जी सिंहः 'पूर्वोल्लिखित', पृ. १७३
२५. मनुस्मृति – ९.२९८
२६. मेजर आ. सी. कुलश्रेष्ठः 'पूर्वोल्लिखित' पृ. ११७
२७. प्रो. लल्लन जी सिंहः, 'कौटिल्य का युद्ध दर्शन', पृ. १३२
२८. अर्थशास्त्र १०.३.३२–३३
२९. अर्थशास्त्र १०.३.४९
३०. अर्थशास्त्र ९.३.२५
३१. मेजर आ. सी. कुलश्रेष्ठ, 'पूर्वोल्लिखित', पृ. ११८
३२. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : 'हिन्दू राज्यशास्त्र' प्रयाग (२००६), पृ. २६२

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

वेदों में पर्यावरण की अवधारणा

डॉ. मोना बाला*

सारांश- *वेदों में पर्यावरण की मूल अवधारणा का साक्षात्कार होता है, वेदों में मूल रूप से प्रकृति उपादानों के अधिष्ठाता देवताओं की स्तुतियाँ संग्रहीत हैं। वेद काल मानव प्रकृति के सर्वाधिक निकट था, उसके जीवन के सभी क्रियाकलापों में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में सूर्य, इन्द्र, मरुत्, अग्नि, वरुण, उषस्, पर्जन्य आदि की स्तुतियाँ है, जो प्रकृति के किसी उपादान की भव्यता एवं महत्त्वता के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित होते हैं। वेदों में सूर्य को दिन-रात का नियामक बताया गया है। साथ ही उसके जीवन के क्रिया-कलापों में रत होने का प्रेरक बताया गया है। सूर्य की ऊष्मा से कीटाणु का नाश होता है, इसका वर्णन भी उपलब्ध है जो तत्कालीन विज्ञान पर प्रकाश डालती है। वेदों में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया, वाष्पीकरण की क्रिया आदि वर्णन संकेत रूप में प्राप्त होता है। वेदों में जल तत्त्व की महत्त्वता समझी गयी है। यही कारण है कि बारम्बार वेदों में जल से सम्बन्धित वृष्टि, नदियों, तालाबों आदि का वर्णन प्राप्त होता है। वेद सृष्टि के आरम्भ में सलिल से बताया है। वृष्टि का जल, अन्न, औषधि आदि सम्पोषण करती है, यह सभी मानव के हेतु अनिवार्य हैं। वेदों में ऋतु चक्र का वर्णन प्राप्त होता है। साथ ही प्रकृति प्रदत्त उपादानों के संरक्षण एवं स्वच्छता को भी वेद में बल मिला है। वेदों में पर्यावरण सम्बन्धी सभी आयाम प्राप्त होते हैं।*

मुख्य शब्द- वेद, प्रकृति, जल, पर्यावरण, वृष्टि।

प्रस्तावना

पर्यावरण शब्द दो शब्दों के योग से बना है- परि + आवरण। परि से आशय है चारों ओर तथा आवरण से अर्थ है वातावरण। जिसका अर्थ हुआ चारों ओर का वातावरण। पर्यावरण एक वृहद् अर्थ में प्रकृति प्रदत्त आवरण जो हमें प्राप्त है। सृष्टि के आरम्भ में मानव को प्रकृति ने जो दिया उसने उसके साथ ही अपने जीवन की क्रियाओं को जोड़ा। मानवीय सभ्यता में वेद ग्रन्थों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह संसार की सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है जिनमें मानव प्रकृति से अभिन्न था यही कारण है कि वह प्रकृति विभिन्न उपादानों के प्रति नत है। काल के आरम्भ में प्रकृति तत्त्वों की विशेषता का अंदाजा इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद की सारी स्तुतियाँ प्रकृति मानक उपादानों को ही समर्पित है। ऋग्वेद के ऋचाओं में निश्चित रूप से प्रकृति सुन्दर एवं सम्पन्न रूप में दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण, मरुत, सूर्य, उषस्, पर्जन्य, पूषन्, रात्रि, सरस्वती, पृथिवी, सोम, मित्र आदि की स्तुतियाँ हैं। ये सभी प्रकृति के विविध उपादानों के अधिष्ठाता हैं तथा इनकी स्तुतियों में प्रकृति का भव्य एवं सुरम्य रूप बहुधा व्याख्येय है। ये सभी देव महान् एवं शक्तिशाली थे। ये अपनी शक्तियों से प्रकृति के नियमों की व्यवस्था

* अतिथि शिक्षक, संस्कृत स्नातकोत्तर विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार

करते थे।

ऋग्वेद में सूर्य की उपासना की गई है वह सूर्य जो हमें नित्य अपनी ऊर्जा एवं ऊष्मा से भर देता है। यह साकार देव हैं। सूर्य का जो वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है उसमें सौरमण्डल के प्रत्यक्ष रूप का निर्देश किया गया है। उसे सर्वद्रष्टा, दूरदर्शी एवं मानव के सत्य-असत्य कर्मों का साक्षी कहा गया है। वैयाकरण लोगों ने सूर्य के विषय में 'सरत्याकाशे इति सूर्यः' कहा है। आकाश में गमन करने वाला सूर्य को जगत् की आत्मा कहा गया है – '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**।[१]

सूर्य को सम्पूर्ण दिन में कार्य करते बताया गया है। साथ ही सूर्यास्त से ही रात्रि में सभी प्राणि को अपने स्थलों पर व्यवस्थित बताया गया है। यह सूर्य के साथ सदैव जुड़ा सत्य है। ऋग्वेद में कहा गया है–

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ।।[२]

इस स्तुति में सूर्य किरणों को दिन और रात्रि का जनक बताया गया है। दिन में शुक्ल एवं रात्रि में कृष्णवर्ण की तेज किरणें आती हैं।

सूर्य की दिव्य किरणों से कहा गया है कि उदय के समय पाप कर्म से मुक्त करें एवं निन्दनीय कर्मों से पृथक् करें। इन प्रार्थनाओं में सूर्य के महत्त्व को समझा जा सकता है। सूर्य की किरणों से ही औषधि एवं पौधों का भी नित्य कर्म शुरू होता है। विज्ञान में सूर्य के किरणों का महत्त्व समझा तथा पादपों में प्रकाश संश्लेषण क्रिया को बताया है। साथ ही सूर्य के नियामक रूप का परिचय प्राप्त होता है। इन्द्र के द्वारा जगत् को दर्शनार्थ हेतु सूर्य देव को उच्चाकाश में स्थापित किया –

इन्द्रे दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरवत् ।।[३]

अर्थात् सूर्य उच्च आकाश से जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं। अथर्ववेद में कृषि को समर्पित एक पूर्ण सूक्त है जिसमें उदित एवं अस्त होते हुए सूर्यदेव अपनी किरणों से पृथ्वी के समस्त कीटाणु का नाश कर देते हैं –

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गावि ।।[४]

सूर्य किरणों में रोगनाशक वायरस के नाश का संकेत वेदों में प्राप्त होता है। कीटाणु पर गर्मी का असर होता है, यह वेद काल में भी ज्ञात था।

वेदों में 'उषस्' की स्तुतियाँ हैं, जिसमें दिशा के लिए प्रकृति उपादानों की सहायता ली जाती थी ऐसा प्रतीत होता है। उषा प्रभातकाल की देवी है सूर्योदय के पूर्व के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन के साथ उषा (उषस्) की स्तुति है उषस् की स्तुति में बताया गया है कि वे (उषा) प्रकृष्ट क्रान्ति से युक्त ज्योति पूर्व दिशा में अन्धकार का हनन करती है।

इदमुत्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात् ।
नुनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ।।[५]

उषस् पूर्व दिशा से अन्धकार को हटाकर मानव समूह के गमनादि व्यापार के लिए प्रेरित करती है। यह वर्णन मानव के लौकिक जीवन एवं दिशा ज्ञान का आभास दिलाती है। उषा को पूर्व दिशा में अवस्थित बताया गया है। यह प्रकृति की वह क्रिया जो अब तक वैसी है। उषस् से जगत् अपने कार्यों में लग जाता

है।

ऋग्वेद में मरुत् देव का वर्णन प्राप्त होता है। इन्हें प्रबल आँधी या झंझावात का देवता माना गया है। ये वृष्टि कराते हैं। इसे इन्द्र का मित्र बताया गया है, जो शत्रुओं को हराने में इन्द्र की सहायता करते हैं। मरुत् के रथ को विधुत के समान चमकीला बताया गया है, जिन्हें श्वेत बिन्दुओं से युक्त हरिणियाँ खींचती हैं। यह वर्णन आँधी और झंझावात के समय दिखने वाली बिजली से साम्य रखता है। मरुत् पहाड़ों को हिला देने वाला तथा सूर्य से आछन्न करने वाला है। वैसे तो झंझावात की स्थिति में भय का सृजन होता है; परन्तु मरुतों को अत्यन्त सौम्य देवता बताया गया है। झंझावात में वृष्टि के साथ ही साथ तेज गति से हवाएँ भी चलती है। तेज गति की हवाएँ भयावह स्थिति तो बनाती है लेकिन वृष्टि में मानव कल्याण है। वृष्टि अन्न-औषधि, फल-फूल आदि के सम्वर्धन में मदद करती है।

प्र यद्रथेशु पृषतीरयुग्धं वाजे अद्रिं मरुतो रहयन्तः।
उतारुषस्य विष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम ।।[६]

वरुण जो वेदों के अनुसार जल के देवता हैं। वेदों में जल तत्त्व की महत्ता समझी गई है। यही कारण है कि वेदों में वरुण एक महत्त्वपूर्ण देव हैं। जल को सभी प्राणियों, वनस्पतियों एवं औषधियों का पोषक एवं रक्षक माना गया है। एक मन्त्र में कहा गया है -

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
स नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।[७]

अर्थात् जिस भूमि पर व्यापक जल समान रूप से निर्बाध गति से रात्रि-दिन सब ओर प्रवाहित होता है, वह अनेक जलधाराओं वाली भूमि हमारे लिए जल रूपी दूध का दोहन करे और उसके द्वारा हमारा बल तेज से सिंचन करे। मानव के जीवन में प्रायः जल तत्त्व का बड़ा महत्त्व है। यही कारण है कि नासदीय सूक्त में सलिल को ही सब कुछ बताया गया है।

वेद में पर्जन्य की स्तुतियाँ है। वास्तव में जल बरसाने वाले मेघ को ही पर्जन्य कहा गया है अर्थात् इनका सम्बन्ध भी वृष्टि से ही माना गया है।

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति।
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ।।[८]

अर्थात् जिस देवता के अनुशासन में कार्यक्रम के अन्तर्गत पृथ्वी अत्यधिक झुक जाती है जिस देवता के अनुशासन में खुर वाले प्राणियों का समूह इधर-उधर भ्रमण करता है और जिसके एक स्तुति में पर्जन्य से औषधि वनस्पति एवं प्राणियों को सुख प्रदान करने की प्रार्थना है वही एक अन्य ऋचा में पर्जन्य को प्राण-दाता एवं पालक माना गया है।

दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः ।
अर्वाड़ेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषि चन्नसुरः पिता नः ।।[९]

इस प्रार्थना में वृष्टि जल के महत्त्व एवं जल तत्त्व से चराचर पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन प्राप्त है। वैसे एक अन्य ऋचा में पर्जन्य से अतिवृष्टि न करने की बात भी कही गयी है। पर्जन्य को एक जलपात्र के साथ वर्णित किया गया है। एक ऋचा में वाष्पीकरण की क्रिया को भी बताया गया है जिसमें यह कहा गया है कि हे देव विशाल जल भण्डार को ऊपर खीचों तथा जल से आकाश और पृथ्वी को अच्छी तरह भिगो दो। ऋग्वेद के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं पूज्य देवता इन्द्र हैं। इनकी स्तुति में २५० सूक्त निवेदित

किये गये हैं। इन्द्र को वृष्टि से सम्बन्धित देवता माना गया है; क्योंकि इन्द्र ने ही अपने वज्र से वृत्र नामक असुर का नाश किया था। विद्धानों ने वृत्र को मेघों से बरसने वाले के रूप में बताया है। अकाल से पीड़ित पृथ्वी को मेघ बरसाने के लिए वज्र का प्रयोग किया जिससे धरती शस्यश्यामला हो गई एवं प्राणियों की रक्षा हुई। एक ऋचा में कहा गया है–

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो मा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्यु स जनास इन्द्रः।।[१०]

अर्थात् जिसमें सर्पाकार राक्षस को मारकर सात नदियों को प्रवाहित किया जिसने वल नामक असुर की गुफा से गायों को छुड़ाया था, जिसने दो मेघों के बीच अग्नि को उत्पन्न किया था। युद्धों में वह संहारक है, वही इन्द्र है। इसमें सर्पाकार राक्षस को डॉ. उमा शंकर शर्मा 'ऋषि' ने जलरोधकमेघ, वृत्र माना है। स्पष्ट है कि धरती की खुशहाली के लिए वृष्टि कितनी अनिवार्य है। सप्त नदियों को जीवन भी इसी वृष्टि से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर ऐसा वर्णन है जिससे लगता है कि इन्द्र समस्त प्रकृति तत्त्वों के धाता हैं –

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यनि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्।।[११]

इन्द्र के द्वारा मेघों को विदीर्ण कर जल बरसाया और ये जल राशि समुद्र की ओर दौड़ी चली जा रही है। ऐसा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन्द्र के मेघों को विदीर्ण कर आकाश में उषा एवं सूर्य प्रकट किया। ऋग्वेद में जल के अमृतोपम गुण के विषय में कहा गया है। जल को औषधीय गुण से युक्त बताकर प्रशंसा की गई है –

अप्स्वश्न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः।।[१२]

वेद जल को सूर्य की किरणों में समाहित बताया गया है। उन जलों से यज्ञ में उपस्थित होने के लिए स्तुति की गई है – **अमूर्या उप सूर्यो याभिर्वा सूर्यः सह। त नो हिन्वन्त्वध्वरम्।।**[१३] जीवन रक्षक औषधियों को जल से सम्बन्धित बताया गया है। अथर्ववेद में वाष्पीकरण की विधा को बताया गया है। वहाँ बताया गया है कि यज्ञ से उत्पन्न पोषक तत्त्व वापस यज्ञ कर्त्ताओं के लिए पय (पानी) के साथ मधुर रस मिलाती है।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वनीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः।।[१४]

आगे कहा गया है कि सूर्य के सम्पर्क में आकर पवित्र हुआ वाष्पीकृत जल अपनी शक्ति के साथ पर्जन्य वर्षा के रूप में हमारे सत्कर्मों को बढ़ाए एवं यज्ञ को सफल करे।

अथर्ववेद में जल के महत्त्व पर विस्तार से चर्चा की गई है जल को प्राणियों का सुखदाता, कल्याणप्रद रस एवं व्याधि निवारक बताया गया है। प्राणिमात्र के लिए जल की साक्षात् महत्त्वा तो है ही साथ ही परोक्ष रूप से भी जल, औषधि एवं वनस्पतियों को भी प्राण देता है। भूमि की उर्वरता में सहायक है अर्थात् प्राणी के जीवन में अन्न, औषधियाँ आदि भी जल के कारण ही मानव को प्राप्त होते हैं। वेदकाल में ही जल के महत्त्व को समझ लिया गया था। यही कारण है कि आपः की स्तुति बारम्बार की गई है। वाक्सूक्त में जगत् कारण रूप वाणी अपना आश्रयास्थल समुद्र के भीतर आपः में बताती है।

ऋग्वेद का एक महत्त्वपूर्ण देवता अग्नि हैं। अग्नि को सृष्टि कारण में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। अंधकार के डर से बचाने अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है साथ ही यज्ञ स्थलों में ये पवित्र अग्नि हवि को अन्य देवता तक पहुँचाती है। आधुनिक विज्ञान ने यह माना है कि यज्ञ आदि से उठा धुआँ मेघ निर्माण करता है एवं अग्नि की ऊष्मा से तरह-तरह के रोगों का नाश होता है।

अथर्ववेद में कृषि से सम्बन्धित सूक्त है जिसमें जल के देवताओं से भूमि सिञ्चित करने की स्तुति की गई है - **शुनासीरेह स्म मे जुषेधाम् । यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुपसिञ्चतम् ।।**[१५] अथर्ववेद में पृथ्वी सूक्त है जिसमें सभी भूतों को पृथ्वी का सन्तान बताया गया है। पृथ्वी की प्रशंसा करते कहा गया है -

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ।।[१६]

यह पृथ्वी समुद्र, नदियों, नहर, झीलें, तालाब आदि जल साधन भिन्न प्रकार के अन्न, फल आदि के साथ कृषक्, शिल्प, उद्यमी सभी को धारण करती है। पृथ्वी सूक्त में पर्यावरण की स्वच्छता की बात की गई है। पृथ्वी से प्रार्थना की गई है वो पवित्र एवं स्वच्छ जल प्रवाहित करते रहे।

पृथ्वी सूक्त में ऋतु चक्र का वर्णन प्राप्त है इसमें ऋतु का क्रम बताया गया है -

गीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरोवसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुह्यताम् ।।[१७]

इसमें भौगोलिक प्रक्रिया का स्पष्ट वैज्ञानिक संकेत प्राप्त होता है। ग्रीष्म ऋतु से तपती पृथ्वी वाष्पीकृत हो मेघ बनाती है। वर्षा ऋतु में वृष्टि से पृथ्वी तापमान ठीक हो जाता है।

वैदिक काल में मानव सृष्टि के पंचतत्त्वों के उपादानों के अधिकृत देवता के समक्ष अपने जीवन सम्पन्नता हेतु प्रार्थना करता दिखता है। उसकी इन्हीं प्रार्थनाओं में ही विज्ञान के मूल छिपे हुए हैं, जो पर्यावरण के कारकों को पुष्ट करते हैं।

सन्दर्भ-सूची :

१. ऋग्वेद १.११५.१ का अंश
२. ऋग्वेद १.११५.५
३. ऋग्वेद १.७.३
४. अथर्ववेद २.३२.१
५. ऋग्वेद ४.५१.१
६. ऋग्वेद १.८५.५
७. अथर्ववेद १२.१.९
८. ऋग्वेद ५.८३.५
९. ऋग्वेद ५.९६.६
१०. ऋग्वेद २.१२.३
११. ऋग्वेद १.३२.१
१२. ऋग्वेद १.२३.१९
१३. ऋग्वेद १.२३.१७
१४. अथर्ववेद १.४.१
१५. अथर्ववेद ३.१८.७
१६. अथर्ववेद ३.१.३
१७. अथर्ववेद ३.१.३६

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

पारस्करगृह्यसूत्रोक्त संस्कार-एक विवेचनात्मक अध्ययन

श्री गोविन्द सरकार*

सम्+कृञ्+घञ् से निष्पन्न 'संस्कार' शब्द का प्रयोग संस्कृति, संस्करण, स्वरूप, शिक्षण, प्रशिक्षण, अलङ्करण, आभूषण आदि अर्थों में होता है। संस्कारों से अन्तःकरण शुद्ध होता है। संस्कार मनुष्य को पाप और अज्ञान से दूर रखकर आचार–विचार और ज्ञान–विज्ञान से संयुक्त करते हैं।

संस्कारों की संख्या पर विद्वानों में प्रारम्भ से ही कुछ मतभेद रहा है। गौतमस्मृति में चालीस (४०) संस्करों का वर्णन किया है।[१] महर्षि अंगिरा ने २५ संस्कार निर्दिष्ट किये हैं। महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रतिपादित स्मृति में षोडश संस्कार का वर्णन किया गया है। यथा–

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया।।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः।।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः।[२]

पारस्कराचार्य ने संस्कार विधान की दृष्टिकोण से मध्य मार्ग ही अपनाया है। आचार्य ने अपने गृह्यसूत्र में त्रयोदश संस्कारों का ही वर्णन किया है–

१. विवाह संस्कार	२. गर्भाधान संस्कार
३. पुंसवन संस्कार	४. सीमन्तोन्नयन संस्कार
५. जातकर्म संस्कार	६. नामकरण संस्कार
७. निष्क्रमण संस्कार	८. अन्नप्राशन संस्कार
९. चूड़ाकरण संस्कार	१०. उपनयन संस्कार
११. केशान्त संस्कार	१२. समावर्तन संस्कार
१३. अन्त्येष्टि संस्कार	

१. विवाह संस्कार

त्रयोदश संस्कारों में पारस्कराचार्य ने विवाह संस्कार को आरम्भ बिन्दु माना है। विवाह मानव जीवन का एक आवश्यक एवं अपरिहार्य संस्कार है। वैवाहिक जीवन के बिना समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। विवाह समाज निर्माण की एक आधारशिला। आचार्य पारस्कर ने विवाह के प्रकार, असगोत्र विवाह, प्रतिलोम, वैवाहिक उम्र, कुल परीक्षा आदि की चर्चा कहीं नहीं की है। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन अवश्य किया है। किन्तु वर्णानुपूर्व्येण अनुलोम विवाह के वे पक्षधर रहे हैं– **'तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण'**[३], **'द्वे राजन्यस्य।'**[४] बाल–विवाह के वे विरोधी हैं। एक मन्त्र के अनुसार पाँच वर्ष तक

---

* शोधछात्र, संस्कृत विभाग, रायगञ्ज विश्वविद्यालय, रायगञ्ज, उत्तर दिनाजपुर, पश्चिम बंगाल

की कन्या सोम को, पाँच से दश तक गन्धर्व को, तथा पन्द्रह वर्ष की वय तक अग्नि को प्राप्त होती है। इसके बाद ही उस कन्या का कोई पुरुष ही पति हो सकता है –

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।।[५]

पारस्करगृह्यसूत्र के मन्त्रों से पता चलता है कि कोई बलवान् पुरुष (श्रीहरिहर मिश्र के अनुसार यह बलवान् पुरुष वर ही होता है) वधु को उठाकर पूर्व या उत्तर दिशा में पहले से बने कोहबर में, गाड़ी में जुतने वाले लाल बैल के चमड़े पर '**इह गावो निषीदन्तु**'[६] इत्यादि मन्त्र पढ़कर बिठा दे। वैवाहिक विधि की भी उन्होंने अनेक चर्चाएँ की हैं और अन्त में उन्होंने कहा है कि ग्राम की वृद्धायें जो कहें वह लोकाचार उसी तरह करना चाहिए;[७] क्योंकि स्मृतियों में कहा गया है कि विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों में शास्त्रीय आचार के अतिरिक्त कुल की वृद्धाओं की वाणी को प्रमाण मानकर चलना चाहिए।[८] इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय लोक-रीतियों का पालन भी उनका अभीष्ट रहा है।

२. गर्भाधान संस्कार

विधिपूर्वक संस्कार से युक्त गर्भाधान से अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है। इस संस्कार से वीर्य सम्बन्धी तथा गर्भ सम्बन्धी पाप का नाश होता है, दोष का मार्जन तथा क्षेत्र का संस्कार होता है। यही गर्भाधान संस्कार का फल है –

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्।।[९]

गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष जिस भाव से भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज-वीर्य में भी पड़ता है। उस रज-वीर्यजन्य संन्तान में भी वे भाव प्रकट होते हैं –

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः।।[१०]

स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टा से संयुक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभाव का होता है। पारस्कर के अनुसार प्रथम वार विवाह के चौथे दिन, रात्रि के पिछले प्रहर में गर्भाधान करना चाहिये। इसके लिए उन्होंने पद्धति में अनेक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। यद्यपि गर्भाधान का मूल उद्देश्य सन्तानोत्पादन है, फिर भी इसमें कामसुख की उपेक्षा भी नहीं की जाती है– '**यथाकामी वा काममाविजनितोः सम्भवामेति वचनात्।।**[११] पत्नी यदि गर्भाधान में असमर्थ हो तो उसके लिए भी पारस्कर ने अनेक उपाय और उपचार भी बतलाए हैं – श्वेतपुष्पों वाली कण्टकारिका को पुष्प नक्षत्र के साथ चन्द्रयोग होने पर उपवास करके जड़ के साथ उखाड़ लें। पुनः पत्नी के रजोदर्शन के चौथे दिन जब वह स्नान करके शुद्ध हो जाये तो रात में पानी के साथ पीसकर उसके रस की दो-चार बूंदे उसकी नाक के दाहिने छिद्र में '**इयमोषधी...** '[१२] इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए डाल दें।

३. पुंसवन-संस्कार

शौनक ने वीरमित्रोदय के संस्कारप्रकाश (भाग १, पृष्ठ १६६ में) कहा है– जिसके अनुष्ठान गर्भगत सन्तान पुत्र के रूप में प्राप्त हो, उसे 'पुंसवन' संस्कार कहते है– '**पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्।** पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार यह संस्कार गर्भगत सन्तान के स्फुरण से पहले अर्थात् गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में होना चाहिए– '**पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा।**'[१३] इस संस्कार

के लिये पारस्कर ने शुभ नक्षत्र, दिन और तिथि का भी निर्देश किया है।[१४]

४. सीमन्तोन्नयन संस्कार

आचार्य पारस्कर के अनुसार गर्भ के छठे या आठवें मास में यह संस्कार पुरुष नक्षत्र में पुत्र-कामना हेतु किया जाता है- **'प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा।'**[१५] इस संस्कार का फल भी गर्भ की शुद्धि ही है। जगदीशचन्द्र मिश्र ने पारस्करगृह्यसूत्र में कहा है- 'यद्यपि आज के युग में बेटे-बेटियाँ बिन बुलाये मेहमान हैं। बच्चे पैदा होना बिल्कुल आकस्मिक है। इसके लिए कोई किसी संस्कार की आवश्यकता महसूस नहीं करता। आज के लोग सन्तान नहीं होने की स्थिति में अवश्य चाहते हैं; इसलिए नहीं कि उन्हें पुत्र प्रिय है, बल्कि उन्हें अपनी सम्पत्ति से मोह है कि कल-दिन इसका मालिक कौन होगा? यह प्रश्न उठता है, उनके सामने, किन्तु ऋषि-मुनियों की दृष्टि में पुत्र-जन्मोत्सव एक महत्त्वपूर्ण विषय है।[१६]

५. जातकर्म संस्कार

पारस्करगृह्यसूत्र में जातकर्म को **'सोष्यन्तीकर्म'**[१७] भी कहा है। इस संस्कारसे गर्भस्त्रावजन्य सारा दोष नष्ट हो जाता है। पारस्कर की दृष्टि में प्रसव-शूल के समय से ही जातकर्म प्रारम्भ हो जाता है। आचार्य के अनुसार बच्चा जन्म लेने के बाद तथा नाल कटने से पहले बालक के पिता शिशु के बुद्धि उत्पादन एवं आयुवर्द्धन हेतु जातकर्म करें।[१८] नालछेदन से पूर्व बालक को स्वर्ण की शलाका से अथवा अनामिका अँगुली से घी और मधु प्राशन का विधान है। इसमें स्वर्ण त्रिदोषनाशक है। घृत आयुवर्धक तथा वात-पित्तनाशक है एवं मधु कफनाशक है। इन तीनों का सम्मिश्रण आयु, लावण्य और मेधाशक्ति को बाढाने वाला तथा पवित्रकारक होता है। इसमें अनेक वैदिक क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

पारस्कर के अनुसार बालक के पिता अथवा आचार्य को बालक के कान के पास उसके दीर्घायु के लिये इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये- **'अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मान्। तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।'**[१९] ऐसे अष्ट आयुष-मन्त्रों को बालक के कान के पास गम्भीरतापूर्वक जप कर उसके मन को उत्तम भावों से भवित करें।

६. नामकरण संस्कार

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कार्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म।।[२०]

सांसारिक सम्पूर्ण व्यवहार का कारण यह नाम ही है। यह कल्याणप्रद कर्मों में भाग्य का साधक है, निमित्त है। नाम से ही मनुष्य यशस्वी है, अतः नामकरण संस्कार अत्यन्त आवश्यक है। पारस्कर के अनुसार जन्म के दश दिन बाद पिता बालक को सूतिकागृह से बाहर लाये। फिर तीन ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद शिशु का नामकरण-संस्कार करें। बच्चे के नाम दो या चार अक्षरों का होना चाहिये। उसका पहला अक्षर घोष वर्ण हो। मध्य में अन्तःस्थ वर्ण में से किसी एक को होना चाहिए। नाम के अन्तिम वर्ण दीर्घ हो, कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो। कन्या के नामकरण में विषम वर्णी अर्थात् तीन, पाँच, सात अक्षर हों। अन्तिम वर्ण दीर्घ हो और तद्धितान्त हो। नाम सुनने में श्रवण सुखद एवं उच्चारण सुलभ होना चाहिए। नाम ऐसा हो जिसे सुनते हि लिङ्ग-भेद हो जाये।

७. निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण संस्कार का अर्थ है बच्चे को घर के वायु मण्डल से निकल कर बाहर के वायु मण्डल में ले आना। इस संस्कार का फल विद्वानों ने आयु की वृद्धि बताया है- **'निष्क्रमणादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्टा**

मनीषिभिः।' पारस्कराचार्य ने इसे **'निष्क्रमणिका'**[२१] संस्कार कहा है। यह संस्कार बालक के चौथे मास में सूर्यादि देवताओं का पूजन करके बालक को उनके दर्शन कराना इस संस्कार की मुख्य प्रक्रिया है। बालक को बाह्य जगत् से परिचित कराने से पूर्व – **'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रबवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्'**[२२] मन्त्र के साथ सर्वप्रथम सूर्यदर्शन करायें।

८. अन्नप्राशन संस्कार

इस संस्कार के द्वारा माता के गर्भ में मलिन भक्षण–जन्य जो दोष बालक में आ जाते हैं, उनका नाश हो जाता है– **अन्नाशनान्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुध्यति।** आचार्य सुश्रुत के अनुशार छठे महीने में शिशु को माँ के स्तन से अलग हटा देना चाहिए और उसे अन्न पर निर्भर होने की आदत डालनी चाहिए– **'षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च ।'**[२३] आचार्य के अनुसार जब बालक छः मास का होता है और दाँत निकलने लगते हैं, पाचन शक्ति प्रबल होने लगती है, तब यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार के अन्तर्गत देवों को खाद्य–पदार्थ निवेदित करके अन्न खिलाने का विधान बताया गया है। यदि पिता चाहे कि पुत्र को वाग्मी बनाना चाहे तो भरद्वाजी (मादा) पक्षी के मांस से प्राशन कराये। अन्न–भक्षण के योग्य बनाना चाहे तो पहले वह उस वच्चे को कपिञ्जल पक्षी का मांस चखाये। शिशु में यदि धावक शक्ति का विकास चाहे तो उसे मछली खिलाना चाहिए। चिरायु की कामना से केकड़े के मांस तथा ब्रह्मवर्चस की कामना से जल पक्षी के मांस से अन्नप्राशन कराये।[२५]

९. चूड़ाकरण संस्कार

इसका फल स्वास्थ्य, सौन्दर्य, स्वच्छता, शक्ति–संवर्धन तथा तेजकी वृद्धि करना है। इसे प्रायः तीसरे वर्ष अथवा अपने कुल परम्परा के अनुसार करने का विधान है।[२६] यदि किसी कारणवश उक्त अवधि में यह कार्य सम्पन्न न हो सके तो सुविधानुसार जब भी चाहें यह कृत्य अवश्य सम्पन्न करें। पारस्कर ने बाह्मण–भोजन से ही इस संस्कार का समारम्भ किया है। चूड़ाकरण संस्कार में शिखा संरक्षण होता है।

१०. उपनयन संस्कार

उपनयन संस्कार से द्विजत्व की प्राप्ति होती है। शास्त्रों तथा पुराणों में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस संस्कार के द्वारा ब्राह्मण–क्षत्रिय और वैश्य का द्वितीय जन्म होता है। विधिवत् यज्ञोपवीत धारण करना इस संस्कार का मुख्य अङ्ग है। पारस्कराचार्य के अनुसार जन्म से आठवें साल में ब्राह्मण बालक का, एकादश वर्ष में क्षत्रिय कुमार का और बारहवें वर्ष में वैश्य वालक का उपनयन संस्कार करना चाहिए, अथवा सभी वर्णों का सुविधा या कुल–परम्परा के अनुसार उपनयन संस्कार होना चाहिए।[२७]

११. केशान्त संस्कार

इस संस्कार से पारस्कराचार्य का तात्पर्य प्रायः प्रथम बार दाढ़ी–मूँछ कटवाने से है। **'समुखं केशान्ते'**[२८] का तात्पर्य भी यही है। आचार्य ने इस संस्कार को कुछ नियमों में आबद्ध कर दिया है। पहली बार दाढ़ी–मूँछ कटवाने पर पारस्कर ने गोदान की व्यवस्था की है। इसीलिये अन्य सूत्रकारों ने इसे गोदान की भी संज्ञा दी है। केशान्त संस्कार के बाद एक वर्ष, बारह दिन, छः दिन या अन्ततः तीन दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।[२९]

१२. समावर्तन संस्कार

विधिवत् वेदाध्ययन समाप्त कर जब ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा लेकर स्नान करता है, तब उसे स्नातक

कहता हैं। इसीलिए पारस्कर ने समावर्तन के लिए स्नान शब्द का प्रयोग किया है। पारस्कर[३०] ने तीन प्रकार के स्नातकों का उल्लेख किया है–

१. विद्यास्नातक– जो कुमार वेद का अध्ययन तो करता है, परन्तु व्रत का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाता।

२. व्रतस्नातक– जो स्नातक व्रत–पालन करने पर भी वेद का अन्त नहीं कर पाता।

३.विद्याव्रतस्नातक– जो ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक वेद का अध्ययन करते हुए व्रत का भी निर्वाह करता है और उसमें सफल सिद्ध होता है।

१३. अन्त्येष्टि संस्कार

मृत्यु जीवन का अनिवार्य अङ्ग है– '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।**'[३१] यह संस्कार मरण के पश्चात् मृत शरीर को अग्नि प्रदान करके वैदिक मन्त्रों द्वारा दाह क्रिया से सम्पन्न किया जाता है। इसलिए आचार्य ने अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध अनेक विधि–विधानों का सविस्तर वर्णन तृतीय काण्ड की दशम कण्डिका में प्रस्तुत किया है। अशौच तथा शव–संरक्षणजन्य व्यवस्था के विभिन्न स्तरों का जहाँ आचार्य ने वर्णन किया है, वहीं मृतक के परिजनों को कैसे सान्त्वना देनी चाहिए, अन्तिम संस्कार समाप्त कर किस प्रकार घर लौटना चाहिए, शवयात्रा में कैसे लोग सम्मिलित हों, अन्त्येष्टि के बाद घर लौट कर क्या–क्या करना चाहिए, इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया गय है। पारस्कर के अनुसार श्मशान से लौटने के बाद घर के दरवाजे पर रखे पहले नीम के पत्ते को दाँत से चबाये, उसके बाद आचमन कर ले। पुनः पानी, आग, घी, गोबर, सरसों और तिल के तेल को छुएँ। पुनः पत्थर को लाँघ कर तब घर में प्रवेश करे।[३२] जब तक अशौच समाप्त न हो जाय, तब तक स्वयं वेदों का अध्ययन न करे और न अध्यापन ही करना चाहिए।[३३] आचार्य के अनुसार ब्रह्मणों का अशौच काल दश दिन, क्षत्रियों का बारह दिन, वैश्यों का पन्द्रह दिन तथा शूद्र का तीस दिन तक रहता है।[३४] इस सन्दर्भ में मनु का कथन है –

शुध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति।।[३५]

।। इति शम् ।।

सन्दर्भ-सूची

१. गौतमस्मृति ८.३
२. व्यासस्मृति १.२३-२५
३. पारस्करगृह्यसूत्रम्, का. १, क. ४, सू. ८
४. वही, का. १,क. ४, सू. ९
५. वही, का. १, क. ४, सू. १६
६. वही, का. १, क. ८, सू. १०
७. वही, का. १, क. ८, सू. ११
८. वही, का. १, क, ८, सू. १२–१३
९. स्मृतिसंग्रह।
१०. सुश्रुतसंहिता, शरीरस्थान २.४३.५०
११. पारस्कर, का. १, क. ११, सू. ८

१२. वही, का. १, क. १३, सू. १
१३. वही, का. १, क. १४, सू. २
१४. वही, का. १, क. १४, सू. ३
१५. वही, का १, क. १५, सू. ३
१६. वही, पृ. १७
१७. वही, का. १, क. १६, सू. १
१८. वही, सू. ३
१९. वही, सू. ५
२०. वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश, भा. १, पृ. २४१
२१. पा. गृ., का. १, क. १७, सू. ५
२२. य. सं. ३६.२४
२३. सुश्रुतसंहिता, शरीरस्थान १०.६४
२४. पा. गृ., का. १, क. १९, सू. १
२५. वही, का. १, क. १९, सू. ७-११
२६. वही, का. २, क. १, सू. १–२–४
२७. वही, का. २, क. २, सू. १–४
२८. वही, का. २, क. १, सू. १७
२९. वही, सू. २३
३०. वही, का. २, क. ५, सू. ३२–३५
३१. गीता, २.२७।
३२. पा. गृ., का. ३, क. १०, सू. २४
३३. वही, सू. ३१
३४. वही, सू. ३८
३५. मनुस्मृति ५.८५

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- मिश्र, नागशरण, अष्टादशस्मृति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, २००४
- नेने, गोपालशास्त्री, पारस्करगृह्यसूत्रम्, जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२५
- मिश्र, जगदीशचन्द्र, पारस्करगृह्यसूत्रस्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०१८
- कुमार, सुरेन्द्र, विशुद्ध मनुस्मृति, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, १९९६
- भट्टाचार्य, आदित्यनाथ, वेदग्रन्थमाला (नवम खण्ड), रामकृष्ण मिशन गोलपार्क, कोलकाता, २०१७
- पाण्डेय, जनार्दनशास्त्री, कर्मकाण्डप्रदीप, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९८०

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

ऐतरेयब्राह्मण में शुनःशेपाख्यान

डॉ. सुमित कुमार*

ऋग्वेद संहिता के उपलब्ध ऐतरेयब्राह्मण का सुप्रसिद्ध आख्यान शुनःशेपाख्यान अथवा हरिश्चन्द्रोपाख्यान है। इस आख्यान में पुत्र महत्त्व, नरबलि भ्रमण महत्त्वादि विषय सन्निहित है। आख्यान की कथा इस प्रकार है।

इक्ष्वाकुवंश के वेधस राजा के पुत्र हरिश्चन्द्र थे, जिनके यहाँ पर पर्वत और नारद ऋषि रहते थे। हरिश्चन्द्र सौ रानियों के बावजूद निसंतान थे। एक बार राजा हरिश्चन्द्र ने पुत्र की महत्ता पर प्रकाश डालने के लिए महर्षि नारद से प्रार्थना करते हुए कहा –

यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किंस्वित्पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारदः।।[१]

अर्थात् हे मुनिवर! इस संसार के सभी लोग, चाहे वे विवेक ज्ञान से युक्त हो अथवा अज्ञानी, पुत्रप्राप्ति की कामना करते हैं। परन्तु इस पुत्र से क्या प्रयोजन है? पिता को इससे किस फल की प्राप्ति होती है? पुत्र किन कामनाओं का पूरक है? कृपया इस सम्बन्ध में आप हमें बतलाने का कष्ट करें। इसके पश्चात् नारद जी ने पुत्र माहात्म्य की मानों समा बाँध डाली और एक से एक गाथा कह डाली कुछ महत्त्वपूर्ण गाथा इस प्रकार है –

ऋणमस्मिन्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।।[२]

अर्थात् यदि कोई पिता अपने जीवित एवं उत्पन्न पुत्र का मुख देख ले, तो वह उसमें अपने लौकिक एवं वैदिक ऋणों को रखकर स्वयं अमरत्व को प्राप्त करता है। लौकिक ऋण से तात्पर्य महाजनों से लिया गया रूपया आदि है। वैदिक ऋण में देव, ऋषि एवं पितरों का ऋण आता है, जिससे क्रमशः यज्ञ, स्वाध्याय एवं सन्तानोत्पत्ति, श्राद्ध द्वारा उऋण हुआ जा सकता है। इस प्रकार पुत्र अमरत्व प्राप्ति का साधन है।

यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान्पुत्रे पितुस्ततः।।[३]

तात्पर्य यह है कि– पृथ्वी पर से प्राप्त सुख जो शयन, अन्नोत्पत्ति, निवासादि के रूप में है, जलना, गर्मी उत्पन्न करना इत्यादि अग्नि से प्राप्त सुख है, स्नान, पानादि जल से प्राप्त सुख है। यह प्रायः सभी प्राणियों, मानवों को प्राप्त है। परन्तु इन समस्त भोग–विलास, सुख के साधनों से सर्वथा अलग पुत्र रत्न प्राप्ति का जो सुख पिता को प्राप्त होता है, उसका सुख ही कुछ अलग है।

शश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन्बहुलं तमः।
आत्माहि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी।।[४]

* सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, गोविंदबल्लभपन्त स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय कछला, बदायूँ (उ. प्र.)

पिता अपने पुत्र के माध्यम से संसार के समस्त बड़े-बड़े दुःखों को सदा के लिए पार कर जाते हैं। आत्मा के द्वारा पुत्र के रूप में आत्मा का जन्म होता है। यह पुत्र अन्नों से परिपूर्ण नौका के तुल्य है। जैसे नौका, नदी-समुद्र इत्यादि को पार करती है वैसे ही पुत्र भी ऐहिक एवं पारलौकिक दुःखों से पितृगण को मुक्ति दिलाता है।

किं नु मलं, किमजिनं, किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स, वै लोकोऽवदावदः।।[५]

अर्थात् गृहस्थ जीवन के मल, शुक्र, रक्तादि गन्दी चीजों का व्यवहार, अजिन अर्थात् कृष्णमृगचर्म धारण करना अथवा ब्रह्मचर्य धारण करना, श्मश्रु अर्थात् वानप्रस्थ जीवन में क्षौर कर्म नहीं कराना, तप अर्थात् परिव्राजक की अवस्था में तपचर्या करना। वस्तुतः इन चारों आश्रमों का महत्त्व निरर्थक है, पुत्र की महत्ता ही सर्वोपरि है।

अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्।।[६]

'अन्न के द्वारा प्राणों की रक्षा होती है, वस्त्र को धारण करने पर शीतादि से बचाव होता है। सोने के अलंकारों से शोभा में वृद्धि होती है। फलतः विवाहादि शुभ कार्य शीघ्रता से बिना कठिनाई के सम्पन्न हो जाते हैं। आगे नारद जी कहते हैं कि पत्नी सुख दुःख में सदैव साथ रहने वाली है अतः वह मित्र है। पुत्री दुःखदायिनी है, क्योंकि उत्पत्ति के समय परिवार में दुःख होता है। वस्तुतः परब्रह्म में अथवा परम आकाश में ज्योतिवत् पुत्र ही है। अतः उसी की प्राप्ति उचित है।

आगे नारद जी पुत्र की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि- पति अपनी भार्या में बीज के रूप में प्रवेश करता है वह बीज गर्भ का रूप धारण कर लेता है फलतः वह पत्नी गर्भरूप आकार में माता बन जाती है। वह गर्भरूप नया संस्कार लेकर १०वें महीने में उत्पन्न होता है। अतएव वह उत्पन्न पुत्र स्वयं से भिन्न नहीं है। वस्तुतः पुत्र का उत्पन्न होना अति महत्त्वपूर्ण है।[७]

नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः।
तस्मातु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति।।[८]

अर्थात् पुत्रहीन के लिए यह संसार सुखदायक लाभकारी नहीं है, इस तथ्य को सभी पशु जानते हैं। अतएव इस पशुरूप संसार में पुत्र, माता एवं बहन के साथ भी सहवास करता है; चूँकि इस जगत् में पुत्र का महत्त्व ही सर्वोपरि है। अतएव बीज के रूप में पुत्र ही माता एवं बहन के साथ संलग्न है।

इस प्रकार पुत्र महत्त्व को प्रतिपादित करने के क्रम में नारद जी ने जाया के अर्थ को प्रकाशित करते हुए कहा है कि पत्नी को जाया इसलिए कहा जाता है कि इसमें पुनः उत्पत्ति होती है। वह स्त्री उत्पादक है जन्म देने का कार्य करती है। पुत्र का यह बीज वहीं रखा जाता है। वस्तुतः आभूति एवं भूति दोनों शब्द एक ही अर्थ रखते हैं- 'स्त्री पुत्र रूप में पति स्त्री में होता है। अतः भूति (उत्पादक) है। बीज रूप में आकर वह पुत्र, पुत्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है, अतः स्त्री आभूति, जन्मदात्री, उत्पादिनी है।'[९]

नारद जी के उपदेश के पश्चात् राजा हरिश्चन्द्र पुत्र प्राप्ति के उपाय को जानना चाहते थे। तब नारद जी ने कहा कि आप वरुणदेव की प्रार्थना करो कि पुत्रोत्पत्ति के अनन्तर उससे मैं आपका यज्ञ करूँगा।[१०]

हरिश्चन्द्र ने वरुण देव से उक्त प्रकार की प्रार्थना किया। जिससे वरुणदेव प्रसन्न हो गए, फलतः 'रोहित' नामक पुत्ररत्न की प्राप्ति हरिश्चन्द्र को हुई। वरुण देव भी नजर गड़ाये हुए थे, तुरन्त आये दौड़े-

दौड़े और बोले– "पुत्र तो तुम्हें हो गया, अब उससे मेरा यज्ञ करो।" हरिश्चन्द्र भी इस परिस्थिति का सामना करने को तैयार थे बोले–जब पात्र दस दिन का हो जाये तभी यज्ञ–योग्य होता है।[११] वरुण देव मान गए। दस दिन के बाद आने पर हरिश्चन्द्र बोले कि जब पशु बलि के दाँत उग जाते हैं तभी यज्ञ के योग्य होता है। फिर वरुण देव मान गए और दाँत उगने के बाद आये तब हरिश्चन्द्र जी ने कहा कि दाँत गिरने पर ही उससे यज्ञ सम्भव होता है। बेचारे वरुण फिर मान गए। आगे उनसे कहा गया कि बलि पशु के दाँत पुनः उगने पर यज्ञ किया जाता है। फिर, क्षत्रिय जब शास्त्र धारण करने योग्य हो जाता है, तभी यज्ञ उससे किया जाता है। वरुण फिर मान गए। अन्ततः हरिश्चन्द्र ने रोहित को बुलाकर उससे वरुण का यज्ञ करना चाहा। लेकिन रोहित नहीं माना और वर्ष भर जंगल में घूमता रहा। अब वरुण से नही रहा गया। उन्होंने हरिश्चन्द्र को पकड़ लिया और पूछा कि सहनशीलता की हद होती है। बेचारे हरिश्चन्द्र, जलोदर रोग से ग्रस्त हो गए। जब इस वृत्तान्त के विषय में रोहित को पता चला तो पितृ–मोह ने उसे घर आने की प्रेरणा दी। अब इन्द्र पुरुष वेश में रोहित के पास आये तथा भ्रमण की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए बोले कि– "अशान्त व्यक्ति अथवा जो घूमते–घूमते थक नही जाए, उसे सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं होती। अथवा यह कहें कि, थके हुए व्यक्ति को ही अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ प्राप्त होती है–इस प्रकार की धारणा है। सदाचारी व्यक्ति भी मनुष्यों के संसर्ग से समाज में रहते हुए पाप का भागी बन जाता है और भ्रमणशील व्यक्ति के मित्र इन्द्रदेव भी है। अतएव रोहित घूमते रहो।[१२] रोहित के मानस पटल पर **'चरैवेति–चरैवेति'** यह मन्त्र छा गया, फलतः वह दूसरे वर्ष भी वनों में भ्रमण करता रहा। इसी के मध्य इन्द्र ने रोहित को भ्रमण के महत्त्व की याद दिलायी जैसे –

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।।[१३]

अर्थात् जो व्यक्ति भ्रमणशील है उसके पैर अर्थात् जंघा, एड़ी, चरण पुष्पवत् हल्के हो जाते हैं। फलतः वह मनुष्य आरोग्य हो जाता है। शरीर के सभी रोगों का नाश हो जाता है। सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है। फलतः कठिन मार्ग में किये गए श्रम पापों को नष्ट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण करते हैं। इसको सुनकर रोहित पुनः तीसरे वर्ष भी जंगल में घूमता रहा।

पुनः एक वर्ष बाद पुरुष वेशधारी भगवान् इन्द्र का रोहित के प्रति पर्यटन की महत्ता को द्योतित करने का कथन कि– जो व्यक्ति सर्वदा बैठा रहता है, स्थिर रहता हुआ कोई काम नही करता है, उसका भाग्य भी बैठा ही रहता है। खड़े हुए व्यक्ति का भाग्य उसी की भाँति वृद्धि के लिए उन्मुख खड़ा रहता है। जो व्यक्ति सुसुप्तावस्था को धारण करते हैं। उनका भाग्य भी सुप्तावस्था को ग्रहण कर लेता है। अवलोकन किया जाए तो केवल भ्रमणशील व्यक्ति का भाग्य ही निरन्तर वर्द्धमान रहता है।[१४] इस को सुनकर रोहित पुनः चौथे वर्ष भी वन में घूमता रहा। फिर से पाँचवें वर्ष इन्द्र पुरुष वेश में रोहित के समक्ष उपस्थित होकर भ्रमण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्।।[१५]

अर्थात् जो व्यक्ति निद्रावस्था में रहते हैं, वे कलियुगवत् है। निद्रा को त्याग देने वाले द्वापरवत् तथा जो उठकर खड़ा हो जाए, उन्हें त्रेतायुग के समान माना जाता है। अतः सबसे अच्छा है कि वह चलता रहे; क्योंकि इसे कृतयुग माना जाता है। अतएव हे रोहित! तुम घूमते रहो। इसको सुनकर रोहित पुनः अगले वर्ष

तक वन में भ्रमण करता रहा।

छठे वर्ष पुनः इन्द्र ने रोहित के समक्ष आकर भ्रमण की महत्ता का गुणगान करते हुए कहा कि-भ्रमण करने से मनुष्य को मधु की प्राप्ति होती है। वह सुस्वादु गूलर का फल पाता है और तो और सूर्य की श्रेष्ठता, उसकी महिमा पर नजर डालिए। जिनमें आलस्य नाम की कोई चीज नहीं बावजूद इसके की सर्वदा चलायमान है। अतएव घूमते रहो।[१६] निश्चयमेव पर्यटन का काफी महत्त्व है। उपदेशपरक भ्रमण-वाक्यों को हृदयाङ्गम कर रोहित छः वर्षो तक वन में घूमता रहा। इसी क्रम में उसने वन में सूयवस के पुत्र अजीगर्त ऋषि को भूखा देखा। अजीगर्त के तीन पुत्र थे - शुन:पुच्छ, शुन:शेप तथा शुनोलांगूल। रोहित ने कहा कि - हे ऋषि! आपको मैं एक सौ गायें देता हूँ तथा अपने स्थान पर बलि हेतु आपके तीन पुत्रों में से किसी को खरीदना चाहता हूँ। इस प्रस्ताव पर बड़ा बेटा पिता स्नेह के कारण तथा छोटा पुत्र मातृस्नेह के कारण बच गया। अभागा शुन:शेप बचा जो बलि के लिए बेच दिया गया।

शुन:शेप को खरीदकर रोहित अपने पिता के पास पहुँचा तथा बोला- पिता जी मैंने अपने स्थान पर बलि के लिए इसको खरीद लिया है। हरिश्चन्द्र जलोदर रोग से पीड़ित था। वह भी प्रसन्न हुआ तथा वरुण के पास जाकर बलि लेने के लिए कहा। वरुण ने समस्त वृन्तान्त को जानकर सोचा कि मुझे तो क्षत्रिय बालक के स्थान पर ब्राह्मण बालक मिल रहा है अतः श्रेष्ठ ही है। तब वरुण ने राजसूय यज्ञ का वर्णन किया। यज्ञ के दिन पुरुषरूपी बलि पशु के बलिदान का आदेश दिया। उस यज्ञ के होता विश्वामित्र, अध्वर्यु जमदग्नि, वसिष्ठ ब्रह्मा तथा अयास्य उद्गाता बने।[१७] शुन:शेप को यज्ञ स्थल पर लाया गया। उसे बाँधने की बात हुयी, कोई भी तैयार नहीं हुआ। नरबलि की बात थी। दिल दहला देने वाले भीषण कर्म में कौन सहायता करता, परन्तु यहाँ भी अजीगर्त ने मोर्चा सँभाला। बोला-सौ गायें दीजिए मैं शुन:शेप को बांध दूँगा। शुन:शेप को पिता द्वारा बाँध दिया गया। इसके पश्चात् यज्ञ की अन्य विधियाँ सम्पन्न हुई। अब उसे मारने की बारी आयी, उसका वध कौन करे? किसी के कदम नही उठे? यहाँ पर भी अजीगर्त ने मोर्चा सँभाला और बोला सौ गायों को देने पर वह शुन:शेप का वध कर देगा। अब अजीगर्त तलवार की धार तेज करने लगा। शुन:शेप ने ये सब देखकर सोचा कि ये सब मिलकर मेरी हत्या कर ही डालेंगे। मरता क्या न करता उसे देवताओं की शरण में जाना उचित लगा। सर्वप्रथम '**कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्।**'[१८] मन्त्र का पाठ करता हुआ शुन:शेप प्रजापति के पास गया। प्रजापति कहते हैं कि अग्नि देवों के अधिक समीप है। अतः अग्नि के पास जाओ तब शुन:शेप अग्नि के प्रति बोला- '**अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम्।**'[१९] अग्नि ने सविता की ओर संकेत करते हुए कहा कि सविता प्राणियों के स्वामी हैं। अतः उनके पास जाओ तब शुन:शेप ने- '**अभि त्वा देव सवितरीशानम् , यश्चिद्धि इत्था भगः शशमान पुरा निदः,**'[२०] मन्त्रों से सविता की स्तुति की। फिर सविता ने बताया कि तुमको वरुण ने बाँधा है अतः उनके पास जाओ। तब शुन:शेप ने '**नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयञ्चनामी पतयन्त आपुः। नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्।**'[२१] से प्रारम्भ करके कुल इक्कत्तीस मन्त्रों से वरुण देव की स्तुति करता है। वरुण ने पुनः अग्नि के पास भेजा तो शुन:शेप ने बाईस मन्त्रों से अग्नि की स्तुति की। प्रसन्न होकर अग्नि उसे विश्वदेवों के पास भेजते हैं। विश्वदेवों के पास जाकर शुन:शेप '**नमो महद्भयो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः**'[२३] मन्त्र से विश्वदेवों की स्तुति करता है। विश्वदेव उसको इन्द्र के पास भेजते हैं। तब शुन:शेप '**आव इन्द्रं क्रिवि यथा वाजयन्तः शतक्रतुम्। महिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः।**[२४] इत्यादि कुल सोलह मन्त्रों से इन्द्र की स्तुति करता है। इन्द्र देव ने प्रसन्न होकर उसे अध्यात्म दृष्टि से

स्वर्णरथ दिया।[२५] तथा अश्विन्-युगल के शरणागत होने की बात कही। तब शुन:शेप ने '**आश्विनावश्वावत्येशा यातं शवीरया। गोमद्दस्त्रा हिरण्यवत्**'[२६] मन्त्रों से अश्विनी कुमारों की स्तुति की। अश्विनी कुमारों ने उषा के पास जाने की कही तब शुन:शेप ने तीन ऋचाओं[२७] से उषा देवी की स्तुति की। स्तुति करने पर क्रमश: शुन:शेप बन्धन से मुक्त हो गये तथा हरिश्चन्द्र भी जलोदर रोग से मुक्त हो गया।

इस घटना चक्र से शुन:शेप पुरोहितों के दिलों पर राज करने लगा पुरोहितों ने उसे यज्ञ सम्पादित करने के लिए कहा। बलि वाला पुरुष अध्यक्ष बन बैठा। शुन:शेप ने सोम-सेवन विधि खोज ली तथा चार ऋचाओं से उसका सवन किया। फिर उसने आह्वनीय-अग्नि की स्थापना कि- '**शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्त्रात्।** '[२८] तदनन्तर शुन:शेप विश्वामित्र की गोद में बैठ गया। यह देखकर अजीगर्त ने विश्वामित्र से पुत्र लौटाने की प्रार्थना की, परन्तु विश्वामित्र ऐसे तेजस्वी बालक को कैसे त्याग देते, बोले इसको मुझे देवताओं ने दिया है। अत: अब वापस नही दूँगा। उसी दिन से शुन:शेप देवरात वैश्वामित्र बन गया। कापिलेय तथा बाभ्रव उसी की सन्तान है।

अब अजीगर्त ने शुन:शेप से कहा कि हे पुत्र! तुम जन्म से अङ्गिरस तथा अजीगर्त के पुत्र के रूप में विख्यात हो। अत: अपने पूर्वजों से अलग से नहीं हो, मेरे पास पुन: वापस आ जाओ।[२९] शुन:शेप पर इन सभी बातों का असर नहीं हुआ और वह बोला- "आपका आचरण शूद्रवत् है। आपने मेरा वध करने के लिए तीन सौ गायें ग्रहण की है। तलवार को हाथ में धारण किया है।"[३०] अजीगर्त ने पश्चाताप की बात की, परन्तु शुन:शेप अड़िग रहा और बोला- "एक बार पाप कर्म करने वाला बारम्बार पाप कर्म कर सकता है। आपके द्वारा किये गये व्यवहार का कोई परिहार है ही नहीं।"[३१] इस अवसर का लाभ उठाते हुये विश्वामित्र ने कहा कि- तलवार हाथ में लेकर अजीगर्त बहुत भयंकर प्रतीत हो रहा था। अत: तुम मेरे पुत्र बने रहो। तुम मेरे पुत्रों में ज्येष्ठ रहोगे। तुम्हें मेरी दैविक सम्पत्ति प्राप्त होगी तथा तुम्हारी सन्तानें सबसे ऊँची होंगी।[३२] शुन:शेप भी कम नही था। उसने विश्वामित्र के पुत्रों की सहमति प्राप्त करनी चाही, मित्र भाव प्रदर्शित करने की बात कही, धन वितरण करना भी चाहा, जिससे विश्वामित्र पुत्रत्व की प्राप्ति सम्यक्रूपेण सम्भव हो जाये।[३३] शुन:शेप की इस आशंका के समाधान के लिए विश्वामित्र ने मधुच्छन्दा, ऋषभादि पुत्रों को आदेश दिया कि वे सभी शुन:शेप को ज्येष्ठ मानें। मधुच्छन्दा विश्वामित्र के ५१ वें पुत्र थे। बड़े पुत्र ने विश्वामित्र के प्रस्ताव पर आपत्ति की और वह विश्वामित्र के शाप का शिकार बन बैठा। जिस कारण से उसे अनार्य देश में पलायन करना पड़ा तथा अन्ध्र, पुलिन्द, पुण्ड्र, शबर, मूतिब जैसी जातियों में वह जा मिले। बेचारा मधुच्छन्दा यह देखकर घबरा गया और उसने पचास भाईयों के साथ विश्वामित्र के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।[३४] विश्वामित्र प्रसन्न हो गए तथा शुन:शेप विश्वामित्र परिवार में दैविक तथा ज्ञान सम्बन्धी अधिकार को प्राप्त करने में सफल रहा।[३५]

इस प्रकार शुन:शेप आख्यान से हमको निम्नलिखित उपदेशात्मक ज्ञान प्राप्त होता है।

१. वचन देकर उसको पूर्ण नहीं करना बहुत बड़ा अपराध है। वरुण से प्रति वचन पूर्ण न करने के कारण राजा हरिश्चन्द्र जलोदर रोग से ग्रस्त हो गया। अत: प्रत्येक मनुष्य को अपने वचन को पूर्ण करना चाहिए चाहे कैसी भी परिस्थिति हो।

२. जब रोहित प्राण रक्षा हेतु घर से वन में भाग जाता है तब ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने रोहित को '**चरैवेति**' उपदेश दिया। यही मनुष्य का के जीवन का सार है। मनुष्य को सर्दव कर्मठ रहना चाहिए।

३. लोभ व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। अजीगर्त ने १०० गायों के बदले में अपने पुत्र को बेचना अक्षम्य अपराध था।

४. शक्ति के भाव को प्रदर्शित किया गया है कि मन से की गयी प्रार्थना शुनःशेप बन्धनों से मुक्त होते चले गये।

५. भावुकता की स्थिति में कोई भी वचन ऐसा नहीं देना चाहिए जिसे बाद में पूर्ण करना कठिन हो। हरिश्चन्द्र पुत्र मोह के चलते वरुण देव को ऐसा वचन दे बैठे जिसको पूरा करना कठिन था।

सन्दर्भ-सूची

१. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.१ (गाथा)

२. ऐतरेय ब्राह्मण, तदैव।

३. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.२

४. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.३

५. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.४

६. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.५

७. पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.६

८. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.९

९. तज्जाया जाया भवति, यदस्यां जायते पुनः।
आभूतिरेषा भूतिर्बीजमेतन्निधीपते।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.७

१०. वरुणं राजानमुपघाव, पुत्रो मे जायतां, तेन त्वा यजा इति। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.२.१

११. यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति। ऐतरेय ब्राह्मण, तदैव।

१२. नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृशद्वरो जन, इन्द्र इच्चरतः सखा।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.३.१

१३. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.३.२

१४. आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भगः।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.३.३

१५. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.३.४

१६. चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.३.५

१७. तस्य ह विश्वामित्रों होता सीज्जमदग्निरध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्माऽयास्य उद्गाता तस्मा उपाकृताय नियोक्तारं न विविदुः। ऐतरेय ब्रह्मण ३३.४.१

१८. ऋग्वेद १.२४.१

१९. ऋग्वेद १.२४.२

२०. ऋग्वेद १.२४.३-४,

२१. ऋग्वेद १.२४.६-१५, ऋग्वेद १.२५.१-२१

२२. ऋग्वेद १.२६.१-१० और १.२७.१-१२

२३. ऋग्वेद १.२७.१३

२४. ऋग्वेद १.३०.१-१६

२५. स नो हिरण्यरथं दंसनावान्स नः सनिता सनये स नोऽदात्। ऋग्वेद १.३०.१६

२६. ऋग्वेद १.३०.१७-१९

२७. ऋग्वेद १.३०.२०-२२

२८. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.५.१

२९. अङ्गिरसो जन्मनाऽस्याजीगर्तिः श्रुतः कविः।
ऋषे पैतामहात्तन्तोर्माऽपगाः पुनरेहि मामिति।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.५.१

३०. अदर्शस्त्वा शासहस्तं न यच्छुद्रेष्वलप्सत।
गवां त्रीणि शतानि त्वमवृणीथा मदङ्गिरः।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.५.२

३१. यः सकृत्पापकं कुर्यात् कुर्यादेनत्ततोऽपरम्।
नापागाः शौद्रान्न्यायादसंधेय त्वया कृतमिति।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.५.४

३२. ज्येष्ठो मे त्वं पुत्राणां स्यास्तवश्रेष्ठा प्रजा स्यात्।
उपेया दैवं मे दायं तेन वै त्वोपमन्त्रये।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.५.७

३३. संज्ञानानेषु वै ब्रूयात्सौहार्द्याय मे श्रियै।
यथाऽह भरत-ऋषभोपेयां तव पुत्रताम्।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.५.८

३४. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.६.१

३५. एष वः कुशिका वीरों देवरातस्तमन्वित।
युष्मां च दायं म उपेता विद्यां यामु च विद्मसि।। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.६.३

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

डिजिटल पैडागॉजी : आधुनिक युग की आवश्यकता

नेहा*

शोधसार : वर्तमान आधुनिक युग 'डिजिटल युग' है आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रौद्योगिकी ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है और अब हमारी आवश्यकता भी बन गया है। भारत में 'डिजिटल भारत अभियान' इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। शिक्षा में भी आधुनिकतम और नवीनतम प्रौद्योगिकी के प्रयोग की आवश्यकता है। नई शिक्षा नीति २०१९ के अन्तिम प्रारूप में भी प्रौद्योगिकी पर अत्यधिक बल दिया गया है। आधुनिक युग की माँग और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की आवश्यकता ने नई पैडागॉजी अर्थात् आधुनिक प्रौद्योगिकी आधारित शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को जन्म दिया, जिसे हम 'डिजिटल पैडागॉजी' कहते हैं।

शैक्षिक प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अनेक पैडागॉजिकल उपकरणों का निर्माण किया भी जा चुका है, जिनका प्रयोग करके शिक्षा को गुणवत्तापूर्ण बनाया जा सकता है। अब शिक्षकों को पैडागॉजी के ज्ञान के साथ-साथ आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग भी अपने शिक्षण में करने की आवश्यकता है और शिक्षक छात्रों को भी अधिगम में अधिक से अधिक प्रौद्योगिकी के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित करें एवं शिक्षा के प्रति रुचि विकसित करें। शैक्षिक प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नित्य नवीन प्रयोग होते रहने चाहिए और सरकार से लेकर शिक्षकों तक सभी को इस क्षेत्र में अद्यतन रहना होगा, क्योंकि शिक्षा की गुणवत्ता विकसित करने में डिजिटल पैडागॉजी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वहन कर सकती है।

डिजिटल पैडागॉजी : आधुनिक युग की आवश्यकता

भारत को वैश्विक स्तर पर एक सशक्त राष्ट्र बनाने के लिए 'डिजिटल इण्डिया' अभियान प्रारम्भ किया गया है, जो सरकार की अत्यधिक सराहनीय पहल है। सरकार द्वारा चलाये जाने वाले किसी भी अभियान या कार्यक्रम को सफल बनाने में और उसे जन-जन तक पहुँचाने में शिक्षा की अहम भूमिका होती है। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा के नवीनतम प्रौद्योगिकी के साथ सम्बद्ध किया जाये, जिसके दो कल्याणकरी परिणाम होंगे-एक तो प्रौद्योगिकी के प्रयोग से शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार होगा और दूसरा, प्रौद्योगिकी आधारित गुणवत्तापूर्ण शिक्षा 'डिजिटल इण्डिया' अभियान को अपने लक्ष्य अर्थात् सशक्त भारत बनाने में भी सहायक सिद्ध होगी।

वैसे वैश्विक आवश्यकता को और 'डिजिटल भारत' कार्यक्रम को ध्यान में रखते हुए नई शिक्षा नीति २०१९ के प्रारूप में भी शिक्षा से सम्बद्ध सभी क्षेत्रों और शिक्षा के सभी स्तरों पर नवीन प्रौद्योगिकी के अधिक से अधिक प्रयोग पर बल दिया गया है। इसमें भी आशा की जा रही है कि प्रौद्योगिकी के प्रयोग से शैक्षिक प्रक्रिया और परिणामों में सुधार कर शिक्षा की गुणवत्ता से वृद्धि की जा सकती है।

अब शिक्षण प्रक्रिया को आधुनिक प्रौद्योगिकी के आधार पर परिवर्धित करने की जरूरत है, जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका शिक्षक और छात्र की होगी, क्योंकि किसी भी शिक्षा-प्रक्रिया के केन्द्र में शिक्षक और छात्र ही होते हैं। अतः सर्वप्रथम शिक्षक और छात्र दोनों को ही नवीनतम डिजिटल शैक्षिक

* असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, डी. ए-वी. कॉलेज, कानपुर (उ.प्र.)

तकनीकी के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करना होगा। जहाँ तक हम बात करें वर्तमान छात्रों की तो, आज के बच्चों की पहली पसन्द ही डिजिटल टेक्नोलॉजी है। उनको डिजिटल शैक्षिक प्रौद्योगिकी के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करने में ज्यादा कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि आज की पीढ़ी डिजिटल प्रौद्योगिकी के बिना जीवन-यापन करने की कल्पना भी नहीं कर सकती है। आज की पीढ़ी **'डिजिटल नेटिव्स'** कहलाती है, क्योंकि इस पीढ़ी ने डिजिटल तकनीकी समृद्ध वातावरण में जन्म लिया है और इसमें पले-बढ़े हैं। परन्तु खेद का विषय यह है कि छात्र इन प्रौद्योगिकी का प्रयोग केवल मनोरंजन के रूप में ही करते हैं और इनका ज्ञान केवल वहीं तक सीमित है। इसमें छात्रों की कोई त्रुटि नहीं है, बल्कि त्रुटि हमारी ही है, क्योंकि हमनें इस ओर विचार ही नहीं किया कि हम इन डिजिटल टूल्स और टेक्नीक्स का प्रयोग अपने शिक्षण में करके शिक्षा के प्रति छात्रों में उत्साह और जिज्ञासा उत्पन्न कर सकते हैं और अधिगम के लिए प्रोत्साहित भी कर सकते हैं।

अब ऐसे शिक्षकों की ही आवश्यकता है जो ना केवल पैडागॉजी की जानकारी रखते हो, बल्कि पैडागॉजी के साथ-साथ नवीन डिजिटल टेक्नोलॉजी में भी निपुण हो। सरल एवं स्पष्ट शब्दों में कहें तो अब वास्तव में में वही शिक्षक प्रभावशाली और सफल शिक्षक मानें जायेंगे, जो डिजिटल पैडागॉजी, का प्रयोग अपने शिक्षण में करेंगे। २१वीं सदी में शिक्षा के प्रत्येक स्तर अर्थात् पूर्व प्राथमिक से लेकर उच्च स्तर तक 'डिजिटल पैडागॉजी' आवश्यकता बन गयी है।

आज हम डिजिटल वर्ल्ड में रह रहे हैं, जहाँ प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हम नित्य नवीन ऊँचाईयों को छू रहे हैं। शैक्षिक प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी बहुत उन्नति हो चुकी है। मोबाइल, कम्प्यूटर और इंटरनेट आधारित डिजिटल उपकरणों के रूप में अनेक सॉफ्टवेयर्स, ऐप्लीकेशन्स, वेबसाइट्स और गेम्स विकसित किये गये हैं, जिन्हें शिक्षक शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में प्रयोग कर अपने शिक्षण को और अधिक प्रभावशाली बना कर शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ा सकते हैं।

डिजिटल पैडागॉजिकल उपकरणों के प्रकार

डिजिटल उपकरणों को शिक्षण अधिगम के क्षेत्रों में उनके कार्य विशेष के आधार पर उन्हें मुख्य सात भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो इस प्रकार है-

(१) ऑनलाइन सहकार्यता और संप्रेषण उपकरण (Online Collaboration & Communication Tools)

(२) प्रस्तुतीकरण सॉफ्टवेयर्स (Presentation Software)

(३) डिजिटल संप्रत्यय मानचित्रण (Digital Concept Mapping Tool)

(४) व्याख्यान रिकार्डिंग उपकरण (Lecture Recording Tools)

(५) पाठ्यक्रम प्रबन्धन उपकरण (Course Management Tools)

(६) डिजिटल आंकलन उपकरण (Digital Assessment Tool)

(१) ऑनलाइन सहकार्यता एवं सम्प्रेषण उपकरण (Online Collaboration & Communication Tools)

सम्प्रेषण और सहकार्यता सदैव ही सीखने एवं निर्माण करने का सशक्त माध्यम रहा है और यदि सहकार्यता और सम्प्रेषण के साथ डिजिटल टेक्नोलॉजी को सम्बद्ध किया जाये तो परिणाम निश्चित ही उत्कृष्ट होगा। इस परिणाम को हम ऑनलाइन सहकार्यता और सम्प्रेषण उपकरणों के रूप में देख सकते हैं और शिक्षक इन ऑनलाइन सहकार्यता और सम्प्रेषण उपकरणों का प्रयोग करके छात्रों में समूह में कार्य करने एवं अधिक से अधिक सम्प्रेषण कौशल आसानी से विकसित कर सकते हैं। इन उपकरणों का प्रयोग

शिक्षक अपनी कक्षा के समय भी कर सकते हैं और कक्षा के बाद भी कर सकते हैं। सहकार्यता और सम्प्रेषण सम्बन्धित कुछ प्रमुख एवं प्रसिद्ध डिजिटल उपकरण है–

- गूगल डॉक्स (Google Docs)
- गूगल स्प्रेडशीट (Google Speed Sheet)
- गूगल फॉर्म्स (Google Forms)
- गूगल स्लाइड्स (Google Slides)
- हैंगआउट्स (Hangouts)
- गूगल स्कॉलर (Google Scholar)
- रिसर्च गेट (Research Gate)
- स्काइप (Skype)
- वीडियो कॉनफेरेन्सिंग (Video Conferencing)
- सोशल मीडिया (Social Media)

(२) प्रस्तुतीकरण सॉफ्टवेयरर्स (Presentation Software)

प्रस्तुतीकरण साफ्टवेयर्स ऐसी उन्नतिशील तकनीकि है, जिसे अपने व्याख्यान को अधिक आकर्षक और आधुनिक बनाने के लिए प्रयोग कर सकते हैं। शिक्षक कक्षा के पारम्परिक शिक्षण में तकनीकी के सम्मिश्रण से अपने प्रस्तुतीकरण को परिष्कृत कर छात्रों को नवीन और रोचक विधि से ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। प्रस्तुतीकरण साफ्टवेयर्स विषय–वस्तु को छात्रों तक बहुत ही सरलता और श्रेष्ठता से सम्प्रेषित करने की क्षमता विकसित करते हैं। शिक्षण तकनीकी के क्षेत्र में अब तक अनेक प्रस्तुतीकरण साफ्टवेयर्स विकसित किये जा चुके हैं, जिसमें प्रमुख हैं –

- पावर प्वाइंट स्लाईड्स (Power Point Slides)
- प्रेसेन्टेशन ट्यूब (Presentation Tube)
- गूगल स्लाइड्स (Google slides)
- प्रेजी (Prezzi)
- कीनोट (Keynote)
- स्लाइड शेयर (Slide share)

(३) डिजिटल संप्रत्यय मानचित्रण (Digital Concept Mapping Tool)

सम्प्रत्यय मानचित्रण एक रेखाचित्रीय प्रस्तुति है। शिक्षा के क्षेत्र में जिसका उपयोग छात्रों को आधारभूत विभिन्न संप्रत्ययों और उनके बीच सम्बन्धों को श्रेणीबद्ध तरीके से समझाने में किया जाता है। संप्रत्यय मानचित्र को पेपर–पेन्सिल से बनाना अत्यधिक समय ग्राह्य और जटिल कार्य है। इस तरह के मानचित्र द्वि–आयामी तथा इनके पास जगह भी सीमित होती है।

इस पारम्परिक संप्रत्यय मानचित्र की कमियों को हम कम्प्यूटर आधारित अथवा डिजिटल मानचित्रण के द्वारा दूर कर सकते हैं। डिजिटल मानचित्र प्रयोक्ता के अनुकूल समायोजित होने की क्षमता रखते हैं, जिसमें ज्यादा कुशलतापूर्वक संशोधन सम्भव होता है तथा इसमें आसानी और शीघ्रता से कुछ भी जोड़ा और घटाया जा सकता है। इसे त्रि–आयामी रूप में भी बनाया जा सकता है। इसके साथ ही साथ इसमें रिकॉडेड साउण्ड, वीडियो, लिंक आदि भी जोड़ सकते हैं। इसे बहुत आसानी से एक समय में कई छात्रों को सम्प्रेषित किया जा सकता है। संप्रत्यय मानचित्रण से सम्बन्धित अनेक नवीन और अपडेटेड उपकरण उपलब्ध हैं, जिनमें मुख्य हैं –

- कोगल (Coggle)
- माइंडोमो (Mindomo)
- माइंड मैप (Mind Map)
- फ्री माइंड (Free Mind) आदि।

(४) व्याख्यान रिकॉर्डिंग उपकरण (Lecture Recording Tools) -

व्याख्यान रिकार्डिंग उपकरण एक ऐसी तकनीकी है, जिसके द्वारा शिक्षक अपने व्याख्यान को रिकॉर्ड कर सकता है और उसे डिजिटल वेब पर डालकर छात्रों के लिए कक्षा के पहले या कक्षा के बाद ऑनलाइन देखने हेतु उपलब्ध करा सकते हैं। ये उपकरण, फ्लिप्ड शिक्षण, दूरस्थ शिक्षण (पूर्ण-ऑनलाइन और मिश्रित) और मैसिव ओपेन ऑनलाइन कोर्सेस (MOOCs) आदि के लिए बहुत उपयोगी उपकरण हैं। यह छात्रों को कक्षा के बाद व्याख्यान को समीक्षा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और अधिगम अक्षमता वाले छात्रों के लिए भी बहुत सहायक हैं। इसके अतिरिक्त यह शिक्षकों को भी उनकी कक्षा प्रस्तुति को परिष्कृत करने में सहायता करता है। अब तक अनेक व्याख्यान रिकॉर्डिंग उपकरण विकसित किये जा चुके हैं, जिसमें प्रमुख हैं -

- स्क्रीन कास्टो-ओ-मैटिक (Screencast-O-Matic)
- जिंग (Zing)
- मीडिया साइट (Media site)
- जूम (Zoom)
- वीडियो नोट (Video Note)
- क्वीक टाइम (Quick time)
- मीडिया स्पेस (Media space)

(५) पाठ्यक्रम प्रबन्धन उपकरण (Course Management Tools)

पाठ्यक्रम प्रबन्धन उपकरण, विभिन्न सॉफ्टवेयर्स एवं एप्लीकेशन्स का एक संग्रह है, जो पाठ्यक्रम सम्प्रेषित करने का एक ऑनलाइन परिवेश प्रदान करता है। इस उपकरण की सहायता से शिक्षक कक्षा को पाठ्य-सामग्री एवं नोट्स आदि को ऑनलाइन मोड से भेज सकते हैं, जिसे छात्र अपनी सुविधानुसार प्रयोग कर लाभांवित हो सकते हैं। इसके द्वारा शिक्षक एक साथ सभी छात्रों को कार्य और प्रोजेक्ट दे सकते हैं और छात्र भी अपने प्रोजेक्ट एवं कार्य को जमा कर सकते हैं। शिक्षक **ग्रेड बुॅक** में सभी छात्रों के ग्रेड का भी रिकॉर्ड रख सकते हैं और प्रत्येक छात्र अपने-अपने ग्रेड को देख भी सकते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षक **एकीकृत ई-मेल** उपकरण की सहायता से सभी छात्रों को सूचना सम्प्रेषित कर सकते हैं। शिक्षक छात्रों के साथ मिलकर चैट उपकरण से समकालिक (Synchronous) संप्रेषण कर सकते हैं और चर्चा-परिचर्चा बोर्ड द्वारा असमकालिक (Asyncronous) सम्प्रेषण कर सकते हैं। इन सभी विशेषताओं के अतिरिक्त भी अनेक विशेषताएं हैं, जिन्हें शिक्षक प्रयोग कर अपने शिक्षण को सरल और प्रभावशाली बना सकते हैं। आज के समय में अनेक कोर्स मैनेजमेंट टूल्स विकसित हो चुके हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख और प्रसिद्ध उपकरण निम्न हैं -

- मूडल (Moodle)
- ब्लैक बोर्ड लर्न (Black Board Learn)
- गूगल क्लासरूम (Google Classroom)

(६) डिजिटल आंकलन उपकरण (Digital Assessment Tool)

डिजिटल आंकलन उपकरण की सहायता से निर्माणात्मक आंकलन का कार्य शिक्षक के लिए बहुत सुविधाजनक हो गया है। निर्माणात्मक आंकलन प्रतिपुष्टि की दृष्टि से शिक्षक और छात्र दोनों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इन डिजिटल उपकरण की सहायता से छात्रों के द्वारा संयोगवश अथवा जानबूझ कर करने वाली नकल के साथ-साथ उद्धरण एवं सन्दर्भों को भी शिक्षक आसानी से जाँच सकते हैं, जिससे शिक्षक और छात्र दोनों का ही समय बच सकता है। इस डिजिटल आंकलन में छात्र बिना किसी की मदद के अपने प्रश्नों के उत्तर स्वयं जान सकते हैं, जिसकी जानकारी भी शिक्षक रखते हैं। डिजिटल आंकलन ने आंकलन के कार्य को छात्रों के लिए मनोरंजन अथवा खेल के रूप में परिणित कर दिया है, जिससे सम्पूर्ण अधिगम प्रक्रिया में उत्साह एवं उत्तेजना बनी रहती है। डिजिटल आंकलन से सम्बन्धित प्रमुख और प्रसिद्ध उपकरण इस प्रकार है –

- गूगल फार्म्स (Google Forms)
- काहूत (Kahoot)
- क्वीज़लेट (Quizlet)
- पैडलेट (Padlet)
- सीसॉ (See saw)
- रिकैप (Recap)
- प्लीकर्स (Plickers)
- सॉकरेटिव (Socrative)

निष्कर्ष :

वर्तमान सन्दर्भ और डिजिटल नेटिव्स के अनुरूप शिक्षण प्रक्रिया को परिवर्धित करना होगा। शिक्षा को अधिक से अधिक नवीनतम प्रौद्योगिकी आधारित करना होगा, जिसके लिए सरकार से लेकर शिक्षक तक सभी को संवेदनशील होकर जिम्मेदारी लेनी होगी। शैक्षिक प्रौद्योगिकी के संवर्धन के लिए नियमित शोध को प्रोत्साहित किया जाये और शैक्षिक प्रौद्योगिकी के नवीन अविष्कारों एवं उनके प्रयोगों के लिए जागरूकता भी विकसित की जानी चाहिए। शिक्षाशास्त्र के साथ प्रौद्योगिकी का एकीकरण कर डिजिटल पैडागॉजी का समुचित रूप में प्रयोग किया जाये तो शिक्षा की गुणवत्ता में अवश्य ही सुधार होगा। डिजिटल पैडागॉजी शिक्षा के लिए निश्चित ही वरदान सिद्ध होगी।

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

- सिंघल, अनुपमा एवं कुलश्रेष्ठ, एस. पी. (२०१२), शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार, आगरा : अग्रवाल पब्लिकेशन्स।
- http://bookbuilder.cast.org/view_print.php?book=107371
- https://www.techactive.in/what-is-digital-india/
- https://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/Draft_NEP_2019_HI.pdf
- https://www.teachthought.com/technology/tech-tools-for digital-collaboration/
- https://www.educatorstechnology.com/2014/11/powerful-course-management for.html
- http://public.callutheran.edu/~mccamb/drillpractice.htm
- https://annefox.eu/2018/11/07/digital-assessment\

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

वैदिक-साहित्य में पर्यावरणीय सन्दर्भ का संक्षिप्त अनुशीलन

डॉ. अनुराधा शुक्ला*

पर्यावरण (Environment) शब्द परि/आवरण दो शब्दों के मेल में बना है। परि का अर्थ होता है– चारों ओर और आवरण का अर्थ है ढ़का हुआ। इस प्रकार पर्यावरण का अर्थ है– जो हमारे चारों ओर व्याप्त हो अर्थात् हमारे चारों ओर का वातावरण जो हमें ढ़के हुए है, वही पर्यावरण है। भौगोलिक दृष्टि से पर्यावरण में स्थल मण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल और जैवमण्डल के सभी रासायनिक तत्त्वों को सम्मिलित किया गया है। सभी प्राणि स्थल मण्डल से भोजन जलमण्डल से जल और वायुमण्डल से प्राण वायु प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हमें इन सबकी सुरक्षा करनी चाहिए आधुनिक युग में पर्यावरण बहुत ही प्रदूषित हो रहा है जिससे हम सब का जीवन खतरे में पड़ सकता है। इसलिए हमें पृथ्वी को सुरक्षित एवं सन्तुलित रखना चाहिए। वाई. नायडुमा के शब्दों में 'मानव अब तक यह धारणा बनाये चला आ रहा है कि यह संसार और इसके प्राकृतिक संसाधन उसके उपयोग के लिए बनाये गये हैं।'[१] इस प्रकार प्रकृति में पाये जाने वाले पदार्थों का अंधाधुन्ध इस्तेमाल से पर्यावरणीय सन्तुलन बिगड़ रहा है। इसी के परिणामस्वरूप वह प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकी एवं अपव्यय पूर्ण उपयोग करता आ रहा है। इस प्रकार के उपयोग के कारण उसने व्यर्थ की चीजों मशीनरी आदि का इस्तेमाल किया है। जिससे पृथ्वी का पर्यावरण परिवर्तित हो गया है। पर्यावरण वह परिवृत्ति है जो मानव को चारों ओर से घेरे हुए तथा उसके जीवन और क्रियाओं पर प्रभाव डालती है। इस मनुष्य के बाहर के समस्त घटक, वस्तुएँ, स्थितियाँ तथा दशाएँ सम्मिलित हैं, जो मानव के जीवन को प्रभावित करती है।

मनुष्य के क्रियाकलापों से उत्पन्न अवशिष्ट उत्पादों के रुप में पदार्थों और ऊर्जा के प्रयोग से प्राकृतिक पर्यावरण में होने वाले हानिकारक परिवर्तनों को प्रदूषण कहते हैं। यह मनुष्य द्वारा पर्यावरण में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न करने से होता है। जिससे वायु-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, रेडियोधर्मी प्रदूषण, भूमि-प्रदूषण आदि होता है। यदि पर्यावरण संरक्षण के विषय में ध्यान केन्द्रित किया जाए तो प्रथम वेदों की ओर ध्यान आकर्षित होता है। वेदों में कई स्थानों पर पर्यावरण प्रदूषण को बचाने और उसके संरक्षण के विषय में बतलाया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि जल, वायु और औषधियाँ ये तीन तत्त्व पर्यावरण के संघटक तत्त्व हैं। ये संघटक तत्त्व भूमि के चारों ओर से घेरे हुए है और मनुष्य को प्रसन्नता प्रदान करते हैं वेद में इन्हें छान्दस् कहते हैं। इनके नाम और रूप अनेक होने के कारण इन्हें पुरुरुपम कहा गया है। ये तीनों तत्त्व प्रत्येक लोक को जीवन रक्षा के लिए प्रदान किये गये हैं–

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयः तान्येकस्मिन् भुवन् आर्पितानि।।[२]

* पूर्व-शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

इस प्रकार औषधियों को भी पर्यावरण का एक प्रमुख घटक माना गया है। जिस प्रकार जल और वायु के बिना जीवन असम्भव है, उसी प्रकार वृक्ष- वनस्पतियों के बिना भी जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं है। सर्वप्रथम वनस्पतियों के महत्त्व डालने का श्रेय वेदों को है।

वेदों और स्मृतियों आदि में पर्यावरण-प्रदूषण का उल्लेख किया गया है तथा इन प्रदूषणों से बचने का निर्देश किया गया है। वायु मानव-जीवन का आधार है इसलिए जीवन रक्षा हेतु वायु-प्रदूषण के सभी तत्त्वों का नियन्त्रण आवश्यक है। अथर्ववेद में 'आपो वाता ओषधय:' कहकर यह निर्देश दिया गया है कि पर्यावरण की रक्षा हेतु वायु की शुद्धि पर ध्यान देना अनिवार्य है। वायु के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वायु में दो प्रकार के गुण होते हैं, एक तो प्राणवायु के द्वारा मनुष्य में जीवन शक्ति का संचार करना और अपान वायु के द्वारा सभी दोषों को शरीर से बाहर करना। इसलिए वायु को विश्वभेषज कहा गया है। इस प्रकार वायु हमें जीवन शक्ति प्रदान करता है। अथर्ववेद में कहा गया है –

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे।[३]

ऋग्वेद के एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में स्पष्ट निर्देश है कि वायु में अमृत अर्थात् आक्सीजन है उसे नष्ट न होने दें। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा कोई कार्य न करें जिससे वायु में आक्सीजन की कमी हो, जिससे प्राणिमात्र के जीवन प्रभावित हों – **नु चित्रु वायोरमृतं वि दस्येत्।** वेदों में वायु मण्डल की शुद्धि के लिए द्यावा- पृथिवी के संरक्षण पर विशेष बल दिया गया है। द्यावा-पृथिवी में सूर्यलोक (द्युलोक), अन्तरिक्ष और पृथिवी तीनों का समावेश है। वेदों के अनेक मन्त्रों में द्युलोक को पिता और पृथिवी को माता कहा गया है। यदि द्युलोक या अन्तरिक्ष प्रदूषित होता है तो ऊर्जा के स्त्रोतों को हानि पहुँचती है और यदि भूमि प्रदूषित होती है तो मानव-जीवन संकटापन्न होता है। इसलिए दोनों के संरक्षण पर बल दिया गया है– **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।**[५]

ऋग्वेद में उल्लिखित है कि पृथिवी माता की क्रोध दृष्टि हम पर न हो। पृथिवी यदि प्रदूषण आदि के द्वारा रुष्ट६ हो जाती है प्राकृतिक आपदायें प्रारम्भ हो जाती है। जैसे- अकाल पड़ना, खेत का सूख जाना, ऊर्जा के स्रोतों का नाश, महामारी, अतिवृष्टि इत्यादि। जून २०१३ से उत्तराखण्ड की भयंकर प्राकृतिक आपदा, बाढ़, भूस्खलन आदि इसका प्रमाण हैं। मानव संसाधन के रूप में भारतीय शासन व्यवस्था केदारनाथ के लोगों की प्राणरक्षा नही कर पाया। इस त्रासदी के लिए प्राकृतिक और भौगोलिक कारण ही जिम्मेदार नही है बल्कि पर्यावरण भी जिम्मेदार है। यदि समय रहते इस ओर ध्यान नही दिया गया तो और भी उत्तराखण्ड जैसे मानवीय त्रासदी का सामना करना पड़ सकता है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में पृथिवी को पुष्ट करने का उपदेश देते हुए कहा गया है कि पृथिवी को यज्ञ की राख और प्राकृतिक खाद आदि से पुष्ट करें। जिससे उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ती है–**पृथिवीं भस्मना-आपृण...।**[७]

वेदों में जल की उपयोगिता और महत्त्व पर बहुत प्रकाश डाला है। जल जीवन है, अमृत है, भेषज है, रोगनाशक है और आयुवर्धक जल, वनस्पतियाँ और औषधियाँ मानव के रक्षक हैं यदि इन पदार्थों को हानि पहुँचाया गया तो मनुष्य का जीवन संकट में पड़ सकता है– **आप ओषधीरुत नोऽवन्तु, द्यौर्वना गिरयो वृक्षकेशाः।** यजुर्वेद में कहा गया है कि जल को दूषित नहीं करना चाहिए और वृक्ष वनस्पतियों को हानि नहीं पहुँचाना चाहिए– **मऽपो हिंसीः मा ओषधीर्हिंसीः।**[९] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में यह भी कहा गया है कि जल को शुद्ध रखो, पौष्टिक गुणों से युक्त करो और औषधियों को जल से सींचकर सुरक्षित रखो

– अप: पिन्व: ओषधीर्जिन्व।[१०] अथर्ववेद में कतिपय पर्यावरण शोधक तत्त्वों का उल्लेख है। ये प्रदूषण को नष्ट करते हैं। इसके एक मन्त्र में प्रदूषण कारक के लिए 'क्रव्याद्' शब्द कहा गया है–

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आपः, वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्याद् मशीशमन्[११]

पर्यावरण को शुद्ध करने वाले तत्त्व हैं– पर्वत, जल, वायु, वर्षा और अग्नि। ये प्रदूषण को नष्ट करते हैं और पर्यावरण को शुद्ध करते हैं। हमारी वर्तमान सरकारें जल आदि के समुचित उपयोग हेतु कार्य कर रही हैं।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में भूमि के चारों ओर विद्यमान ओजोन परत का उल्लेख है। ऋग्वेद में ओजोन की परत के लिए 'महत् उल्ब' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसे स्थविर अर्थात् स्थूल या मोटी परत कहा है। मन्त्रों से स्पष्ट होता है कि ओजोन परत पृथ्वी की रक्षा करती है। इसको हानि पहुँचाना उसी प्रकार संकटकारी है जैसे गर्भस्य बालक की झिल्ली से छेड़-छाड़ करना है –

महत् तदुल्बं स्थविरं तदासीद्, येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।[१२]

यह ओजोन परत सूर्य से निकलने वाली लघु पराबैगनी किरणों का अवशोषण कर लेती हैं और पृथ्वी के पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं को भस्म होने से बचाती है। अतः इस ओजोन परत का मानव-जीवन एवं प्रकृति की रक्षा के लिए बहुत महत्त्व है। सारा विश्व ओजोन की परत में होने वाले छिद्र से परेशान है और संयुक्त राष्ट्र संघ आदि में भी इस संदर्भ में सौर्य ऊर्जा के दोहन न करने हेतु चेतावनी आदि का दौर जारी है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पर्यावरण के संरक्षण विषय में वैदिक युग से ही चिन्तन किया जा रहा है। प्रकृति हमारी धरा है और हमें उसकी रक्षा करनी चाहिए। वेदों के प्रत्येक मन्त्र इसके साक्ष्य हैं कि प्रकृति की रक्षा करना हमारा कर्तव्य और आवश्यकता है। वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक सम्पूर्ण विश्व में पर्यावरण की शुद्धि एवं संरक्षण की समस्या है। आज सम्पूर्ण विश्व इसकी सुरक्षा के विशेष अधिनियमों को पारित करता है। किन्तु अधिनियम पारित करने मात्र से ही इससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता बल्कि पूरे विश्व को इस समस्या पर एकजुट होकर कार्य करने की आवश्यकता है। जल-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण एवं वायु-प्रदूषण के अतिरिक्त आज भारत में एक और समस्या बहुत तेजी से फैल रही है वह है– सांस्कृतिक प्रदूषण। भारत में पाश्चात्य सभ्यता इतनी अधिक फैल रही है कि हम अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को भूलते जा रहे हैं, क्योंकि भारतीय संस्कृति का उद्देश्य है –

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्।।

आधुनिक युग में 'ग्लोबल वार्मिग' भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। जिसके लिए इतना कहा जा सकता है कि यदि हम प्रकृति का दुरुपयोग करते हैं तो प्रकृति के दण्ड को भी हमें कई रूप में भुगतना पड़ता है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में प्राप्त पर्यावरण चिन्तन का आधुनिक महत्त्व दृष्टिगोचर है। जिसको मानकर विश्व प्रदूषण दिवस पर पूर्व प्रधानमंत्री स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी ने कहा था कि वैदिक युग के पर्यावरणीय चिन्तन के महत्त्व को स्वीकार किया था। इस प्रकार हमें वैदिक साहित्य के मन्त्र भी प्रदूषण एवं उसके रोकथाम के लिए प्रेरित करते हैं और उनमें वर्तमान पर्यावरण चिन्तन का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है–

यत्तो भूमे विश्वनामि, क्षिप्रं तद् पिरोहतु।
मा ते मर्म वि मृग्वरि, मा ते हृदयमपि यम्।।[१३]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य पर्यावरणीय सन्दर्भों से ओतप्रोत है। भारतीय साहित्य के प्रारम्भ से ही पर्यावरण संरक्षण के लिये कार्य किया जाता रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. शुक्ला, डॉ. सी.एस., पर्यावरण शिक्षा, आलोक प्रकाशन, इलाहाबाद २००९, पृ. १९
२. अथर्ववेद, १८.१.१७
३. तदेव, ४.१३.३
४. ऋग्वेद, ६.३७.३
५. अथर्ववेद, १२.१.१२
६. मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्, ऋग्वेद, ५.४३.१५
७. यजुर्वेद ६.२१
८. ऋग्वेद, ५.४१.११
९. यजुर्वेद, ६.२२
१०. तदेव, १४.८
११. अथर्ववेद, ३.२१.१०
१२. ऋग्वेद, १०.५१.१
१३. अथर्ववेद, १२.१.३५

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

The importance of the Paippalāda recension (Odisha) of the Atharvaveda

Piyali Biswas*

Abstract :

Like the other Vedas, the Atharvaveda also once upon a time existed in several recensions. Out of those only the two - *Śaunaka* and *Paippalāda* have been survived.

The *Paippalāda* version, whose existence has been known since the 1870s while a single mutilated manuscript was discovered from Kashmir and better Manuscripts with the living tradition later from Odisha by Durgamohan Bhattacharya in 1956, is considered as the most important product of vedism. According to M. Bloomfield its one-eight or one-ninth is original, being found neither in *Śaunakīya* nor in any other Vedas.

This *Atharvaveda* (A.V.), though was known as *Paippalāda* recension, yet was quite different from the discovery of Kashmirian *Paippalāda* recension for a number of reasons. Professor Bhattacharya started to edit it but could publish only one volume comprising 1st *kāṇḍa* out of 20 due to his premature death. Now the full edition is available by his able son Dipak Bhattacharya from Asiatic Society, Kolkata what took nearly 45years.

This Odishan edition is important for more than one reason. Primarily it is bigger in size than the *Śaunaka* by nearly 2000 verses and *Paippalāda*, edited by L.C. Barrett, by 1500 verses. That means this edition supplies more materials than both *Śunaka* and *Paippalāda*. Even the first *kāṇḍa* out of 20 *kāṇḍas* is enhanced by 95 verses than the *Śaunaka*.

The new discovery is again important because the new materials available in the Odishan recension unveils a number of questions; for example the nomenclature of *'Brahmaveda'*, though stamped by M. Bloomfield as a late dated matter, yet Bādarāyaṇa's indebtedness to the *Paippalāda Saṁhitā* makes it clear that the A.V. had once a direct relation with Vedānta philosophy. Again the linguistic peculiarities, social facts as prevalent among the Vedic scholars and historians may be retold, if we carefully examine the new recension of the *Paippalāda Saṁhitā*.

Keywords : Introduction, history of Paippalāda Atharvaveda, importance of Paippalāda recension (Odisha), conclusion.

* Assistant Professor & H.O.D, Department of Sanskrit, Acharya Sukumar Sen Mahavidyalaya (The University of Burdwan), Purba Bardhaman, West Bengal

Introduction

Atharvaveda, the second largest Veda among the four Vedas, although known as fourth Veda, once upon a time existed in several recensions or schools. The number of the *ātharvaṇic* schools generally enumerated is nine namely - *Paippalāda*, *Tauda*, *Mauda*, *Śaunaka*, *Jājala*, *Jalada*, *Brahmavada*, *Devadarśa* and *Cāraṇavaidya*.[1]

Out of these recensions only two recensions of the text - *Śaunaka* and *Paippalāda* have survived into modern times.

The *Śaunaka Saṁhitā* which contains the mantra collection of the *Śaunaka* recension is well-preserved and there are several manuscripts of this branch. It is divided into 20 books and has nearly 6000 mantras. Rudolf Roth and W.D Whitney first published the *Śaunaka* recension in 1856 from Berlin. Later editions by S.P. Pandit (1895-98)[2] and Vishva Bandhu (1960-64)[3] with the commentary by *Sāyaṇa* are all related to the *Śaunaka* version.

The *Paippalāda* version, manuscripts of which A.V. recension, were believed to have been lost, came into existence since the 1870s while a single mutilated Birch-Bark manuscript in the Śāradā script was discovered from Kashmir by Rudolf Roth as he was not satisfied with the *Śaunakīya* version for its defective nature. He published an account of the discovery, character and contents of the manuscript in his famous book '*Der Atharvaveda in Kashmir*' in 1875 from Berlin[4]. It was reproduced chromo-photographically in 1901 under the supervision of R. Garbe and M. Bloomfield. L.C Barret edited the contents of the facsimile in transliterated form in Roman script between 1905 & 1940.[5] In India, Raghu Vira published a *Devanāgari* version by following Barret (1936, 40, 46).[6] Kashmirian AVP comprises of 20 books and has 7192 mantras.

As the manuscript of the *Paippalāda* recension was found in Kashmir, it was known as '*Kashmirian Atharvaveda*'. But the manuscript was mutilated and erroneous.

So, it was believed that reliable mss of the *Paippalāda* recension has been lost. But when Professor Durgamohan Bhattacharya, a Vedic scholar of Bengal, discovered some palm leaf mss of the *Paippalāda* School of the *Atharvaveda* from Odisha, a neighbour province of Bengal in eastern India, along with its living tradition there, it became an epoch-making discovery in the last century (1957). This *Atharvaveda Paippalāda* recension of Odisha was quite different from the discovery of Kashmirian *Paippalāda* recension for a number of reasons. Professor Bhattacharya started to edit it but could publish only one volume comprising 1st Kāṇḍa out of 20 (1964)[7] due to his premature death. Now the full edition is available by his able son Dipak Bhattacharya from Asiatic Society, Kolkata[8] what took nearly 45 years. This work was stupendous and commendable.

This Odishan edition is important for more than one reason. Primarily it is bigger in size than the *Śaunaka* by nearly 2000 verses and Kashmirian *Paippalāda*, edited by L. C. Barrett, by 1000 verses. That means this edition supplies more materials than both *Śaunaka* and Kashmirian *Paippalāda*. According to Dipak Bhattacharya's final counting AVP of Odisha consist of 7899 mantras & 923hymns.

Importance of the Paippalāda recension (Odisha)

Now the fact is that, *Śaunaka Saṁhitā* is known as the *Atharvaveda Saṁhitā* all over the world. But there are indications in Indian tradition that the *Paippalāda* once was the premier recension of the *Atharvaveda* and was more prevalent than the *Śaunaka* recension as the most authoritative version according to Bhattacharya. Even AVP has better readings. Grammarian giants like *Pāṇini*, *Patañjali* used to take the citation of this recension as the standard *Atharvaveda*. Paul Theime, in '*Pāṇini & the Veda*'. Allahabad, 1935:66 shows that the citation in *Patañjali*'s *Mahābhāṣya* are from *Paippalāda*.[9]

In an illustrative sentence (*Kāśikā* 1.3.49) Mauda school is mentioned as adopting the method recitation current in the *Paippalāda* School-

"*anuvadate maudaḥ paippalādasya*".

Bādarāyaṇa cites Paip.8.9.11 in his Brahmasūtra 2.3.43.

"***brahma dāśā brahma dāśā brahmane kitavā uta***."

The initial verse of the PS, "*śaṃ no devīr*" etc. is recited in daily prayer all over the India in the rite of Brahmayajña or *Svādhyāya* as the initial stanza of the *Atharvaveda*. The *Gṛhyasūtras* expressly mention that "*śaṃ no devī*" is the initial verse of the *Atharvaveda*. The three scholars of eastern India viz. Aniruddha Bhaṭṭa, Guṇaviṣṇu and Rāmanātha Vidyāvācaspati are definite in declaring that "*śāṃ no devī*" used in *Brahmayajña* is the first mantra of that version of the AV which was propagated by *Pippalāda*.

Aniruddha Bhatta, the Guru of king Ballalasena, while enjoing the recitation of "*śaṃ no devī* " in *Brahmayajña* assigns the Mantra to *Paippalāda*:

"*pippalāda ṛṣir gāyatrī cchando brahmayajñajape viniyogaḥ*"[10]

Guṇaviṣṇu (pre-12th Cent.) describes as the 1st *Mantra* of the A.V.: "*atharvavedādimantro yaṃ pippalādadṛṣṭaḥ*"[11]

Rāmanātha Vidyāvācaspati, a later vedic commentator of Bengal states that in the Brahmayajna rite even a samavedin should recite the stanza "*śaṃ no devī* " with the adoption of the *Atharvaveda* reading '*āpo bhabantu*" in its second part, instead of the *Sāmaveda* reading "*saṃ no bhabantu*":

"*śaṃ no devīti mantrasya paippalādaīṣir mataḥ...brahmayajñajape cāsya viniyogo muner mataḥ*" (Dhārmikakarmarahasya, MS).

These clearly prove that the stanza '*śaṃ no devī* ' etc. is the initial

mantra of the AVP, which is also known as the initial *Mantra* of the *Atharvaveda*. So, AVP is the standard *Atharvaveda* and not the AVŚ which has different initial mantra. But the initial part of the Kashmirian *Paippalāda* was destroyed that's why the above fact could not be verified. Now the palm-leaf MSS of Odisha confirms that "*śaṃ no devīr abhiṣṭaye*" is the first Mantra of the AVP.

The palm-leaf MSS not only fill up all the gaps of the birch-bark but also supply large number of new *mantras* not found anywhere in Vedic literature. Though the mantra text in the palm-leaf MSS is not always correct but helps us in the correction of numerous nonsensical readings occurring in birch-bark MSS.

Even the oral recitation of Odishan *Paippalāda* is far better than the Kashmirian *Paippalāda*. There is a reading of the pada in birch-bark, which is '*yasam isānaḥ*' of Ātharvaṇic Śrisūkta, gives no sense. L.C Barret though had suggested an rectification of the reading in his Kashmirian *Atharvaveda*, but that did not improve the sense in anyway according to Prof D.M Bhattacharya. But the *Paippalādians* of Odisha cites the *mantra* '*viśām isānaḥ*', which means "*the lord of the people*".

Dipak Bhattacharya, in the introduction part of his book has listed a few of the readings of his edition[12] which differ most materially from those in Barret's work and are far better than the birch-bark readings. A better knowledge of the text of the *Paippalāda Saṁhitā* will also contribute to the study of the *Śaunaka* recension.

Conclusion

So, from the above discussion we can conclude that AVP once was very popular and was known as the standard *Atharvaveda* but lost its position for some unknown reason. It may be because it has no commentary, accent mark etc. so far. This recension of A.V. is not yet to have been edited and translated in its entirety. Though some individual kāṇḍas have been studied by the western scholars but not yet studied fully. Its comprehensive translation and study may reveal many unknown fact of Vedic literature.

Abbreviations:

AV - Atharvaveda.
AVP - Atharvaveda Paippalāda Saṁhitā.
AVPO - Atharvaveda Paippalāda Saṁhitā of Odisha.
AVPK - Atharvaveda Paippalāda Saṁhitā of Kashmir.
AVŚ - Śaunaka Saṁhitā of the Atharvaveda.
K - Kashmirian Paippalāda.
Or - Odishan Paippalāda.
Kauś S - Kauśika Sūtra.
KSS - Kashi Sanskrit Series.
MSS - Manuscripts.

PS - Paippalāda Saṁhitā.
RV - Ṛgveda.
TB - Taittiriya Brāhmaṇa.

Endnotes:

1. The author of the Mahābhāṣya commentary on Pāṇini's Aṣṭadhyāī stated about the existence of the nine schools of the *Atharvaveda - 'navadhātharvanovedaḥ'*. The caraṇavyūhasūtra too speaks about nine schools of the *Atharvaveda* (KSS 132:47). Though a few texts refer to more or less than the nine recensions of AV. But it's nine- foldness is generally accepted.
2. *Atharvaveda Saṁhitā (Śaunakīya)*: Ed. S.P. Pandit.
3. *Atharvavedasaṁhitā (Śaunaka)*: Ed. Visva Bandhu, 5 vols.
4. *Der Atharvaveda in Kashmir*. R. Roth, Berlin 1875.
5. Barret, L.C. The *Kashmirian Atharvaveda*, JAOS.
6. *Paippalāda Saṁhitā of the Atharvaveda*: Raghu Vira 1-20 books.
7. Bhattacharya, D. M. Paippalāda Saṁhitā of the Atharvaveda, Sanskrit College, Calcutta 1964.
8. Bhattacharya, Dipak. The Paippalāda Saṁhitā of the AV. Vol-I, Asiatic Society, Calcutta 1997. Do Vol. 2 Kāṇḍa 16th, 2008., Do Vol. 3 Kāṇḍas 17-18, 2011., Do Vol. 4 Kāṇḍas19-20, 20
9. Paul Theime in *'Pāṇini & the Veda'*.Allahabad, 1935:66 shows that the citation in Patañjali's Mahābhāṣya are from Paippalāda.
10. Pitṛadayitā, Sanskrit Sahitya Parisad , p. 20.
11. Chandogyamantrabhāṣya, Sanskrit Sahitya Parisad, p. 117.
12. Page-xv-xvi of *The Paippalāda Saṁhitā of the Atharvaveda*, vol- 4 by Dipak Bhattacharya (2016).

Bibliographical References:

Primary sources:

- Atharvaveda Saṁhitā (Paippalāda): Atharvaveda Saṁhitā(Śaunaka): S. P. Pandit, Bombay (1995-98).
- Atharvaveda Saṁhitā (Śaunaka): Ed. Visva Bandhu, 5 vols, VVRI, Hoshiarpur (1960-64).
- Atharvaveda Saṁhitā : Trans. M. Bloomfield, SBE, vol-42, (1897), rpt., MLBD, Delhi (1979).
- Atharvaveda Saṁhitā : Trans. W. D. Whitney, 2 vols, (1905), rpt., MLBD, (1993).
- Paippalāda Saṁhitā of the Atharvaveda, vol-I, Sanskrit College, Calcutta (1964).
- Do Vol. 2 Kāṇḍas 2-4, (1970).
- Paippalāda Saṁhitā of the Atharvaveda, vol-I, Ed. Dipak Bhattacharya,vol-1, Asiatic Society, Calcutta (1997).
- Do Vol. 22 Kāṇḍa 16th, (2008).
- Do Vol. 3 Kāṇḍas 17-18, (2011).
- Do Vol. 4 Kāṇḍas19-20, (2016).
- Paippalāda Saṁhitā of the Atharvaveda: Raghu Vira,books - 1-20, Aditya Prakashan, Delhi (2008).
- Ṛgveda Saṁhitā : Ed. D. Satavalekar, 4th ed. Pardi, Gujarat.

- Ṛgveda Saṁhitā : Trans. R.T.H Griffith, rpt., 2 vols, Chowkhamba Skt. Series,Varanasi (1971).
- Sāmaveda Saṁhitā : Ed. D. Satavalekar, 4th ed Pardi, Samvat (2012).
- The Vyākaraṇa Mahābhāṣya of Patañjali : Ed. F. Kielhorn, Poona (1906), vol-I & II, Revised by K. V. Abhyamkar, (1965).

Secondary sources:

- Adhikari, T.N. Gopatha Brāhmaṇa : A Critical Study. Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta (1994).
- Bhattacharya, Dipak. "*On Paippalāda-Saṁhitā* 4.15.6-7". In: Journal of the Asiatic Society, vol-I, No. 4, Calcutta (2008).
- Bhattacharya, D.M. "*New Materials for Atharvavedic study*". In: ME?LANGES D'INDIANISME, Paris (1968).
- Bloomfield, Maurice. The Atharvaveda and the Gopatha Brāhmaṇa. Arsha Prakashan.Allahabad, (1899).
- Biswas, Piyali. "*Discovery and development of the Paippalāda Saṁhitā of the Atharvaveda*". In: JOURNAL OF THE DEPARTMENT OF SANSKRIT. Vol.XXI, (2015-2016). Rabindra Bharati University, Kolkata.
- Ghosh, Abhijit. Ātharvaṇá. Sanskrit Book Depot, Kolkata (2002).
- Griffiths, Arlo. Paippalāda Mantras in the Kauśika Sūtra. (2004).
- Jha, N.Vashistha. A Linguistic Analysis of The Ṛgveda-Paippalāda. Sri Satguru Publications, Delhi (1992).
- Macdonell, A. A. A History of Sanskrit Literature. Motilal Banarsidass, Delhi (1976).
- Mishra, K. Prafulla. New Dimension in the Atharvaveda. Pratibha Prakashan, Delhi.
- Modak, B. R. The Ancillary Literature of the Atharvaveda. Rastriya Vedavidya Pratisthan, Delhi (1993).
- William, D. Whitney. The Atharvaveda Prātiśākhya. Rastriya Sanskrit Sansthan, New Delhi. 2nd rpt. (2006).
- Winternitz, Maurice. A History of Indian Literature, vol-I, Motilal Banarsidass, Delhi (1981). rpt. (1987).

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

Rudra's physician characters as delineated in the Vedic Saṁhitās

Dr. Maumita Bhattacharjee*

Abstract : (Vedas are the store house of knowledge. The *Ṛgveda*, the *Yajurveda*, the *Sāmaveda* and the *Atharvaveda* are the oldest recorded documents on earth. As a result of continuous research it has now become an established fact that the literature shows sufficient evidences dwelling on numerous branches of studies of not only arts but also science. The medical topics also have been dealt in the Vedas. The Vedic people never wished to die living only a short span of life. They desired to live for hundred years at least. They wished to enjoy their life hundred years. Therefore, they did struggle and effort made to live life free from diseases during the Vedic civilization. The *Ṛgveda* has mantras of huge number praying to keep body healthy. For example, there is a prayer to god Rudra to take care both two footed and four footed animals so that they do not become sick. Thus, one afflicted with disease is asked to offer oblation to god. Rudra is called great physician (Ṛ.V., 2.33.4). In Vedas Rudra is said to have healing remedies. There is a spell in the *Atharvaveda* which is chanted against disease and here Rudra is said to have a healing remedy against *vraṇaroga*. The devotees invoke Rudra to confer medicines for cow, horse, man etc. In the *Ṛgveda*, Rudra is described as a healer of diseases. His remedy is called *jalāṣa* and that is why he is known as *Jalāṣabheṣaja*. The role of Rudra as a physician is more vividly depicted in the *Atharvaveda*. Rudra is invoked by the worshippers to be gracious to them along with *jalāṣa* (A.V., 6.57.2).

In this paper, an attempt has been made to highlight the physician characteristics of Rudra as found in the Vedic Saṁhitās.)

The Vedas are regarded as the most sacred and ancient texts of Hinduism. Vedas are the store house of all kinds of knowledge. The word *Veda* comes from the root vid to know with the suffix *ac* or *ghañ*. According to Sāyaṇācārya, *Veda* is that book by which people can know the supernormal means of attainment of desired things and avoidance of

* Assistant Teacher, Bidyapur High School, Bongaigaon, Assam

unwanted things.[1] Manu says in his book *Manusmṛti* that the *Veda* is the source of dharmas or religions.[2] There are four Vedas in number viz., the *Ṛgveda*, the *Yajurveda*, the *Sāmaveda* and the *Atharvaveda*. They are not only a collection of religious text but also represent the various aspects of the ancient Indian civilization. Study of medical sciences in India was started from Vedic period. The Vedic medicines take care of the people's health physically, mentally and spiritually and helped in sustaining good health of people in ancient times. The Indian medical science recognizes the Vedas as its source. The Vedas are a curious treasury of medicine in its various stages of evolution. The vedic priest saves the lives of the human beings as well as domestic creatures like cows, horses etc., by practising their medicines in the villages.

In the ancient period, the Vedic Āryans worshipped the natural elements as their gods. They wondered seeing the powerful strength of nature. The Vedic people started to believe that there must be some energy behind nature. They believed in the omnipotence of the supernatural which inspired them to venerate the different phenomena of nature. The gods are worshipped thinking about the different phenomena of nature. They preside over supernatural entities. These supernatural powers govern the phenomena of nature. The Vedic people believed the natural phenomena as deities.

The term *deva* (god) comes from the root *div* to shine. So, the term *deva* means one who is shining. According to Yāska, *deva* is one who bestows gifts (from the root *dā*), who is shining (from the root *dīp*), who is bright (from the root *dyut*) and who resides in the heaven.[3] Yāska again states that whatever (any object) is praised by a devotee in the hymn is called as *devatā*.[4] According to the Vedas, the Ultimate Being manifested himself in different forms. The Vedic seers call the one being by numerous names. They call him as Agni, Indra, Yama, Mātariśvān.[5] Yāska, the author of *Nirukta*, classified the gods which are mentioned in the Vedas, are three. He states that- there are three deities viz., 'Agni whose place is on the earth, Vāyu or Indra whose place is in the air and Sun whose place is on the sky.'[6] According to Yāska, Rudra is the deity of middle region.[7]

In this paper, the physician characteristics of Rudra as found in the Vedic Saṁhitās have been discussed in detail.

In the Ṛgvedic period, Rudra is depicted as a minor deity. His name appears about 75 times in the *Ṛgveda*. In the *Ṛgveda*, three entire hymns (R.V., 1.43; 114; 2.33) are dedicated to Rudra. He is celebrated in a part of another (R.V., 7.46) and in one jointly with Soma (R.V., 6.74). But at the time of the *Yajurveda* and the *Atharvaveda* he has occupied a prominent position. He is a malevolent as well as benevolent deity. Two contradictory characters have been found in him. In the *Ṛgveda*, his malevolent

character is revealed very clearly. But without speaking his benevolent character it can not be concluded. He is called as *Miḍhva*, *Śiva*, *Vṛṣabha* etc. For the first time in the *Ṛgveda*, Rudra is depicted as *Jalāṣa Bheṣaja*[8] an epithet that suggests his healing powers and depicts him as a physician. Vedic commentator Sāyaṇācārya explains that *jalāṣabheṣaja* is such a type of medicine which confers happiness and remedies. The medicines consisting of water may also be called *jalāṣabheṣaja*.[9] Sāyaṇācārya again states that *jalāṣa* means *sukha* (happiness). Rudra has the medicines like *jalāṣa* (happiness), that is why he is regarded as *Jalāṣabheṣaja*.[10] Rudra grants remedies to his devotees[11] and he is said to have thousands medicines.[12] In another *mantra* of the *Ṛgveda*, it is stated that his hand is filled with medicines.[13] From this aspect he is designated as a greatest physician[14] and by his propitious medicines his adorers desire to live a hundred winters. He is also invoked to remove all pervading diseases by his auspicious medicines.[15] Soma is invoked along with Rudra as the dispenser of remedies.[16] In the *Ṛgveda*, Rudra's physician character is revealed by the name *Anamīva*.[17] Vedic commentator Sāyaṇācārya gives the explanation of this term *anamīva* thus-*amīvā rogaḥ*। *tamakurvān bhava* or one who protects from diseases and heals all types of illness.[18]

In the *Śatarudriya* section of the *Vājasaneyisaṁhitā*, he is extolled as *Prathamo Daivyo Bhiṣak* or the first divine physician.[19] Uvaṭa takes the term *prathamo daivyo bhiṣak* as *mukhyo devasaṁbandhi bhiṣak vaidyaḥ*.[20] Mahīdhara explains the term *daivyo bhiṣak* as *daivyaḥ devebhyo hitaḥ* । *bhiṣak roganāśakaḥ smaraṇenaiva roganāśādbhiṣaktvam*.[21] Rudra is called *Bhiṣak* because he is the destroyer of diseases. One can free himself from all diseases by memorising or remembering his names. He is designated as *Jalāṣabheṣaja*.[22]

In the *Atharvaveda*, the physician characteristics of Rudra are depicted very clearly. Rudra is said to have healing remedies. There is a spell in the *Atharvaveda* which is chanted against disease and here Rudra is said to have a healing remedy against *vraṇaroga*. By the medicine of Rudra one shafted hundred tipped arrow can be spell away.[23] Sāyaṇācārya in his commentary states that *bheṣajaṁ asya vraṇarogasya nivarttakaṁ auṣadhaṁ*। *idameva rudrasya bheṣajam*.[24] In the Introduction of the hymn *Atharvavedasaṁhitā* 6.57, Sāyaṇācārya states that......................... *mukharahitavraṇabhaiṣajārthaṁ gomutreṇa vraṇaṁ marhayet* or one should smear cow's urine on *vraṇa* to cure this.[25] The *Kauśika-Sūtra* describes it is a healing rite, while treating an abscess with foam of urine.[26] Dārila in *Kauśika-Sūtra*, also says that- *akṣita vraṇabhaiṣajyamucyate*। .... *gomutramabhimantra tena vraṇamardayati*.[27] It means the *vraṇa* or abscess has been cured by sprinkling cow's urine. Rudra is called *Jalāṣa Bheṣaja*.[28] According to Sāyaṇācārya, *jalāṣa* means *sukha* or happiness and

Jalāṣabheṣaja is one who has the medicine of happiness. And also *jalāṣa* means water. The one upon remembering whose name, water changes in to medicine is known as *Jalāṣabheṣaja*.[29] According to P.M. Rath, '*jalāṣa* is the cow urine.'[30] Rudra is invoked by the worshippers to be gracious to them along with *jalāṣa*.[31] V.W. Karambelkar in his book entitled *The Atharvavedic Civilization* says that- "For the wounds without opening *Akṣata Vraṇa* (tumour) the *Kauśika* has a special treatment at 31.11-15 in connection with VI.57. The ritual is based upon the remedy known as *'Jalāṣa'* which is the special gift of Rudra."[32]

There is another mantra of the *Atharvavedasaṁhitā*, where it is said that the water where *gośṛṅga* is poured that very water is addressed as Rudra's urine. That very water is called *viṣāṇakā* as well as navel of immortal.[33]

At the end of this paper, it can be said that Rudra is the greatest physician. By his auspicious medicines, his worshippers wished to live hundred winters. His hand is always full of medicines. So, it can be said that the role of Rudra as a physician is vividly depicted in the Vedic Saṁhitās.

Abbreviations :

- A.V. - *Atharvavedasamhitā.*
- Kau. S. - *Kauśika Sūtra.*
- Manu.S - *Manusmṛti.*
- Nir. - *Nirukta.*
- R.V. - *Ṛgveda.*, V.S. - *Vājasaneyisaṁhitā.*
- Ibid. - Ibidem, in the same place. Vide - *See.*

References.

1. iṣṭaprāptyaniṣṭaparihārayoralaukikamupāyaṁ yo grantha vedayati sa vedaḥ. ˇ Sāyaṇa in his *Bhāṣyabhūmikā* on the *Aitareya Brāhmaṇa.*
2. vedo 'khilo *dharmamūlam*' । Manu. S., 2.6
3. devo dānādvā '। dīpanādvā ।' dyotanādvā । 'dyusthāno bhavanti vā ।' Nir., 7.15
4. Ibid., 7.1
5. indraṁ mitraṁ varuṇamagnimāhuratho divyaḥ sa suparṇo garutmān ।
   ekaṁ sadviprā vahudhā vadantyagniṁ yamaṁ mātariśvānamāhuḥ ।। .
   R .V., 1.164.46
6. tisraḥ eva devatāḥ- iti nairuktāḥ । 'agniḥ pṛthivīsthānaḥ vāyurvā indro vā' antarikṣasthānaḥ, sūryo dyusthānaḥ ।। Nir., 7.2.5
7. athāto madhyasthānā devatāḥ । tāsāṁ vāyuḥ prathamagāmī bhavati । vāyurvātervetervā ...rudra rautīti sataḥ । Ibid., *Dvaivatakāṇḍa* 10.1-5
8. Ṛ. V., 1.43.4; 2.33.7
9. jalāṣabheṣajaṁ sukharūpauṣadhopetam ।
   yadvā udakarūpauṣadhopetam । Sāyaṇa on Ṛ. V., 1.43.4
10. jānāṁ lāṣo yasmin tajjalāṣaṁ sukham ।
    jalāṣarūpaṁ bheṣajaṁ yasmin rudre saḥ jalāṣabheṣaja ।। Sāyaṇa, Ibid.
11. bhūrerdātāraṁ satpatiṁ gṛṇīṣe stutastvaṁ bheṣajā rāsyasme । Ibid., 33.12

12. sahasraṁ te svapivāta bheṣajā mā nastokeṣu tanayeṣu rīriṣaḥ। Ibid., 7.46.3
13. haste bibhradbheṣajā vāryāṇi śarma varma cchardirasmabhyaṁ yaṁsat. Ibid., 1.114.5
14. unno vīrān arpaya bheṣajebhirbhiṣaktamaṁ tvā bhiṣajāṁ ṣṛṇomi. Ibid., 2.33.4
15. tvādattebhī rudra śaṁtamebhiḥ śataṁ himā aśīya bheṣajebhiḥ।
    vya' smaddveṣo vitaraṁ vyaṁho vyamīvāścātayasvā viṣūcīḥ।। Ibid., 2.33.2
16. somārudrā yuvametānyasme viśvā tanūṣu bheṣajāni dhattam। Ibid., 6.74.3
17. avannavantīrupa no duraścarānamīvo rudra jāsu no bhava। Ṛ. .V., 7.46.2
18. Sāyaṇa, Ibid.
19. adhyavocadadhivaktā prathamo daivyo bhiṣak। V. S., 16.5
20. Uvaṭa, Ibid.
21. Mahīdhara, Ibid.
22. rudra jalāṣabheṣaja nīlaśikhaṇḍa karmakṝt। A. V., 2.27.6
23. idamid vā u bheṣajamidaṁ rudrasya bheṣajam।
    yeneṣumekatejanāṁ śataśalyāmapavravat।। A. V., 6.57.1
24. Sāyaṣa, Ibid.
25. Ibid.
26. idamidvā ityakṣataṁ mūtrafenenābhyudya। Kau. S., 31.11
27. Dārila on Kau.S., 31.11
28. A.V., 2.27.6
29. jalāṣaṁ iti sukhanāma .... jalāṣaṁ sukhakaraṁ bheṣajaṁ yasya। yadvā udakanāmaitat।
    jalāṣaṁ udakamātraṁ yasya smaraṇena bheṣajaṁ bhavati sa tathoktaḥ।।
    Sāyaṇa, Ibid.
30. Vide, Rath, P.M., *Rudra-Śiva in the Vedas*, p.43
31. jalāṣenābhi siñcata jalāṣenopa siñcata।
    jalāṣmūgraṁ bheṣajaṁ tena no mṛḍa jīvase। A. V., 6.57.2
32. Vide, Karambelkar, V. W., *The Atharvavedic Civilization*, p. 179
33. rudrasya mūtramalyamṛtasya nābhiḥ।
    viṣāṇakā nāma vā kāsi pitṛṇāṁ mūladutthitā vātīkṛtanāśanī।। A. V., 6.44.3

Bibliography :

Original Works:

- *Atharvavedasaṁhitā* : with the commentary of Sāyaṇācārya, ed. by Shankar Pandurag Pandit, Krishnadass Academy, Varanasi, Vols. I-IV, 1989
- *Atharvavedīya- Kauśika-Gṛhyasūtram* : ed. by Udaynarayan Singha (Hindi trans.), Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 2009
- *Manusmṛti* : with the Sanskrit commentary Manvartha Muktāvalī of Kullūka Bhaṭṭa, ed. by J.L. Shastri, MLBD, Delhi, 1983
- *Niruktam of Yaska Muni* : ed. by M.M. Pandit Mukund Jha Bakshi, Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Delhi, Rpt., 2002
- *Nighaṇṭusamanvitaṁ Niruktaṁ* : ed. and trans. (English) by Laksman Sarup, New Delhi, 1967
- *Ṛgvedabhāṣyabhūmikā of Sāyaṇācārya* : with Śāradī Hindi commentary by Sharada Chaturvedi, Krishnadas Academi, Varanasi, 1984

- *Ṛgveda Saṁhitā* : with the commentary of Sāyaṇa, Vaidika Saṁśodhana Maṇḍala, Poona, Vol. I, 1933, Vol. II, 1936, Vol. III, 1941, Vol. IV, 1946
- *The Kauśika-Sūtra of The Atharva-Veda* : with extracts from the commentaries of Dārila and Keśava, ed. by M. Bloomfield, MLBD, New Delhi, 1889
- *Vājasaneyisaṁhitā*, with the commentary of Uvaṭa and Mahīdhara, Published by J.L Shastri, Motilal Banarsidass, Delhi, 1978

Modern Works :

- Basu, Jogiraj : *India of the Age of the Brāhmaṇas,* Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1969
- Bhandarkar, R. G. : *Vaiṣṇavism, Śaivism and Minor Religious Systems*, Asian Educational Services, New Delhi, 1983
- Bhattacharya, H. N. : *Hinduder Devdevi : Udbhav O Kramavikāś*, Firma KLM Pvt.Ltd., Calcutta, Pt. II, 1984
- Chakravarti, Mahadev : *The Concept of Rudra-Śiva Through the Ages*, MLBD, Delhi, 1986
- Griffith, R.T.H. : *The Hymns of the Ṛgveda* (trans.) ed. by J.L. Shastri, MLBD, Delhi, 1986
- Karambelkar, V. W. : *The Atharvavedic Civilization,* Nagpur University, Nagpur, 1959
- Muir, J. : *Original Sanskrit Texts,* Oriental Press, Amsterdam, Vols. I- IV, 1967
- Rath, P. M. : *Rudra-Śiva in the Vedas*, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi, 2011
- Whitney, W. D. *Atharvaveda Saṁhitā,* ed. by K. L. Joshi, Parimal Publications, Delhi, Vols. I-III, 2009

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, Impact Factor : 3.082, No. XIII, July - Dec. - 2019

Relevance of Swami Vivekananda's views in the 21st Century

Dr. Annapurna Ghosh*

Abstract : *The greatest quest of the youth is for a meaningful life that inspires the heart, liberates the mind and ignites the soul. He recognized every human being as a powerhouse to achieve a desired goal. Swami Vivekananda witnessed misery, struggle and success. Hence his real life experiences and preaching's to every aspect of human development both physical and mental were a resurrection of humankind. Swami Vivekananda also traces the philosophy of education of love in social inter-actions of mankind. He describes the true nature of man as soul force as atman.*

Introduction

Swami Vivekananda was a great monk of India. He popularized his guru's religious message and tried to put it in a form that would suit the needs of contemporary Indian society. In the 21st century, when the youth of India are facing new problems, pushing boundaries and aspiring for a better future, thoughts of Swami Vivekanand have become more relevant. Swami Vivekananda witnessed misery, struggle and success. He urged the people to imbibe the spirit of liberty, equality and free thinking. Swami Vivekananda followed the ideals of Vedanta and Yoga in every sphere of life. Like, our daily life, life as a citizen, our family life, social life and nationalistic spirit all these are influenced by *Vedanta and Yoga*.

Philosophy of Swami Vivekananda :

I. Vedānta :

Philosophy of Swami Vivekananda may be said to have been rooted partly in the teachings of his great guru Ramakrishna Paramhansadeva and partly to those of Kevaladvaita Vedānta of Samkaracārya. From Ramakrishna Paramhansadeva he received the message of rendering unfailing service to human beings, serving *Jiva* and *Shiva* through the unique power of love from Samkaracārya he learnt the message of *tattvamasi or aham Brahmasmi or Jiva Brahmaiva naparah.* These two great teachings are harmonized by Swami Vivekananda in his characteristic convincing way into what he calls 'Practical Vedānta'. It may be roughly said

* Assistant Professor, Department of Sanskrit, M.U.C. Women's College Purba Bardhaman, West Bengal

that Practical Vedanta gives us a philosophy of man or particularly a philosophy of human action which rests on a couple of key-concepts one of which (a) cultivation of fearlessness through the awakening of one's inherent spiritual force and freedom as one's birthright and the other (b) realization of oneness with the infinity consequent on the realization of oneness of all human beings behind their deceptive manyness. Spiritualism does not mean here the belief that departed spirits communicate with and show themselves to men especially at seances by means of spirit - rapping, handwriting etc. It means the unique realization of the unity of the individual being with the transcendental universal being the supreme soul, the Brahman. It may be permitted to quote here a strikingly parallel line of thought from Rabindranath. He says:

"Truth is in unity and therefore freedom is in its realization. The texts of our daily worship and meditation are for training our mind to overcome the barrier of separateness from the rest of existence and to realize *Advaitam*, the supreme unity which is *Anantam*, infinitude. It is philosophical wisdom, having its universal radiation in the popular mind of India that inspires our prayer, our daily spiritual practices. It has its constant urging for us to go beyond the world of appearance in which facts as facts are alien to us like the mere sounds of foreign music; it speaks to us of an emancipation in the inner truth of all things where the endless many reveal the one".[1]

Swami Vivekananda believes that every man's action, if it is good, will always be free from any conflict. What he wanted in every individual human being is his character to be built upon firm determination and good will for others. Swami Vivekananda is against the idea of according special privileges to a cross - section of a society, and as such it might safely be said that the Kantian explanation of moral actions suits very well the main teachings of practical Vedanta. This universalization of actions is, of course, a matter of inner feelings, a matter of realization of the ultimate truth that all human beings are potentially divine irrespective of caste, creed, and religion. This is the reality in every man and this should be the object of highest worship. Swami Vivekananda opinion, authority, what form it may assume, will always retard the growth of humanity. Man should grow out of himself, out of his own realization of truth. "Even in all relative truth, more than the truth itself, we want the exercise. That is our life".[2]

It may be said in conclusion that practical Vedanta has given us the picture of a divine reality which has its highest place in the history of our religion owing to its human character. It also offers an eternal background to all the ideals of perfection which have their harmony with man's own nature. The life of a man is an incessant struggle to break through the shell of his deceptive limitations. The limitations of his biological needs of his

selfish desires of all the social evils which stand in the way of his own inner spirit of manifestation in truth and goodness.

II. *Yoga* :

Swami Vivekananda himself in his *Yoga* treatises dwells mostly on principles and doctrinal elements. Most of these elements have already been extracted from them and judicious use has been made of them under the various aspects of this study. Therefore what remains to be done is only brief treatment for the sake of completeness.[3] The order followed here is the one followed by Swami Vivekananda himself in "The ideal of the Universal religion where he spoke of all the four *Yogas*."[4] The four Yogas such as -

(1) *Raja-Yoga* (The way of psychology):

Raja-yoga is the way to the realization of immortality by controlling the mind and the body. There are eight principal parts or stages to this yoga. The first and the most important is *Yama* or the mastry which has to govern the whole life of a *Yogi* (one who practices *Yoga*). Yama includes within itself the practice of five leading virtues; *Ahimsa, Satya, Asteya, Brahmacarya, Aparigraha.*

(2) *Karma-Yoga* (The way of action):

Swami Vivekananda says, "*Karma-Yoga* ..... is a system of ethics and religion intended to attain freedom through unselfishness and by good works. The *Karma-Yogi* need not believe in any doctrine whatsoever. He may not ask what his soul is nor think of any metaphysical speculation. He has got his own special aim of realizing selflessness and he has to work it out himself".[5] Swami Vivekananda very reverently takes the example of the life of Lord Buddha who after attaining *Nirvāna* kept on working throughout his life. His works can be taken as the ideal of non-attachment.

(3) *Bhakti-Yoga* (The way of Devotion):

Swami Vivekananda says that strong emotions have the capacity to awaken and activate the potential powers of man. As such it is possible to activate it so much that man is able to know God himself. Ordinary emotion can be converted in to powerful feelings, ordinary love can be converted into divine love or supreme devotion, this is the *Bhakti Marga.* These types represent the fire stages of supreme love experienced by the *Bhaktas* :

a. *Santa* (peaceful) b. *Dāsya* (servant-ship) c. *Sākhya* (friendship)
d. *Vatsalya* (love towards a child) e. *Madhura* (sweet).

(4) *Jnāna-Yoga* :

(The way of knowledge) - *Jnāna-Yoga* is based on the realization that bondage is due to ignorance. According to Swami Vivekananda, ignorance of the real nature of things, it is the inability to distinguish between the

real and the unreal. Although Swami Vivekananda describes these four ways differently he says that they are different ways for the realization of the same goal. It is quite possible that a particular person is incapable of following the Jnāna-mārga and finds the way of devotion convenient and to his liking. Therefore Swami Vivekanda feels that one can choose the path he likes. If one follows any one of these paths with sincerity and earnestness. He will be able to reach the goal. Swami Vivekananda must be transformed morally, religiously and spiritually. Therefore, whatever be the way the entire energy of the soul has to be put in to it.

III. Māyā :

Swami Vivekananda's philosophy *Māyā* is conceived just as a fact about the nature of the world it seeks to express the essential characters of the world as it exists. Swami Vivekanada explains the nature of this fact in a very clear manner when he says, ".... *māyā* is not a theory for the explanation of the world : it is simply a statement of facts as they exist, that the very basis of our being is contradiction that everywhere we have to move through this tremendous contradiction that wherever there is good, there must also be evil and wherever there is evil, there must be some good, wherever there is life, death must follow as its shadow, and everyone who smiles will have to weep, and vice-versa".[6] Swami Vivekanada says, What you call matter or spirit or mind or anything else you may like to call them, the fact remains the same we cannot say that they are, we cannot say that they are not. We cannot say that they are one, we cannot say that they are many. This eternal play of light and darkness - indiscriminate, indistinguishable, inseparable - is always there, a fact, yet at the same time not a fact, awake at the same time asleep - this is a statement of fact and this is what is called *Māyā*".[7]

Vivekananda's Quest : Swami Vivekananda was of the view that the youth can lead a successful life for themselves or for others only when they are physically fit. He believed that working for social change requires energy and spirit. Hence, he asked the youth to work on both- mental energy and physical fitness. What Swami Vivekananda wanted from the youth was 'muscles of iron' and 'nerves of steel'. He said, "you will be nearer to heaven through football than through the study of the Gita". He was a staunch supporter of human strength and said. "*strength is life, weakness is death*" and one cannot enjoy material life without strength.

Swami Vivekananda wanted to young to undertake social activities, not merely for the betterment of society but also for their individual evolution and growth. He said, "For the next fifty years this alone shall be our keynote- this, our great Mother India. Let all other Gods disappear for the time from our minds." He talked "about worship of common man in place of God for the purification of the heart and betterment of the

society. Vivekananda said that what is needed is "Chittashuddhi" or purification of the heart which can be achieved through worship of those all around us.

IV. Education and Universal Love:

Swami Vivekananda's philosophy of education in terms of love is primarily based on the theory of self-discipline for self-advancement that always welcomes and exercises altruism. Swami Vivekananda also traces the philosophy of education of love in social interactions of mankind. His introspective vision of love is the fountain of social ascent and excellence. For this he encourages on making a real bond of love and harmony between truth and society. Swami Vivekananda's vision of spiritual advancement is deeply rooted to the aesthetics of inwardness where purity of mind and kindliness of heart. He considers education as an ardent and disciplined exercise where the role of spiritual poignancy totally depends on how to serve the entire humankind. For this, purity of heart is of great necessity. This makes easy and heartening inroads to inner spiritual excellence. As it is itself an aesthetic endeavor, the spiritual perfection that promises the ascent of man also eliminates the difference between man and God - *Jīva* and *Shiva*.

The education of spirituality as Swami Vivekananda elucidates above is further substantiated by the true nature and love for morality. Morality as such makes education abstract. It becomes living and nearest to spiritual excellence when the education of love for denial of the self and therefore unflinching devotion and adherence to altruism becomes natural free and spontaneous. To 'drink the cup of love' as he advises in pursuing education of love for mystic fullness demands a certain form of extinction of personality. This means that education in terms of love allows us to delve deep into the world of knowledge and beyond in order to ascertain how far love is really translated for the good of others in justifying goodness to oneself in nothingness so far as the mystic spirit of altruism is concerned. In idealizing and translating education of love as a characteristically mystic component for fullness and beyond that Swami Vivekananda makes no difference between knowledge and love - *Jnāna* and *Bhakti* - and allows the two to be synchronized in all purity and perfection.

Education : He said, "It is the young, the strong, and healthy, of sharp intellect that will reach the Lord. This is the time to decide your future-while you passes the energy at youth, not when you are worn out and jaded, but in the freshness and vigor of youth. There are greater works to be done than aspiring to become something. A far greater work is this sacrifice of yourselves for the benefit of your race, for the welfare of humanity." Swami Vivekananda supported physical fitness and social service but also asked the youth to rouse their intellectual strength to

understand both the worlds. He emphasized on education for all. He said, "Education is not the amount of information that is put into your brain and runs riot there, indigested, all your life. We must have life- building, man-making, character making assimilation of ideas.

V. Spiritual Practice:

Ramakrishna says, God is in the world but you have to persevere to see Him. The temple of the body should not be kept in darkness; the lamp of knowledge must be lighted in it. To find God, you must offer to Him your body, your mind and all your possessions. He who seeks God finds Him; he who seeks for wealth or power, gets that.

There are seven stages in *Sādhana* -

1. *Sādhu-Sanga* 2. *Shraddhā* 3. *Nishthā* 4. *Bhakti* 5. *Bhāva* 6. *Mahābhāva* 7. *Prema.* This brings the devotee face to face with god.

Swami Vivekananda describes the true nature of man as soul-force or Atman. In his descriptions of the *Ātman* Swami Vivekananda has freely used even exaggerated expressions. Following the *Gītā* he describes the *Ātman* thus, "It is the self beyond all thought one without birth or death whom the sword cannot pierce or fire burn whom air cannot dry or water melt, the beginningles and endless, the unmovable, the intagible, the omniscient, the omnipotent being, that it is neither the body nor the mind, but beyond them all". He said, "Life is short, but the soul is immortal and eternal, and one thing being certain, death, let us therefore take up a great ideal and give up our whole life to it."[8]

Conclusion :

Swami Vivekanand is often aptly described as a *Karma yogi.* He exemplified his teachings through his own life. He chose the path of spiritual consciousness and tried to assuage the mental and physical world. He worked among the most down trodden and considered them as his god, much in line with his own teachings. He aroused his social consciousness and translated it into social action while serving the most marginalized class. Understanding Swami Vivekananda and his message and putting it across our youth can be the simplest way to address many problems faced by India today. Each individual can begin with himself by preparing himself for the greater cause. She needs to ensure that her physical, mental, social and psychological faculties are well tuned to the work ahead. Swami Vivekananda was a great observer of the human mind and the human society at large. He understood that undertaking any social change calls for enormous energy and will power. Since, then the light of the world dawned for the first time upon the future Swami Vivekananda. Thus was born the philosopher, the religious reformer, the great humanist and a man with a new religious message and above all, one of the greatest thinkers the world has hardly seen.

References :

1. The Religion of Many, Unwin Books, London, 1975, pp. 115-116.
2. Practical Vedānta, Mayavatī, Vol. II, 1958, p. 357.
3. For a fuller Treatment of the Yogas with numerous references to Western Psychology and Mysticms, R. Rolland, op. part II, ch- 2.
4. Cf. Swami Vivekananda, CompleteWorks- II, p. 388.
5. Swami Vivekananda, Karma Yoga, pp. 131-132.
6. Swami Vivekananda, Jnāna Yoga, p. 64.
7. Swami Vivekananda, Complete works II., p. 112.
8. Swami Vivekananda, Complete works, I., p. 141.

Bibliography :

- Mannumel, Thomas, 1991. *The Advaita of Vivekananda a Philosophical Appraisal*, T.R. Publications for Satya Nilayam Publications, Madras.
- Lal, Basant, Kumar, 1973. *Contemporary Indian Philosophy*, Motilal Banarsidass, Indological Publishers and Booksellers, Patna.
- Nikhilananda, Swami, 1963. *Holy Mother*, George Allen and Unwin Ltd. London.
- Paranjape, Makarand, 2005. *The Penguin Swami Vivekananda Reader*, the Penguin Group, India.
- Sivaramkrishna, M., and Roy, Sumita, 1991. *Perspectives on Ramakrishna-Vivekananda Vedanta Tradition*, Sterling Publishers Private Limited, Ramakrishna - Vivekananda Seva Samiti, Hyderabad.
- Sengupta, Pradip, Kumar, 1995. *The Philosophy of Swami Vivekananda,* Progressive publishers.
- Bandhopadhyay, Pranab,1990. *Ramakrishna and the Divine Mother*, United Writers: 3 Middleton Row, Calcutta.
- Pal, Satya, Narayan, 2010. *Swami Vivekananda's Thought - Its Implications on India Today*, Jogemaya Prokashani, Kolkata.
- Lokeswarananda, Swami, 1994. Swami Vivekananda: A Hundred Years Since Chicago - Commemorative Volume, Belur, West Bengal, India.
- Badrinath, Chaturvedi, 2006. *Swami Vivekananda the Living Vedanta*, Penguin Books, India.
- Chakrabarti, Mohit, 2006. *Swami Vivekananda - Education of love*, Kanishka Publishers, New Delhi.
- Radice, William, 1998. *Swami Vivekananda and the Modernization of Hinduism*, Oxford University Press, Delhi.
- Sen, Amiya, P., 2000. *Swami Vivekananda*, Oxford University Press, Delhi.

शोध नवनीत शोध पत्रिका के सामान्य नियम

- शोध–नवनीत शोध पत्रिका के सम्पादक, समीक्षक आदि समस्त पद अवैतनिक हैं।
- शोध–नवनीत शोध पत्रिका देश–विदेश के विद्यार्थियों, शोधच्छात्रों, शिक्षाविदों तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों के शोध प्रक्रिया आधारित गुणवत्तापरक, ज्ञानपूर्ण एवं स्तरीय शोधपत्रों/शोधलेखों को नि:शुल्क प्रकाशन के लिए आमंत्रित करता है।
- सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति द्वारा चयनित शोधपत्रों/शोधलेखों को ही प्रकाशित किया जायेगा; किन्तु इसकी सामग्री के प्रति जवाबदेही इसके लेखकों की होगी। शोधपत्र/शोधलेख मौलिक या पाण्डुलिपि से सम्बन्धित होना चाहिए। लेखकों के मत से सम्पादक मण्डल की सहमति अनिवार्य नहीं है, किन्तु किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के विरुद्ध लेखों के प्रकाशन के लिए न विचार किया जायेगा और न ही प्रकाशित किया जायेगा।
- सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक आदि के द्वारा अस्वीकृत शोधपत्रों/शोधलेखों को उनके लेखकों को वापस नहीं किया जायेगा। इसलिए लेखक अपने पास इसकी एक प्रति सुरक्षित रखें। शोधपत्रों/शोधलेखों की सामग्री अनुचित या विवादित होने की स्थिति में सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा। सम्पादक/सम्पादक मण्डल आदि द्वारा शोधपत्रों/शोधलेखों के पाण्डुलिपि आदि में कुछ परिवर्तन करके प्रकाशित किया जा सकता है।
- शोध–नवनीत में प्रकाशित शोधपत्रों/शोधलेखों को देश–विदेश के विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, शोध–संस्थान आदि के द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत किये जाने पर प्रकाशक, सम्पादक, सम्पादक मम्डल, मुद्रक आदि की कोई जिम्मेदारी नहीं होगी।
- अगला अंक प्रकाशित होने के बाद पहले के अंकों की सामग्री का दुरुपयोग न हो इसलिए नष्ट कर दिया जायेगा। सी.डी./ई–मेल से प्राप्त लेखों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जायेगा।
- शोध–नवनीत से सम्बन्धित विवाद के किसी भी निर्णय के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद ही मान्य होगा।
- लेखक शोध प्रक्रिया आधारित शोधपत्रों/शोधलेखों को 5 से 7 पृष्ठों (2000-3000 शब्दों) में Priyanka roman (APS), Kruti Dev-10 (size 16)/Times New roman (Size-14) में संस्कृत/अंग्रेजी/हिन्दी भाषा में टंकित कराकर सी.डी. (हार्ड कॉपी सहित)/ई–मेल के माध्यम से नाम, पता, मोबाइल नं. ई–मेल सहित भेजें।
- **शोधपत्र में लगभग 150 शब्दों के शोधसार एवं मुख्य शब्द सहित सन्दर्भ अन्त में होना चाहिए।**
- शोधपत्र में सन्दर्भ, लेखक, पुस्तक, व्याख्याकार का नाम, प्रकाशक, प्रकाशन का स्थान, प्रकाशन वर्ष और पेज संख्या आदि सहित होना चाहिए।

सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920

ई–संङ्केत : shodhnavneet@gmail.com

ISSN 2321-6581

9 772321 658000

अक्षर संयोजन एवं मुद्रक : **प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स**, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद